ॐ

ईशावास्योपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित



गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९२ से १९९७ तक ११,२५०
सं० २००० चौथा संस्करण ३,०००
सं० २००२ पाँचवाँ संस्करण ३०००

मूल्य ≡) तीन आना

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

नम्र निवेदन

वेदके शीर्षस्थानीय भागका नाम वेदान्त है। यह वेदान्त ही ब्रह्मविद्या है। ब्रह्मविद्या ही सर्वत्र समत्वका दर्शन कराती है, ब्रह्मविद्यासे ही अज्ञानकी ग्रन्थियाँ कटती हैं, ब्रह्मविद्यासे ही कर्म-व्यापार सुसंयत और चित्त अन्तर्मुखी होता है। ब्रह्मविद्यासे ही मिथ्या अनुभूतिका विनाश और परम सत्यकी उपलब्धि होती है। ब्रह्मविद्यामें ही एकात्मरसप्रत्ययसार अवाङ्मनसगोचर स्वयंप्रकाश विज्ञानस्वरूप चेतनानन्दघन रसैकघन ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। इस ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन वेदके जिस अत्युच्च शिरोभागमें है, उसीका नाम उपनिषद् है। इन्हीं उपनिषदोंके मन्त्रोंका समन्वय और इनकी मीमांसा भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रमें की है और इन्हीं उपनिषद्रूपी गौओंसे गोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने सुधी भोक्ताओंके लिये गीतामृतरूपी दुग्धका दोहन किया था। इसीलिये उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं और भारतके प्रायः सभी आचार्योंने इसी प्रस्थानत्रयीके प्रकाशसे सत्यका अन्वेषण किया है। और प्रायः सभीने इनपर अपने-अपने भाष्य लिखे हैं। अपने-अपने स्थानमें सभी आचार्योंके भाष्य उपादेय हैं, परन्तु अद्वैत वेदान्तका प्रतिपादन करनेवाले भाष्योंमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यका भाष्य सर्वोपरि माना जाता है। उपनिषदोंपर तो दूसरे आचार्योंके भाष्य हैं भी थोड़े ही। भगवान्की कृपासे आज कुछ उपनिषदोंके उसी शाङ्करभाष्यका भाषानुवाद प्रकाश करनेका सौभाग्य गीताप्रेसको प्राप्त हुआ है। आशा है ब्रह्मविद्याके जिज्ञासु अधिकारी पाठक इससे लाभ उठावेंगे।

प्रथम तो यह विषय ही इतना कठिन है, कि जो ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय गुरुके मुखसे श्रद्धापूर्वक सुनने और मनन करनेपर ही शुद्धान्तःकरण पुरुषकी समझमें आता है। फिर शाङ्करभाष्य भी कठिन है। अतएव इसके अनुवादमें जहाँ-जहाँ त्रुटियाँ रह गयी हों उन्हें विद्वान् पुरुष कृपा करके बतला देनेकी कृपा करेंगे तो अनुवादक और प्रकाशक कृतज्ञतापूर्वक अगले संस्करणमें यथासाध्य उनका संशोधन करनेकी चेष्टा करेंगे। अनुवादक महोदयने उपनिषदोंके शाङ्करभाष्यके अनुवादकी जगह अपना नाम प्रकाश करनेकी शील और संकोचवश आज्ञा नहीं दी, इसीलिये उनका नाम प्रकाशित नहीं किया गया है।

वास्तवमें ब्रह्मविद्या इस प्रकार प्रकाशित करनेकी वस्तु भी नहीं है। इसीलिये ऋषियोंने इसमें दोनों ओरसे अधिकारकी आवश्यकता बतलायी है। परन्तु समयके प्रभावसे प्रकाशन आवश्यक हो गया। बंगला और मराठी आदि भाषाओंमें कई अनुवाद हैं। परन्तु हिन्दीमें सरल अनुवाद कम मूल्यमें शायद ही मिलता है। इसीलिये गीताप्रेसने इसके प्रकाशनका यह प्रयत्न किया है। विद्वज्जन इसके लिये क्षमा करेंगे।

प्रकाशक

प्रस्तावना

यह बात संसारके प्रायः सभी विचारकोंको मान्य है कि मनुष्यको आत्यन्तिक शान्ति बाह्य भोगोंसे प्राप्त नहीं हो सकती। इसके लिये तो उसे किसी अनन्त और निर्बाध-सुखस्वरूप सत्ताकी ही शरण लेनी पड़ेगी। उस अनन्त सुखसमुद्रकी उपलब्धि ही संसारके समस्त दार्शनिकोंका ध्रुव लक्ष्य रहा है। उसका भिन्न-भिन्न प्रकारसे अनुभव करनेके कारण ही विभिन्न मतवादोंकी सृष्टि हुई है। संसारके उस एकमात्र मूलतत्त्वकी शोध अनादि कालसे होती आयी है। इस विषयमें सभी देशी और विदेशी विद्वान् सहमत हैं कि इसका निर्णय करनेवाले सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं। वेद अनादि हैं। वे कब रचे गये और कौन उनका रचयिता था—इसका आजतक कोई सन्तोषजनक निर्णय नहीं हो सका।

विषयकी दृष्टिसे वेदोंके तीन भाग हैं, जो तीन काण्ड कहलाते हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। विश्वके मूलतत्त्वका विचार ज्ञानकाण्डमें किया गया है; कर्म और उपासना उस तत्त्वको उपलब्ध करनेकी योग्यता प्रदान करते हैं, इसलिये वे साधनस्वरूप हैं और ज्ञान सिद्धान्त है। वेदके ज्ञानकाण्डका ही नाम उपनिषद् है। इन्हें वेदान्त या आम्नायमस्तक कहकर भी पुकारा जाता है। अतः यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि ब्रह्मविद्याके आदिस्रोत उपनिषद् ही हैं।

उपनिषदोंका महत्त्व वैदिकमतावलम्बियोंको ही मान्य हो—ऐसी बात नहीं है। न जाने कितने विधर्मी और विदेशी महानुभाव भी इनकी गम्भीरता, मधुरता और तात्त्विकतापर मुग्ध हो चुके हैं। मंसूर, सर्मद, फैज़ी, बुल्लाशाह और दाराशिकोह आदि महानुभावोंने इस्लामधर्मावलम्बी होकर भी औपनिषद सिद्धान्तको ही अपने जीवनका सर्वस्व बनाया था। मंसूर और सर्मदने तो सिर देकर भी इस सिद्धान्तको छोड़ना पसंद नहीं किया। पश्चिमीय

विद्वानोंमें भी मैक्समूलर, शोपेनहर और गोल्डस्टकर आदि ऐसे अनेकों महानुभाव हो गये हैं, जिन्होंने उपनिषदोंके महत्त्वको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। मैक्समूलर साहब (Prof. Max Muller) कहते हैं—

'The Upanishads are the .....sources of......the Vedant philosophy, a system in which human speculation seems to me to have reached its very acme.'

अर्थात् उपनिषद् वेदान्तदर्शनके आदिस्रोत हैं और ये ऐसे निबन्ध हैं जिनमें मुझे मानवी भावना अपने उच्चतम शिखरपर पहुँच गयी मालूम होती है।

शोपेनहर (Schopenhauer) का कथन है—

'In the world there is no study .....so beneficial and so elevating as that of Upanishads......(they) are a product of the highest wisdom......it is destined sooner or later to become the faith of the people.'

अर्थात् सारे संसारमें ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है जो उपनिषदोंके समान उपयोगी और उन्नतिकी ओर ले जानेवाला हो। वे उच्चतम बुद्धिकी उपज हैं। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है कि यही जनताका धर्म होगा।

डाक्टर गोल्डस्टकर (Dr. Goldstuker) कहते हैं—

'The Vedant is the sublimest machinery set in to motion by oriental thought.'

अर्थात् वेदान्त सबसे ऊँचे दर्जेका यन्त्र है, जिसे पूर्वीय विचारधाराने प्रवृत्त किया है।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदोंका महत्त्व अन्य मतावलम्बियों एवं विदेशियोंको भी कम मान्य नहीं है। वास्तवमें ब्रह्मविद्याकी ऐसी ही महिमा है। जिसने इस अमृतका पान किया है वह निहाल हो गया; उसे न कुछ कर्तव्य है और न कुछ प्राप्तव्य।

* यहाँ जो पश्चिमीय विद्वानोंके मत उद्धृत किये हैं वे 'कल्याण' वर्ष ७ की आठवीं संख्याके 'ब्रह्मविद्या-रहस्य' नामक लेखसे लिये हैं।

ब्रह्माकार वृत्तिका कितना महत्त्व है इसका वर्णन करते हुए वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावलीकार उद्धृत करते हैं—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मिंल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

अर्थात् 'जिसका मन उस अपार सच्चिदानन्दसमुद्र परब्रह्ममें लीन हो गया है उसका कुल पवित्र हो जाता है, माता कृतकृत्य हो जाती है और उसके कारण पृथ्वी भी पुण्यवती हो जाती है। ब्रह्मवेत्ताकी दृष्टिमें सारा संसार सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है, असद् जड और दुःख उसे प्रतीत ही नहीं होता। उसकी दृष्टिमें तो द्रष्टा, दृश्य और दृष्टिका भी भेद नहीं रहता, वह तो एक निश्चल, निर्बाध और निष्कल चिदानन्दघन सत्तामात्र रह जाता है। उसके द्वारा जो कुछ कार्य होते हैं वह दूसरोंकी ही दृष्टिमें होते हैं, उसकी दृष्टिमें तो न कोई कार्य है और न उसका करनेवाला ही। सुवर्णके आभूषणादि भेद बहिर्मुख पुरुषोंकी दृष्टिमें होते हैं, सुवर्णके तात्त्विक स्वरूपको देखनेवाला उन्हें कभी नहीं देखता। बाह्यदर्शी लोग कहते हैं कि जलमें तरङ्गें उठती हैं किन्तु भला जलने उन्हें कब देखा है? मृत्तिकासे बननेवाले घट-शरावादि व्यवहारी लोगोंकी दृष्टिमें ही बनते हैं। तत्त्वदर्शीकी दृष्टिमें तो वह आगे-पीछे और बीचमें भी केवल मृन्मात्र ही है। अस्तु।

उपनिषदें साक्षात् कामधेनु हैं। ब्रह्मसूत्रोंकी रचना भी इन्हींके वाक्यों और शब्दोंकी सङ्गति लगानेके लिये हुई है तथा श्रीमद्भगवद्गीता भी गोपालनन्दनद्वारा दुहा हुआ इन्हींका दूध है। भारतवर्षमें जितने आस्तिक सम्प्रदाय हैं उन सबके आधार ये ही तीन ग्रन्थरत्न हैं। ये प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं। प्रायः सभी सम्प्रदायोंके आचार्योंने इनकी विवेचनात्मक व्याख्या लिखकर अपने मत स्थापित किये हैं। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शिवाद्वैत आदि सभी सम्प्रदायोंकी आधारशिला ये ही ग्रन्थरत्न हैं। अपने-अपने विचारानुसार आचार्योंने उनमें अपने ही सिद्धान्तकी झाँकी की है। अद्वैतवादके प्रधान आचार्य भगवान् शङ्कराचार्य हैं। उनके भाष्यकी गम्भीरता, विद्वत्ता, स्फुटता और प्रामाणिकता सभीने स्वीकार की है। उनकी प्रसन्नगम्भीर लेखनीका वास्तविक रसास्वाद तो वे ही कर सकते हैं जो सब प्रकार साधनसम्पन्न, अद्वैतनिष्ठ तथा संस्कृत वाङ्मयके प्रौढ विद्वान्

हैं । तथापि जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है उनमेंसे बहुत-से महानुभाव, जो उनके अबाध्य सिद्धान्तपर मुग्ध होकर उनके चरणोंपर निछावर हो चुके हैं, उनकी वाणीका भावमात्र जानने-के लिये निरन्तर उत्सुक रहते हैं । उनके साथ स्वयं भी उस भावका अवगाहन करनेके लिये ही मैंने भगवान्के उपनिषद्भाष्यका भावार्थ लिखनेका दुःसाहस किया है। यद्यपि मैं किसी प्रकार इस महान् कार्यको हाथमें लेनेकी योग्यता नहीं रखता तो भी जिसकी इच्छासे सम्पूर्ण प्राणी अहर्निश भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगे रहते हैं उस सर्वान्तर्यामी जगन्नाट्यसूत्रधरने ही मुझे भी इसमें जोड़ दिया । मेरी इस चपलतासे यदि कुछ महानुभावोंका मनोरञ्जन हो सका तो मैं इस प्रयासको सफल समझूँगा ।

इस समय प्रायः एक सौ बारह उपनिषदें प्रसिद्ध हैं; परन्तु भगवान् शङ्कराचार्य तथा अन्य आचार्योंने भी अधिकतर आरम्भकी दस-बारह उपनिषदोंपर ही भाष्य लिखे हैं । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अन्य उपनिषदें अप्रामाणिक हैं; क्योंकि उनमें-से बहुत-सी उपनिषदोंके वाक्य स्वयं भगवान्ने भी अपने भाष्योंमें उद्धृत किये हैं । इससे उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता स्पष्टतया सिद्ध होती है ।

उपनिषदोंमें यह सबसे पहली ईशावास्योपनिषद् है । यह उपनिषद् शुक्लयजुःसंहिताका—जिसे वाजसनेयीसंहिता भी कहते हैं—चालीसवाँ अध्याय है । इससे पहले उनतालीस अध्यायोंमें कर्म-काण्डका निरूपण है । यह उस काण्डका अन्तिम अध्याय है और इसमें ज्ञानकाण्डका निरूपण किया गया है । इसका प्रथम मन्त्र 'ईशा वास्यम्' इत्यादि होनेके कारण इस उपनिषद्का नाम भी 'ईशावास्य' हो गया है । आकारमें बहुत छोटी होनेपर भी इसका महत्त्व एवं प्रामाण्य सर्वसम्मत है । भगवान् हमें इसका तात्पर्य समझनेकी बुद्धि प्रदान करें, जिससे हम सच्चे सुखकी उपलब्धि कर सकें ।

अनुवादक



* श्रीगुरवे नमः *

भगवन् !

लीजिये ! यह उपनिषद्भाष्यका अनुवाद आपकी ही बाह्य और आन्तरिक प्रेरणाका फल है; अतः इसे आपहीके परम पवित्र करकमलोंमें सादर समर्पित करता हूँ।

आपका ही

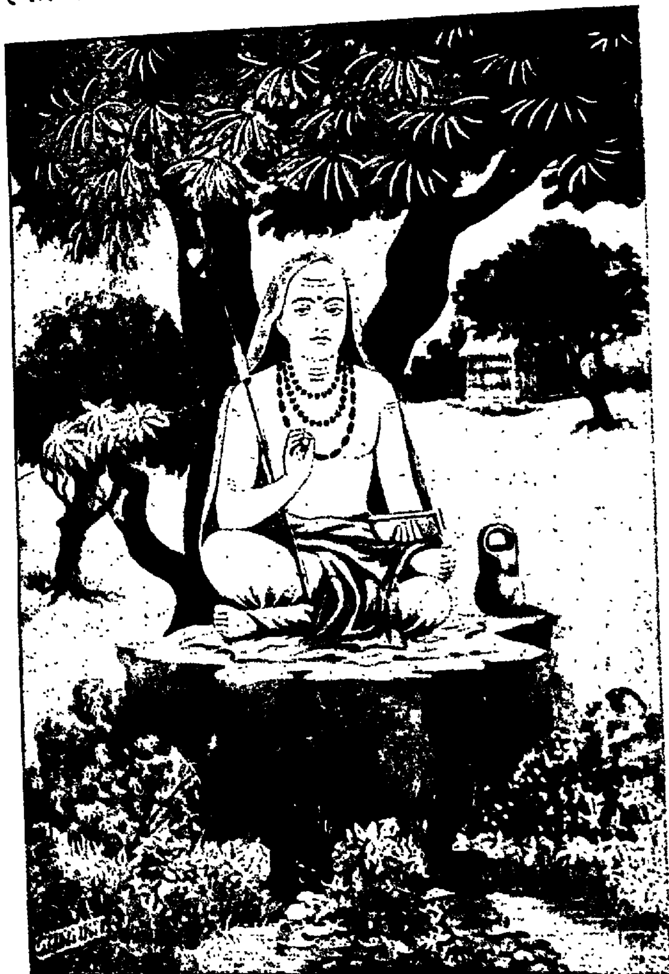
एक चरणरजानुचर

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय





भगवान् श्रीशङ्कराचार्य

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

ईशावास्योपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

ईशिता सर्वभूतानां सर्वभूतमयश्च यः ।
ईशावास्येन सम्बोध्यमीश्वरं तं नमाम्यहम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ वह (परब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म) भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्णसे पूर्णकी ही उत्पत्ति होती है । तथा [प्रलयकालमें] पूर्ण [कार्यब्रह्म] का पूर्णत्व लेकर (अपनेमें लीन करके) पूर्ण [परब्रह्म] ही बच रहता है । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

सम्बन्ध-भाष्य

ईशादि-मन्त्राणां विनियोगः

ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः । तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात्। याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम् । तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः ।

'ईशा वास्यम्' आदि मन्त्रोंका कर्ममें विनियोग नहीं है; क्योंकि वे आत्माके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले हैं जो कि कर्मका शेष नहीं है । आत्माका यथार्थ स्वरूप शुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व और सर्वगतत्व आदि है जो आगे कहा जानेवाला है । इसका कर्मसे विरोध है; अतः इन मन्त्रोंका कर्ममें विनियोग न होना ठीक ही है ।

न ह्येवंलक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात् । सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैव उपक्षयात् । गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात् । तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय

आत्माका ऐसे लक्षणोंवाला यथार्थ स्वरूप उत्पाद्य[१], विकार्य[२], आप्य[३] और संस्कार्य[४] अथवा कर्ता-भोक्तारूप नहीं है, जिससे कि वह कर्मका शेष हो सके । सम्पूर्ण उपनिषदोंकी परिसमाप्ति आत्माके यथार्थ स्वरूपका निरूपण करनेमें ही होती है तथा गीता और मोक्षधर्मोंका भी इसीमें तात्पर्य है । अतः आत्माके सामान्य लोगोंकी बुद्धिसे सिद्ध होनेवाले अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा अशुद्धत्व और पापमयत्वको

१–उत्पन्न किया जानेयोग्य, जैसे पुरोडाश आदि । २–विकारयोग्य, जैसे सोम आदि । ३–बलवान् करने अथवा प्राप्त करनेयोग्य, जैसे मन्त्रादि । ४–संस्कारयोग्य, जैसे व्रीहि आदि कर्मके शेषभूत पदार्थोंमें इन धर्मोंका रहना आवश्यक है । आत्मामें ऐसा कोई धर्म नहीं है । इसलिये वह कर्मशेष नहीं हो सकता ।

लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि ।

लेकर ही कर्मोंका विधान किया गया है ।

कर्मणि कस्य अधिकारः

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनादृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति ।

कर्माधिकारके ज्ञाताओंका भी यही कथन है कि जो पुरुष ब्रह्मतेज आदि दृष्ट और स्वर्ग आदि अदृष्ट कर्मफलोंका इच्छुक है और 'मैं द्विजाति हूँ तथा कर्मके अनधिकार-सूचक कानेपन, कुबड़ेपन आदि धर्मोंसे युक्त नहीं हूँ' ऐसा अपनेको मानता है वही कर्मका अधिकारी है ।

अनुबन्ध-चतुष्टयम्

तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेन आत्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्ति । इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान्मन्त्रान्संक्षेपतो व्याख्यास्यामः ।

अतः ये मन्त्र आत्माके यथार्थ स्वरूपका प्रकाश करके आत्मसम्बन्धी स्वाभाविक अज्ञानको निवृत्त करते हुए संसारके शोक-मोहादि धर्मोंके विच्छेदके साधन-स्वरूप आत्मैकत्वादि विज्ञानको ही उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार जिनके [मुमुक्षु-रूप] अधिकारी, [आत्मैक्यरूप] विषय, [प्रतिपाद्य-प्रतिपादकरूप] सम्बन्ध और [अज्ञाननिवृत्ति तथा परमानन्द-प्राप्तिरूप] प्रयोजनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, उन मन्त्रोंकी अब हम संक्षेपसे व्याख्या करेंगे ।

सर्वत्र भगवद्दृष्टिका उपदेश

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

जगत्में जो कुछ स्थावर-जङ्गम संसार है वह सब ईश्वरके द्वारा आच्छादनीय है [अर्थात् उसे भगवत्स्वरूप अनुभव करना चाहिये] । उसके त्याग-भावसे तू अपना पालन कर; किसीके धनकी इच्छा न कर ॥ १ ॥

ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा । ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य । स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया तेन स्वेन रूपेणात्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम् ।

किम् ? इदं सर्वं यत्किञ्च यत्किञ्चिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनात्मना ईशेन प्रत्यगात्मतयाहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना ।

जो ईशन (शासन) करे उसे ईट् कहते हैं, उसका तृतीयान्त रूप 'ईशा' है । सबका ईशन करनेवाला परमेश्वर परमात्मा है । वही सब जीवोंका आत्मा होकर अन्तर्यामि-रूपसे सबका ईशन करता है । उस अपने स्वरूपभूत आत्मा ईशसे सब वास्य—आच्छादन करने-योग्य है ।

क्या [आच्छादन करनेयोग्य है] ? यह सब जो कुछ जगती अर्थात् पृथिवीमें जगत् (स्थावर-जङ्गम प्राणि-वर्ग) है वह सब अपने आत्मा ईश्वरसे—अन्तर्यामिरूपसे यह सब कुछ मैं ही हूँ—ऐसा जानकर अपने परमार्थसत्यस्वरूप परमात्मा-से यह सम्पूर्ण मिथ्याभूत चराचर आच्छादन करनेयोग्य है ।

यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेन आच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन । तद्वदेव हि स्वात्मनि अध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्याम्, जगत्यामिति उपलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात् ।

जिस प्रकार चन्दन और अगरु आदिकी, जल आदिके सम्बन्धसे गीलेपन आदिके कारण उत्पन्न हुई औपाधिक दुर्गन्धि उन (चन्दनादि) के स्वरूपको घिसनेसे उनके पारमार्थिक गन्धसे आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार अपने आत्मामें आरोपित स्वाभाविक कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि लक्षणोंवाला द्वैतरूप जगत् जगतीमें यानी पृथिवीमें—'जगत्याम्' यह शब्द [स्थावर-जङ्गम सभीका] उपलक्षण करानेवाला होनेसे—इस परमार्थसत्यस्वरूप आत्माकी भावनासे नामरूप और कर्ममय सारा ही विकारजात परित्यक्त हो जाता है ।

आत्मनिष्ठस्य त्याग एवं अधिकारः

एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः । न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वा आत्मसम्बन्धिताया अभावात् आत्मानं पालयति अतस्त्यागेन इत्ययमेव वेदार्थः—भुञ्जीथाः पालयेथाः ।

इस प्रकार जो, ईश्वर ही चराचर जगत्का आत्मा है—ऐसी भावनासे युक्त है, उसका पुत्रादि तीनों एषणाओंके त्यागमें ही अधिकार है—कर्ममें नहीं । उसके त्यक्त अर्थात् त्यागसे [आत्माका पालन कर] । त्यागा हुआ अथवा मरा हुआ पुत्र या सेवक, अपने सम्बन्धका अभाव हो जानेके कारण अपना पालन नहीं करता; अतः त्यागसे—यही इस श्रुतिका अर्थ है—भोग यानी पालन कर ।

एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धनविषयाम् । कस्यस्विद्धनं कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः । स्विदित्यनर्थको निपातः ।

इस प्रकार एषणाओंसे रहित होकर तू गर्द्ध अर्थात् धनविषयक आकाङ्क्षा न कर । किसीके धनकी अर्थात् अपने या पराये किसीके भी धनकी इच्छा न कर । यहाँ 'स्वित्' यह अर्थरहित निपात है ।

अथवा मा गृधः । कस्मात् ? कस्यस्विद्धनमित्याक्षेपार्थो न कस्यचिद्धनमस्ति यद्गृध्येत । आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः ॥१॥

अथवा आकाङ्क्षा न कर, क्योंकि धन भला किसका है ? इस प्रकार इसका आक्षेपसूचक अर्थ भी हो सकता है अर्थात् धन किसीका भी नहीं है जो उसकी इच्छा की जाय । यह सब आत्मा ही है—इस प्रकार ईश्वरभावनासे यह सभी परित्यक्त हो जाता है । अतः यह सब आत्मासे उत्पन्न हुआ तथा सब कुछ आत्मरूप ही होनेके कारण मिथ्यापदार्थविषयक आकाङ्क्षा न कर—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥१॥

मनुष्यत्वाभिमानीके लिये कर्मविधि

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनात्मज्ञाननिष्ठतयात्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः । अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय अशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः—

इस प्रकार उपर्युक्त श्रुतिका यही तात्पर्य है कि आत्मवेत्ताको पुत्रादि एषणात्रयका त्याग करते हुए ज्ञाननिष्ठ रहकर ही आत्माकी रक्षा करनी चाहिये । अब जो आत्मतत्त्वका ग्रहण करनेमें असमर्थ दूसरा अनात्मज्ञ पुरुष है उसके लिये यह दूसरा मन्त्र उपदेश करता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

इस लोकमें कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे । इस प्रकार मनुष्यत्वका अभिमान रखनेवाले तेरे लिये इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे [अशुभ] कर्मका लेप न हो ॥ २ ॥

कुर्वन्नेव इह निवर्तयन्नेव कर्माण्यग्निहोत्रादीनि जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेच्छतं शतसङ्ख्याकाः समाः संवत्सरान् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम् । तथा च प्राप्तानुवादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत् कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्विधीयते ।

इस लोकमें अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए ही सौतक अर्थात् सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करे । पुरुषकी बड़ी-से-बड़ी आयु इतनी ही बतलायी गयी है । अतः उस प्राप्त हुई आयुका अनुवाद करते हुए यह विधान किया है कि यदि सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे तो कर्म करते हुए ही जीना चाहे ।

एवमेवम्प्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्राभिमानिनीत एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात्प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः ।

इस तरह, इस प्रकार जीनेकी इच्छा करनेवाले तुझ मनुष्य—मनुष्यत्वमात्रका अभिमान करनेवालेके लिये इस अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए ही [आयु बितानेके] वर्तमान प्रकारसे भिन्न और कोई ऐसा प्रकार नहीं है जिससे अशुभ कर्मका लेप न हो अर्थात् जिससे वह पुरुष कर्मसे

अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेव जिजीविषेत् ।

लिप्त न हो । अतः अग्निहोत्र आदि शास्त्रविहित कर्मोंको करते हुए ही जीनेकी इच्छा करे ।

ज्ञानकर्म-समुच्चय-खण्डनम्

कथं पुनरिदमवगम्यते पूर्वेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति ।

पूर्व०—यह कैसे जाना गया कि पूर्व मन्त्रसे संन्यासीकी ज्ञाननिष्ठाका तथा द्वितीय मन्त्रसे संन्यासमें असमर्थ पुरुषकी कर्मनिष्ठाका वर्णन किया गया है ?

उच्यते; ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् ? इहाप्युक्तं 'यो हि जिजीविषेत् स कर्म कुर्वन्' 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' इति च । 'न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियादिति च पदम्; ततो न पुनरियात्' इति संन्यासशासनात् । उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति ।

सिद्धान्ती—कहते हैं, क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि, जैसा पहले (सम्बन्ध-भाष्यमें) कह चुके हैं, ज्ञान और कर्मका विरोध पर्वतके समान अविचल है । यहाँ भी 'जो जीनेकी इच्छा करे वह कर्म करते हुए ही [जीना चाहे]' तथा 'यह सब ईश्वरसे आच्छादन करनेयोग्य है' 'उस (चराचर जगत्) के त्यागद्वारा आत्माकी रक्षा कर' 'किसीके धनकी इच्छा न कर' इत्यादि वाक्योंसे [कर्मी और संन्यासीकी निष्ठाओंका भेद ही] निरूपण किया है । तथा 'जीवन या मरणका लोभ न करे, वनको चला जाय—यही वेदकी मर्यादा है । और फिर वहाँसे घर न लौटे' इस वाक्यसे भी [ज्ञाननिष्ठके लिये] संन्यासका ही विधान किया है । आगे इन दोनों निष्ठाओंके फलका भेद भी बतलायेंगे ।

इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्चोत्तरेण । निवृत्तिमार्गेण एषणात्रयस्य त्यागः । तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति । "न्यास एवात्यरेचयत्" इति च तैत्तिरीयके ।

"द्वाविमावथ पन्थानौ
यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो
निवृत्तश्च विभावितः ॥"
(महा० शा० २४१ । ६)

इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता । विभागश्चानयोः दर्शयिष्यामः ॥ २ ॥

ये दोनों ही मार्ग सृष्टिके आरम्भसे परम्परागत हैं। इनमें पहले कर्ममार्ग है और पीछे संन्यास। [संन्यासरूप] निवृत्तिमार्गसे तीनों एषणाओंका त्याग किया जाता है। इन दोनोंमें संन्यासमार्ग ही उत्कर्ष प्राप्त करता है। तैत्तिरीय श्रुतिमें भी कहा है कि "संन्यास ही उत्कृष्टताको प्राप्त हुआ।" वेदाचार्य भगवान् व्यासने भी बहुत सोच-विचारकर ही अपने पुत्रसे यह निश्चित बात कही है—"जिनमें वेद प्रतिष्ठित हैं ऐसे ये दो ही मार्ग हैं—एक तो प्रवृत्तिलक्षण धर्ममार्ग और दूसरा अच्छी तरह भावना किया हुआ निवृत्तिमार्ग।" इन दोनोंका विभाग हम आगे दिखलायेंगे ।२।

अज्ञानीकी निन्दा

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—

अब अज्ञानीकी निन्दा करनेके लिये यह [तीसरा] मन्त्र आरम्भ किया जाता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

वे असुरसम्बन्धी लोक आत्माके अदर्शनरूप अज्ञानसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं वे मरनेके अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषाञ्च स्वभूता लोका असुर्या नाम। नामशब्दोऽनर्थको निपातः।

ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि। अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसावृता आच्छादिताः तान्स्थावरान्तान्प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।

आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः येऽविद्वांसः। कथं त आत्मानं नित्यं हिंसन्ति। अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनः तिरस्करणात्। विद्यमानस्य आत्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनलक्षणं तद्धतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृताविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते। तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते॥ ३॥

अद्वय परमात्मभावकी अपेक्षासे देवता आदि भी असुर ही हैं। उनके सम्पत्ति-स्वरूप लोक 'असुर्य' हैं। 'नाम' शब्द अर्थहीन निपात है।

जिनमें कर्मफलोंका लोकन—दर्शन यानी भोग होता है वे लोक अर्थात् जन्म (योनियाँ) अन्ध—अदर्शनात्मक तम यानी अज्ञानसे आच्छादित हैं। वे इस शरीरको छोड़कर अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार उन [ब्रह्मासे लेकर] स्थावरपर्यन्त योनियोंमें ही जाते हैं।

जो कोई आत्माका घात (नाश) करते हैं वे आत्मघाती हैं। वे लोग कौन हैं? जो अज्ञानी हैं। वे सर्वदा अपने आत्माकी किस प्रकार हिंसा करते हैं? अविद्यारूप दोषके कारण अपने नित्यसिद्ध आत्माका तिरस्कार करनेसे [अज्ञानी जीवोंकी दृष्टिमें] नित्य विद्यमान आत्माका अजरामरत्वादिज्ञानरूप कार्य यानी फल मरे हुएके समान तिरोभूत रहता है, इसलिये प्राकृत अज्ञानीजन आत्मघाती कहे जाते हैं। इस आत्मघातरूप दोषके कारण ही वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं॥३॥

आत्माका स्वरूप

यस्यात्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति तद्विपर्ययेण विद्वांसो जना मुच्यन्ते ते नात्महनः तत् कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते—

जिस आत्माका हनन करनेसे अज्ञानीलोग जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त होते हैं और उसके विपरीत ज्ञानीलोग मुक्त हो जाते हैं—वे आत्मघाती नहीं होते—वह आत्मतत्त्व कैसा है ? सो बतलाया जाता है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूपसे विचलित न होनेवाला, एक तथा मनसे भी तीव्र गतिवाला है। इसे इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकीं ? क्योंकि यह उन सबसे पहले (आगे) गया हुआ (विद्यमान) है। वह स्थिर होनेपर भी अन्य सब गतिशीलोंको अतिक्रमण कर जाता है। उसके रहते हुए ही [अर्थात् उसकी सत्तामें ही] वायु समस्त प्राणियोंके प्रवृत्तिरूप कर्मोंका विभाग करता है ॥ ४ ॥

अनेजत् न एजत् । एजृ कम्पने, कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः । तच्चैकं सर्वभूतेषु मनसः सङ्कल्पादिलक्षणाद् जवीयो जववत्तरम् ।

जो चलनेवाला न हो उसे 'अनेजत्' कहते हैं; क्योंकि 'एजृ कम्पने' [इस धातुसूत्रसे] 'एज्' धातुका अर्थ कम्पन है। इस प्रकार [वह आत्मतत्त्व] कम्पन—चलन अर्थात् अपनी अवस्थासे च्युत होनेसे रहित है यानी सदा एकरूप है। वह एक ही सब प्राणियोंमें वर्तमान है तथा सङ्कल्पादिरूप मनसे भी जवीय—अधिक वेगवान् है।

कथं विरुद्धमुच्यते ध्रुवं निश्चलमिदं मनसो जवीय इति च ।

नैष दोषः । निरुपाध्युपाधिमत्त्वेनोपपत्तेः । तत्र निरुपाधिकेन स्वेन रूपेणोच्यते अनेजदेकमिति । मनसोऽन्तःकरणस्य सङ्कल्पविकल्पलक्षणस्योपाधेरनुवर्त्तनाद् इह देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरगमनं सङ्कल्पेन क्षणमात्राद्भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम् । तस्मिन् मनसि ब्रह्मलोकादीन्द्रुतं गच्छति सति प्रथमं प्राप्त इवात्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह ।

विरोध-परिहारः

नैनद्देवा द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाण्येतत्प्रकृतमात्मतत्त्वं

पूर्व०—यह विरुद्ध बात कैसे कही जाती है कि वह आत्मतत्त्व ध्रुव एवं निश्चल है तथा मनसे भी अधिक वेगवान् है ?

सिद्धान्ती—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि निरुपाधिक और सोपाधिक-रूपसे यह विरुद्ध कथन भी बन सकता है । उस अवस्थामें अपने निरुपाधिकरूपसे तो 'अविचल' और 'एक'—ऐसा कहा जाता है तथा अन्तःकरणकी मनरूप सङ्कल्प-विकल्पात्मिका उपाधिका अनुवर्तन करनेके कारण [मनसे भी अधिक वेगवान् कहा गया है] इस लोक-में देहस्थ मनका ब्रह्मलोक आदि दूर देशोंमें सङ्कल्परूपसे एक क्षणमें ही गमन हो जाता है; अतः मनका अत्यन्त वेगवत्त्व तो लोकमें प्रसिद्ध ही है । किन्तु उस मनके ब्रह्मलोकादि-में बड़ी शीघ्रतासे पहुँचनेपर वहाँ आत्मचैतन्यका अवभास पहलेहीसे पहुँचा हुआ-सा अनुभव किया जाता है । इसीसे 'वह मनसे भी अधिक वेगवान् है' ऐसा श्रुति कहती है ।

जिसका प्रकरण चल रहा है ऐसे इस आत्मतत्त्वको देवगण भी प्राप्त अर्थात् उपलब्ध नहीं कर सके ।

नाप्नुवन्न प्राप्नुवन्तः । तेभ्यो मनो जवीयः मनोव्यापार-व्यवहितत्वाद् आभासमात्रमपि आत्मनो नैव देवानां विषयी-भवति ।

विषयोंका द्योतन (प्रकाश) करनेके कारण चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही 'देव' हैं । उन इन्द्रियोंसे तो मन ही वेगवान् है; अतः [आत्मा तथा इन्द्रियोंके बीचमें] मनोव्यापारका व्यवधान रहनेके कारण आत्माका तो आभासमात्र भी इन्द्रियोंका विषय नहीं होता ।

यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्व-मर्षत् पूर्वमेव गतं व्योम-वद्व्यापित्वात् सर्वव्यापि तदा-त्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रिय-मेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसार-विक्रिया अनुभवतीत्यविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येतदाह ।

क्योंकि आकाशके समान व्यापक होनेके कारण वह वेगवान् मनसे भी पहले ही गया हुआ है । वह सर्व-व्यापी आत्मतत्त्व अपने निरुपाधिक स्वरूपसे सम्पूर्ण संसार-धर्मोंसे रहित तथा अविक्रिय होकर ही उपाधिकृत सम्पूर्ण सांसारिक विकारोंको अनुभव करता है और अविवेकी मूढ़ पुरुषोंको प्रत्येक शरीरमें अनेक-सा प्रतीत होता है इसीसे श्रुतिने ऐसा कहा है ।

तद्धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्या-नात्मविलक्षणान्मनोवागिन्द्रिय-प्रभृतीनत्येति अतीत्य गच्छति इव । इवार्थं स्वयमेव दर्शयति तिष्ठदिति; स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः ।

वह दौड़ते अर्थात् तेजीसे चलते हुए, आत्मासे भिन्न अन्य मन, वाणी और इन्द्रिय आदिका अतिक्रमण कर जाता है—मानो उन्हें पार करके चला जाता है । 'इव' का भावार्थ श्रुति 'तिष्ठत्' (ठहरनेवाला) इस पदसे स्वयं ही दिखला रही है । अर्थात् स्वयं अधिकारी रहकर ही दूसरोंको पार कर जाता है ।

तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत् क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा, अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि, अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति विभजति इत्यर्थः।

धारयतीति वा। "भीषास्माद्वातः पवते" (तै० उ० २।८।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सर्वा हि कार्यकरणादिविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वास्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

उस नित्यचैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वके वर्तमान रहते हुए ही, जो मातरि अर्थात् अन्तरिक्षमें सञ्चार-गमन करता है वह मातरिश्वा—वायु, जो समस्त प्राणोंका पोषक और क्रियारूप है, जिसके अधीन ये सारे शरीर और इन्द्रिय हैं तथा जिसमें ये सब ओतप्रोत हैं और जो सूत्रसंज्ञक तत्त्व निखिल जगत्का विधाता है वह मातरिश्वा अप् अर्थात् प्राणियोंके चेष्टारूप कर्म यानी अग्नि, सूर्य और मेघ आदिके ज्वलन-दहन, प्रकाशन एवं वर्षारम्भादि कर्म विभक्त करता है। ऐसा इसका भावार्थ है।

अथवा "इसके भयसे वायु चलता है" इत्यादि [भाववाली] श्रुतियोंके अनुसार 'दधाति'का अर्थ 'धारण करता है' ऐसा जानो। क्योंकि शरीर और इन्द्रिय आदि सभी विकार सबके अधिष्ठानस्वरूप नित्य चैतन्य आत्मतत्त्वके विद्यमान रहने ही होते हैं ॥ ४ ॥

न मन्त्राणां जामितास्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह—

मन्त्रोंको आलस नहीं होता; अतः पहले मन्त्रद्वारा कहे हुए अर्थको ही फिर कहते हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

वह आत्मतत्त्व चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्तर्गत है और वही इस सबके बाहर भी है ॥ ५ ॥

तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सत् चलतीवेत्यर्थः। किञ्च तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वात् दूर इव। तद् उ अन्तिके इतिच्छेदः। तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च। तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य। "य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ० उ० ३।४।१) इति श्रुतेः। अस्य सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्य अस्य बाह्यतो व्यापकत्वादाकाशवन्निरतिशयसूक्ष्मत्वाद् अन्तः। "प्रज्ञानघन एव" (बृ० उ० ४।५।१३) इति च शासनान्निरन्तरं च ॥ ५ ॥

जिसका प्रकरण है वह आत्मतत्त्व एजन करता—चलता है, वही स्वयं नहीं भी चलता, अर्थात् स्वयं अचल रहकर ही चलता हुआ-सा जान पड़ता है। यही नहीं, वह दूर भी है; अज्ञानियोंको सैकड़ों-करोड़ वर्षोंमें भी अप्राप्य होनेके कारण दूर-जैसा है। ['तद्वन्तिके'का] तद् उ अन्तिके—ऐसा पदच्छेद करना चाहिये। वही अन्तिक—अत्यन्त समीप भी है अर्थात् केवल दूर ही नहीं, विद्वानोंका आत्मा होनेके कारण समीप भी है। वह इस सबके अन्तर यानी भीतर भी है जैसा कि "जो आत्मा सर्वान्तर है" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है। आकाशके समान व्यापक होनेके कारण वह इस नाम-रूप और क्रियात्मक सम्पूर्ण जगत्के बाहर तथा सूक्ष्मरूप होनेसे इसके भीतर भी है। और श्रुतिके "प्रज्ञानघन ही है" इस कथनके अनुसार वह निरन्तर (बाहर-भीतरके भेदको त्याग कर सर्वत्र) ही है ॥ ५ ॥

अभेददर्शीकी स्थिति

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

जो [साधक] सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें ही देखता है और समस्त भूतोंमें भी आत्माको ही देखता है वह इस [सार्वात्म्यदर्शन] के कारण ही किसीसे घृणा नहीं करता॥ ६॥

यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि आत्मन्येवानुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः, सर्वभूतेषु च तेष्वेव चात्मानं तेषाम् अपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन यथास्य देहस्य कार्यकरणसङ्घातस्यात्मा अहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स ततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति।

जो परिव्राट् मुमुक्षु अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें ही देखता है अर्थात् उन्हें आत्मासे पृथक् नहीं देखता, तथा उन सम्पूर्ण भूतोंमें भी आत्माको देखता है अर्थात् उन भूतोंके आत्माको भी अपना ही आत्मा जानता है यानी यह समझता है कि जिस प्रकार मैं इस देहके कार्य (भूत) और करण (इन्द्रिय)-संघातका आत्मा और इसकी समस्त प्रतीतियोंका साक्षी, चेतयिता, केवल और निर्गुण हूँ उसी प्रकार अपने इसी रूपसे अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा भी मैं ही हूँ। इस प्रकार जो सब भूतोंमें अपने निर्विशेष आत्मस्वरूपको ही देखता है वह उस आत्म-दर्शनके कारण ही किसीसे जुगुप्सा यानी घृणा नहीं करता।

प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम् । सर्वा हि घृणात्मनोऽन्यद्दुष्टं पश्यतो भवति, आत्मानमेवात्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानिमित्तम् अर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव । ततो न विजुगुप्सत इति ॥ ६ ॥

यह प्राप्त वस्तुका ही अनुवाद है । सभी प्रकारकी घृणा अपनेसे भिन्न किसी दूषित पदार्थको देखनेवाले पुरुषको ही होती है, जो निरन्तर अपने अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूपको ही देखनेवाला है उसकी दृष्टिमें घृणाका निमित्तभूत कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं; यह बात स्वतः प्राप्त हो जाती है । इसीलिये वह किसीसे घृणा नहीं करता ॥ ६ ॥

इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह—

इसी बातको दूसरा मन्त्र भी कहता है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

जिस समय ज्ञानी पुरुषके लिये सब भूत आत्मा ही हो गये उस समय एकत्व देखनेवाले उस विद्वान्को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ? ॥ ७ ॥

यस्मिन्काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूद् आत्मैव संवृत्तः परमार्थवस्तु विजानतः तत्र तस्मिन्काले तत्रात्मनि वा को मोहः कः शोकः ।

जिस समय अथवा जिस पूर्वोक्त आत्मस्वरूपमें परमार्थतत्त्वको जाननेवाले पुरुषकी दृष्टिमें वे ही सब भूत परमार्थ आत्मस्वरूपके दर्शनसे आत्मा ही हो गये, अर्थात् आत्मभावको ही प्राप्त हो गये, उस समय अथवा उस आत्मामें क्या मोह और क्या शोक रह सकता है ?

शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजम् अजानतो भवति । न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः ।

को मोहः कः शोक इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेण असम्भवप्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ॥ ७ ॥

शोक और मोह तो कामना और कर्मके बीजको न जाननेवालेको ही हुआ करते हैं, जो आकाशके समान आत्माका विशुद्ध एकत्व देखनेवाला है उसको नहीं होते ।

'क्या मोह और क्या शोक ?' इस प्रकार अविद्याके कार्यस्वरूप शोक और मोहकी आक्षेपरूपसे असम्भवता दिखलाकर कारणसहित संसारका अत्यन्त ही उच्छेद प्रदर्शित किया गया है ॥ ७ ॥

आत्मनिरूपण

योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किंलक्षण इत्याहायं मन्त्रः—

उपर्युक्त मन्त्रोंसे जिस आत्माका वर्णन किया गया है वह अपने स्वरूपसे कैसे लक्षणोंवाला है इस बातको यह मन्त्र बतलाता है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायुसे रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयम्भू (स्वयं ही होनेवाला) है । उसीने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियोंके लिये यथायोग्य रीतिसे अर्थों (कर्त्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है ॥ ८ ॥

स यथोक्त आत्मा पर्यगात्परि समन्तादगाद्गतवानाकाशवद्व्यापी इत्यर्थः । शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः । अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः । अव्रणम् अक्षतम् । अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम् । अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः । शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः । अपापविद्धं धर्माधर्मादिपापवर्जितम् ।

शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुँल्लिङ्गत्वेन परिणेयानि । स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुँल्लिङ्गत्वेनोपसंहारात् ।

कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक् । "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृ०उ०

वह पूर्वोक्त आत्मा पर्यगात्, परि—सब ओर अगात्—गया हुआ है अर्थात् आकाशके समान सर्वव्यापक है, शुक्र—शुद्ध—ज्योतिष्मान् यानी दीप्तिवाला है; अकाय—अशरीरी अर्थात् लिङ्ग-शरीरसे रहित है; अव्रण यानी अक्षत है; अस्नाविर है, जिसमें स्नायु अर्थात् शिराएँ न हों उसे अस्नाविर कहते हैं । अव्रण और अस्नाविर इन दो विशेषणोंसे स्थूल शरीरका प्रतिषेध किया गया है । तथा शुद्ध, निर्मल यानी अविद्यारूप मलसे रहित है—इससे कारण-शरीरका प्रतिषेध किया गया है । अपापविद्ध—धर्म-अधर्मरूप पापसे रहित है ।

'शुक्रम्' इत्यादि (नपुंसकलिङ्ग) वचनोंको पुँल्लिङ्गमें परिणत कर लेना चाहिये; क्योंकि 'स पर्यगात्' इस पदसे आरम्भ करके 'कविः मनीषी' आदि शब्दोंद्वारा पुँल्लिङ्गरूपसे ही उपसंहार किया है ।

कवि—क्रान्तदर्शी* यानी सर्वदृक् है । जैसा कि श्रुति कहती है—"इससे

* क्रान्तका अर्थ अतीत है, अतः क्रान्तदर्शीका अर्थ अतीतद्रष्टा हुआ । यहाँ अतीतकालको तीनों कालोंका उपलक्षण मानकर भाष्यकारने क्रान्तदर्शीका अर्थ सर्वदृक् अर्थात् सर्वद्रष्टा किया है ।

३।८।११) इत्यादिश्रुतेः । मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः । परिभूः सर्वेषां पर्युपरि भवतीति परिभूः । स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति । येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः ।

स नित्यमुक्त ईश्वरो याथा-तथ्यतः सर्वज्ञत्वाद्यथातथाभावो याथातथ्यं तस्माद्यथाभूतकर्मफल-साधनतोऽर्थान् कर्त्तव्यपदार्थान् व्यदधाद्विहितवान् यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः, शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्ये-भ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्य कोई और द्रष्टा नहीं है ।" मनीषी—मनका ईशन करनेवाला अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर । परिभू—सबके परि अर्थात् ऊपर है इसलिये परिभू है । स्वयम्भू—स्वयं ही होता है [इसलिये स्वयम्भू है] । अथवा जिनके ऊपर है और जो ऊपर है वह सब स्वयं ही है, इसलिये स्वयम्भू है ।

उस नित्यमुक्त ईश्वरने सर्वज्ञ होने-के कारण यथाभूत कर्म, फल और साधनके अनुसार अर्थों—कर्त्तव्य-पदार्थोंका याथातथ्य विधान किया अर्थात् यथायोग्य रीतिसे उनका विभाग किया । यथा-तथाके भावको याथातथ्य कहते हैं । [उसने] शाश्वत—नित्य समाओं अर्थात् संवत्सर नामक प्रजापतियोंको [उनकी योग्यताके अनुसार पृथक्-पृथक् कर्तव्य बाँट दिये] ॥ ८ ॥

ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग

अत्राद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरि-त्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो वेदार्थः "ईशा वास्यमिदं सर्वं··· मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" इति

यहाँ "ईशा वास्यमिदं सर्वं····मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" इस प्रथम मन्त्र-द्वारा सम्पूर्ण एषणाओंके त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठाका वर्णन किया है; यही वेदका प्रथम अर्थ है । तथा जो

अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठासम्भवे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि ...जिजीविषेत्" इति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः ।

अज्ञानी और जीवित रहनेकी इच्छावाले हैं उनके लिये ज्ञाननिष्ठा सम्भव न होनेपर "कुर्वन्नेवेह कर्माणि.... जिजीविषेत्" इत्यादि मन्त्रसे कर्मनिष्ठा कही है। यह दूसरा वेदार्थ है।

अज्ञानां कर्मनिष्ठा

अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः "सोऽकामयत जाया मे स्यात्" (बृ०उ० १ । ४ । १७) इत्यादिना अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति । "मन एवास्यात्मा वाग्जाया" (बृ० उ० १ । ४ । १७) इत्यादिवचनाद् अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते । तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गस्तेष्वात्मभावेनात्मस्वरूपावस्थानम् ।

उपर्युक्त मन्त्रोंद्वारा दिखलाया हुआ इन निष्ठाओंका विभाग बृहदारण्यकमें भी दिखाया है। "उसने इच्छा की कि मेरे पत्नी हो" इत्यादि वाक्योंसे यह सिद्ध होता है कि कर्म अज्ञानी और सकाम पुरुषके लिये ही हैं। "मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है" इत्यादि वचनसे भी कर्मनिष्ठका अज्ञानी और सकाम होना तो निश्चितरूपसे जाना जाता है। तथा उसीका फल सप्तान्न सर्ग* है। उनमें आत्मभावना करनेसे ही आत्माकी [अनात्मरूपसे] स्थिति है।

ज्ञानिनां सांख्यनिष्ठा

जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन च आत्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनात्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता "किं प्रजया

आत्मज्ञानियोंके लिये तो वहाँ (बृहदारण्यकोपनिषद्में) "जिन हमको यह आत्मलोक ही सम्पादन करना है वे हम प्रजाको लेकर क्या करेंगे" इत्यादि वाक्यसे जायादि†

* व्रीहि-यवादि—ये मनुष्यके अन्न हैं, हुत-प्रहुत—ये दोनों देवताओंके अन्न हैं, मन, वाणी और प्राण—ये आत्माके अन्न हैं तथा दुग्ध पशुओंका अन्न है। यह सात प्रकारके अन्नकी सृष्टि कर्मका ही फल है ।

† यहाँ 'जाया' (स्त्री) शब्दसे 'पुत्र' उपलक्षित होता है; अतः जायादि-एषणा' का तात्पर्य 'पुत्रादि-एषणात्रय' समझना चाहिये ।

करिष्यामो येषान्नोऽयमात्मायं लोकः" (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इत्यादिना । ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्योऽसुर्या नाम त इत्यादिना अविद्वन्निन्दाद्वारेण आत्मनो याथात्म्यं स पर्यगात् इत्येतदन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम् । ते ह्यत्राधिकृता न कामिन इति । तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि "अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्" (श्वे० उ० ६ । २१) इत्यादि विभज्योक्तम् ।

ये तु कर्मिणः कर्मनिष्ठाः कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते—

तीन एषणाओंके त्यागपूर्वक कर्मनिष्ठाके विरुद्ध आत्म-स्वरूपमें स्थित रहना ही दिखलाया है । जो ज्ञाननिष्ठ संन्यासी हैं उन्हें ही 'असुर्या नाम ते लोकाः' यहाँसे लेकर 'स पर्यगात्' इत्यादितकके मन्त्रोंसे अज्ञानीकी निन्दा करते हुए आत्माके यथार्थ स्वरूपका उपदेश किया है । इस आत्मनिष्ठामें उन्हींका अधिकार है, सकाम पुरुषोंका नहीं । इसी प्रकार श्वेताश्वतर-मन्त्रोपनिषद्में भी "ऋषिसमूहसे भली प्रकार सेवित इस परम पवित्र आत्मज्ञानका उत्तम (संन्यास) आश्रमवालोंको उपदेश किया" इत्यादि रूपसे इसका पृथक् उपदेश किया है ।

जो कर्मनिष्ठ कर्मठ लोग कर्म करते हुए ही जीवित रहना चाहते हैं उनसे यह कहा जाता है—

कर्म और उपासनाका समुच्चय

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ ९ ॥

जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे [अविद्यारूप] घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्या (उपासना) में ही रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं ॥ ९ ॥

कथं पुनरेवमवगम्यते न तु सर्वेषाम् इति ।

पूर्व०—यह कैसे ज्ञात होता है कि [यह विधि कर्मनिष्ठोंके ही लिये है] सबके लिये नहीं है ?

उच्यते—अकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति यदात्मैकत्वविज्ञानम् [उक्तम्] तन्न केनचित्कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति । इह तु समुच्चिचीषया अविद्वदादिनिन्दा क्रियते । तत्र च यस्य येन समुच्चयः सम्भवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम् । "विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६) इति पृथक्फलश्रवणात् । तयोर्ज्ञानकर्मणोरिह एकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया न निन्दापरैव

सिद्धान्ती—बतलाते हैं, [सुनो] निष्काम पुरुषके लिये जो 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इस मन्त्रसे साध्य और साधनके भेदका निराकरण करते हुए आत्माके एकत्वका ज्ञान प्रतिपादन किया है, उसे कोई भी विचारवान् किसी भी कर्म या अन्य ज्ञानके साथ मिलाना नहीं चाहेगा। यहाँ तो समुच्चयकी इच्छासे ही अविद्वान् आदिकी निन्दा की है । अतः न्याय और शास्त्रके अनुसार जिसका जिसके साथ समुच्चय हो सकता है वही यहाँ कहा गया है। सो कर्मके सम्बन्धीरूपसे यहाँ दैव वित्त अर्थात् देवतासम्बन्धी ज्ञानका ही उल्लेख हुआ है—परमात्मज्ञानका नहीं; क्योंकि "विद्यासे देवलोक प्राप्त होता है" ऐसा [इस ज्ञानका आत्मज्ञानसे] पृथक् फल सुना गया है । उन ज्ञान और कर्ममेंसे, यहाँ जो एक-एकके अनुष्ठानकी निन्दा की है वह समुच्चयके अभिप्रायसे है, निन्दाके

एकैकस्य पृथक्फलश्रवणात्; "विद्यया तदारोहन्ति" "विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६) "न तत्र दक्षिणा यन्ति" "कर्मणा पितृलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६) इति । न हि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात् ।

तत्र अन्धन्तमः अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति । के ? येऽविद्यां विद्याया अन्या अविद्या तां कर्म इत्यर्थः, कर्मणो विद्याविरोधित्वात्, तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः । ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति, के ? कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञान एव रताः अभिरताः । तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह;

ही लिये नहीं; क्योंकि "उस पदपर विद्या (देवताज्ञान) से आरूढ़ होते हैं" "विद्यासे देवलोककी प्राप्ति होती है" "वहाँ दक्षिणमार्गसे जानेवाले नहीं पहुँचते" "कर्मसे पितृलोक मिलता है" इत्यादि एक-एकका पृथक् फल बतलानेवाली श्रुतियाँ भी मिलती हैं; और शास्त्रविहित कोई भी बात अकर्तव्य नहीं हो सकती ।

उनमें वे तो अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं । कौन ? जो अविद्या—विद्यासे अन्य अविद्या अर्थात् कर्म यानी केवल अग्निहोत्रादिरूप अविद्याहीकी उपासना करते हैं, अर्थात् तत्पर होकर कर्मका ही अनुष्ठान करते रहते हैं; क्योंकि कर्म विद्या (आत्मज्ञान) के विरोधी हैं [इसलिये उन्हें अविद्या कहा गया है] । तथा उस अन्धकारसे भी कहीं अधिक अन्धकारमें वे प्रवेश करते हैं, कौन ? जो कर्म करना छोड़कर केवल विद्या यानी देवताज्ञानमें ही रत—अनुरक्त हैं । विद्या और कर्मके अवान्तर फल-भेदको ही इसके समुच्चयका कारण बतलाते हैं;

अन्यथा फलवदफलवतोः सन्निहितयोरङ्गाङ्गितैव स्याद् इत्यर्थः ॥ ९ ॥

नहीं तो एक-दूसरेके समीप हुए फलयुक्त और फलहीन परस्पर अङ्ग और अङ्गी हो जायँगे [अर्थात् फलयुक्त तो अङ्गी (मुख्य) हो जायगा तथा फलहीन अङ्ग (गौण) समझा जायगा] यही इसका अभिप्राय है ॥९॥

कर्म और उपासनाके समुच्चयका फल

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

विद्या (देवताज्ञान) से और ही फल बतलाया गया है तथा अविद्या (कर्म) से और ही फल बतलाया है । ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥ १० ॥

अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति "विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६) "विद्यया तदारोहन्ति" इति श्रुतेः। अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते "कर्मणा पितृलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६) इति श्रुतेः । इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम् । ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥ १० ॥

"विद्यासे देवलोक प्राप्त होता है" "विद्यासे उसपर आरूढ़ होते हैं" ऐसी श्रुतियोंके अनुसार, वेदवेत्तालोग कहते हैं कि विद्यासे और ही फल मिलता है । तथा "कर्मसे पितृलोक मिलता है" इस श्रुतिके अनुसार, अविद्या यानी कर्मसे और ही फल होता है—ऐसा उनका कथन है । ऐसे हमने धीर अर्थात् बुद्धिमानोंके वचन सुने हैं, जिन आचार्योंने हमसे उस कर्म तथा ज्ञानका विख्यान किया था अर्थात् उनकी व्याख्या की थी । तात्पर्य यह है कि यह उनका परम्परागत आगम है ॥ १० ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

जो विद्या और अविद्या—इन दोनोंको ही एक साथ जानता है वह अविद्यासे मृत्युको पार करके विद्यासे अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

एत एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेण अनुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एव एकपुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते ।

क्योंकि ऐसा है इसलिये विद्या और अविद्या अर्थात् देवताज्ञान और कर्म इन दोनोंको जो एक साथ एक ही पुरुषसे अनुष्ठान किये जानेयोग्य जानता है इस प्रकार समुच्चय करनेवालेको ही एक पुरुषार्थका सम्बन्ध क्रमशः होता है यही अब कहा जाता है ।

अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति । तद्ध्यमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम् ॥ ११ ॥

अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मसे मृत्यु यानी 'मृत्यु' शब्दवाच्य स्वाभाविक (व्यावहारिक) कर्म और ज्ञान—इन दोनोंको तरकर—पार करके विद्या अर्थात् देवताज्ञानसे अमृत यानी देवतात्मभावको प्राप्त हो जाता है । देवस्वभावको जो प्राप्त होना है वही अमृत कहा जाता है ॥ ११ ॥

व्यक्त और अव्यक्त उपासनाका समुच्चय

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते ।

अब व्यक्त और अव्यक्त उपासनाओंका समुच्चय करनेकी इच्छासे प्रत्येककी निन्दा की जाती है ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳪरताः ॥ १२ ॥

जो असम्भूति (अव्यक्त प्रकृति) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति (कार्यब्रह्म) में रत हैं वे मानो उनसे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं ॥ १२ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिं सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्या अव्याकृताख्या तामसम्भूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति । ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति य उ सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥ १२ ॥

जो असम्भूतिकी उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं । सम्भवन (उत्पन्न होने) का नाम सम्भूति है वह जिस कार्यका धर्म है उसे 'सम्भूति' कहते हैं । उससे अन्य असम्भूति—प्रकृति—कारण अथवा अव्याकृत नामकी अविद्या है । उस असम्भूति यानी अव्याकृत नामवाली प्रकृति—कारण अर्थात् अज्ञानात्मिका अविद्या-की, जो कि कामना और कर्मकी बीज हैं, जो लोग उपासना करते हैं वे उसके अनुरूप ही अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं । तथा जो सम्भूति यानी हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्ममें रत हैं वे तो उससे भी गहरे—मानो अधिकतर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं ॥१२॥

व्यक्त और अव्यक्त उपासनाके फल

अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह—

अब, उन दोनों उपासनाओंके समुच्चयका कारणरूप जो उन दोनोंके फलोंका भेद है उसका वर्णन किया जाता है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १२ ॥

कार्यब्रह्मकी उपासनासे और ही फल बतलाया गया है; तथा अव्यक्तोपासनासे और ही फल बतलाया है। ऐसा हमने बुद्धिमानोंसे सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥ १२ ॥

अन्यदेव पृथगेवाहुः फलं सम्भवात्सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः । तथा चान्यदाहुः असम्भवादसम्भूतेरव्याकृताद् अव्याकृतोपासनात् । यदुक्तमन्धन्तमः प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इत्येवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ॥ १२ ॥

सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्मकी उपासनासे प्राप्त होनेवाला अणिमादि ऐश्वर्यरूप और ही फल बतलाया अर्थात् बखान किया है। तथा असम्भूति यानी अव्याकृतसे अर्थात् अव्याकृत प्रकृतिकी उपासनासे और ही फल बतलाया है; जिसे पहले 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति' आदि वाक्यसे कह चुके हैं तथा पौराणिक लोग जिसे प्रकृतिलय कहते हैं—ऐसा हमने धीरों (बुद्धिमानों) का कथन सुना है, जिन्होंने हमसे उनका वर्णन किया था अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त उपासनाओंके फलका व्याख्यान किया था ॥ १२ ॥

यत एवमतः समुच्चयः सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोर्युक्त एवैकपुरुषार्थत्वाच्चेत्याह—

क्योंकि ऐसा है, इसलिये सम्भूति और असम्भूतिकी उपासनाओंका समुच्चय उचित ही है। इसके सिवा एक पुरुषार्थमूलक होनेसे भी उनका समुच्चय होना ठीक है—यही आगे कहते हैं—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

जो असम्भूति और कार्यब्रह्म—इन दोनोंको साथ-साथ जानता है वह कार्यब्रह्मकी उपासनासे मृत्युको पार करके असम्भूतिके द्वारा [प्रकृतिलयरूप] अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणा अभेदेन उच्यते विनाश इति, तेन तदुपासनेनानैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा—हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्, तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्य असम्भूत्या अव्याकृतोपासनया अमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते ।

जो पुरुष असम्भूति और विनाश इन दोनोंकी उपासनाके समुच्चयको जानता है वह—जिसके कार्यका धर्म विनाश है और उस धर्मीसे अभेद होनेके कारण जो स्वयं भी विनाश कहा जाता है—उस विनाशसे अर्थात् उसकी उपासनासे अधर्म तथा कामना आदि दोषोंसे उत्पन्न हुए अनैश्वर्यरूप मृत्युको पार करके क्योंकि हिरण्यगर्भकी उपासनासे अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्तिरूप फल ही मिलता है, अतः उससे अनैश्वर्य आदि मृत्युको पार करके—असम्भूति—अव्यक्तोपासनासे प्रकृतिलयरूप अमृत प्राप्त कर लेता है ।

सम्भूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात् ॥ १४ ॥

'सम्भूतिं च विनाशं च' इस पद-समूहमें प्रकृतिलयरूप फल बतलानेवाली श्रुतिके अनुरोधसे अवर्णके लोपपूर्वक निर्देश हुआ समझना चाहिये* ॥ १४ ॥

उपासककी मार्गयाचना

भोगमोक्ष-विवेकः

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम् । एतावती संसारगतिः । अतः परं पूर्वोक्तमात्मैवाभूद्विजानत इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननिष्ठाफलम् । एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः । तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम् । निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तम् ।

शास्त्रके बतलाये हुए प्रकृतिलयपर्यन्त समस्त फल [गौ, भूमि और सुवर्ण आदि] मानुष सम्पत्ति तथा [देवताज्ञानरूप] दैवी सम्पत्तिसे सम्पन्न होनेवाले हैं । यहाँतक संसारकी गति है । इससे आगे पहले 'आत्मैवाभूद्विजानतः' इस (सातवें मन्त्र) में बतलाया हुआ सम्पूर्ण एषणाओंके त्यागरूप संन्यासका फल सर्वात्मभाव ही है । इस प्रकार यहाँ प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप दो प्रकारका वेदार्थ प्रकाशित किया है उनमें विधि-प्रतिषेधरूप सम्पूर्ण प्रवृत्तिलक्षण वेदार्थका प्रकाश करनेमें प्रवर्ग्यपर्यन्त ब्राह्मण-भाग उपयोगी है । तथा निवृत्ति-लक्षण वेदार्थको अभिव्यक्त करनेमें इससे आगे बृहदारण्यकका उपयोग किया जाता है ।

* अर्थात् 'असम्भूति' को ही 'सम्भूति' कहा है—ऐसा जानना चाहिये ।

तत्र निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वन् जिजीविषेद्यो विद्यया सहापरब्रह्मविषयया तदुक्तं 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इति ।

उनमें जो पुरुष गर्भाधानसे लेकर मरणपर्यन्त कर्म करते हुए ही जीवित रहना चाहता है उसे अपरब्रह्म-विषयक विद्याके साथ ही [जीवित रहना चाहिये] जैसा कि कहा है—'विद्या और अविद्या दोनोंको साथ-साथ जानता है वह अविद्या (कर्म) से मृत्युको पार करके विद्या (देवता-ज्ञान) से अमृत प्राप्त कर लेता है ।'

देवयानमार्ग-कथनम्

तत्र केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत इत्युच्यते । तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष एतदुभयꣳ सत्यम् । ब्रह्मोपासीनो यथोक्तकर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते 'हिरण्मयेन पात्रेण०' इति ।

अब अमृतत्व किस मार्गसे प्राप्त करता है ? सो बतलाते हैं । वह जो सत्य है वही यह आदित्य है; जो इस आदित्यमण्डलमें पुरुष है तथा जो पुरुष दक्षिणनेत्रमें है वे दोनों ही सत्य हैं । जो उस ब्रह्मकी उपासना करनेवाला और शास्त्रोक्त कर्म करनेवाला है वह अन्तकाल उपस्थित होनेपर [इस आदित्यमण्डलस्थ] आत्मासे 'हिरण्मयेन पात्रेण०' इस मन्त्रके द्वारा इस प्रकार आत्मप्राप्तिके द्वारकी याचना करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्मका मुख ज्योतिर्मय पात्रसे ढका हुआ है । हे पूषन् ! मुझ सत्यधर्माको आत्माकी उपलब्धि करानेके लिये तू उसे उघाड़ दे ॥ १५ ॥

हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत् । तेन पात्रेणेव अपिधानभूतेन सत्यस्यैवादित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहितम् आच्छादितं मुखं द्वारम् । तत्त्वं हे पूषन्नपावृण्वपसारय सत्यस्य उपासनात्सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यमथवा यथाभूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये ॥१५॥

जो सोनेका-सा हो उसे 'हिरण्मय' कहते हैं, अर्थात् जो ज्योतिर्मय है उस ढकनेरूप पात्रसे ही आदित्यमण्डलमें स्थित सत्य अर्थात् ब्रह्मका मुख-द्वार छिपा हुआ है। हे पूषन्! सत्यकी उपासना करनेके कारण जिसका सत्य ही धर्म है ऐसा मैं सत्यधर्मा हूँ उस मेरे प्रति अथवा यथार्थ धर्मका अनुष्ठान करनेवाले मेरे प्रति दृष्टि अर्थात् अपने सत्यस्वरूपकी उपलब्धिके लिये तू उसे उघाड़ दे—[उस पात्रको] सामनेसे हटा दे॥१५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह । तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

हे जगत्पोषक सूर्य ! हे एकाकी गमन करनेवाले ! हे यम (संसारका नियमन करनेवाले)! हे सूर्य (प्राण और रसका शोषण करनेवाले)! हे प्रजापतिनन्दन ! तू अपनी किरणोंको हटा ले (अपने तेजको समेट ले)। तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है उसे मैं देखता हूँ। यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है वह मैं हूँ ॥ १६ ॥

हे पूषन्! जगतः पोषणात्पूषा रविस्तथैक एव ऋषति गच्छति इत्येकर्षिः—हे एकर्षे! तथा

हे पूषन्! जगत्का पोषण करनेके कारण सूर्य पूषा है। वह अकेला ही चलता है इसलिये एकर्षि है—हे एकर्षे!

सर्वस्य संयमनाद्यमः—हे यम ! तथा रश्मीनां प्राणानां रसानाञ्च स्वीकरणात् सूर्यः—हे सूर्य ! प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः—हे प्राजापत्य ! व्यूह विगमय रश्मीन्स्वान् । समूह एकीकुरु उपसंहर ते तेजस्तापकं ज्योतिः ।

सबका नियमन करनेके कारण यम है—हे यम ! किरण प्राण और रसोंको स्वीकार करनेके कारण सूर्य है—हे सूर्य ! प्रजापतिका पुत्र होनेसे प्राजापत्य है—हे प्राजापत्य ! अपनी किरणोंको दूर कर । अपने तेज यानी सन्तप्त करनेवाली ज्योतिको पुञ्जीभूत एकत्रित अर्थात् शान्त कर ।

यत्ते तव रूपं कल्याणतमम् अत्यन्तशोभनं तत्ते तवात्मनः प्रसादात् पश्यामि । किश्चाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसावादित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात्पूर्णं वानेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि ॥१६॥

तेरा जो अत्यन्त कल्याणमय अर्थात् परम सुन्दर स्वरूप है उसे तुझ आत्माकी कृपासे मैं देखता हूँ । तथा यह बात मैं तुझसे सेवकके समान याचना नहीं करता; क्योंकि यह जो व्याहृतिरूप अङ्गोंवाला[1] आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है—जो पुरुषाकार होनेसे, अथवा जो प्राण और बुद्धिरूपसे समस्त जगत्को पूर्ण किये हुए है या जो शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण पुरुष है—वह मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

मरणोन्मुख उपासककी प्रार्थना

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर ॥१७॥

१—'तस्य भूरिति शिरः, भुव इति बाहू, सुवरिति प्रतिष्ठा' (बृ० उ० ५ । ५ । ३) अर्थात् उसका 'भूः' यह शिर है, 'भुवः' यह भुजाएँ हैं तथा 'सुवः' यह प्रतिष्ठा (चरण) हैं ।

अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरूप सूत्रात्माको प्राप्त हो और यह शरीर भस्मशेष हो जाय। हे मेरे संकल्पात्मक मन! अब तू स्मरण कर, अपने किये हुएको स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किये हुएको स्मरण कर॥ १७॥

अथेदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः। लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम्, मार्गयाचनसामर्थ्यात्। अथेदं शरीरमग्नौ हुतं भस्मान्तं भूयात्।

अब मुझ मरनेवालेका वायु—प्राण अपने अध्यात्मपरिच्छेदको त्याग कर अधिदैवरूप सर्वात्मक वायुरूप अमृत यानी सूत्रात्माको प्राप्त हो—इस प्रकार इस वाक्यमें 'प्रतिपद्यताम्' यह क्रियापद जोड़ लेना चाहिये। यहाँ यह समझना चाहिये कि ज्ञान और कर्मके संस्कारोंसे युक्त यह लिंग देह उत्क्रमण करे; क्योंकि [इस श्रुतिसे] मार्गकी याचना की गयी है। तथा अब यह शरीर अग्निमें होम कर दिये जानेपर भस्मशेष हो जाय।

ओमिति यथोपासनम् ॐप्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे क्रतो सङ्कल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्त्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर। क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम्॥ १७॥

'ॐ' ऐसा कहकर यहाँ उपासनाके अनुसार सत्यस्वरूप अग्निसंज्ञक ब्रह्म ही अभेदरूपसे कहा गया है; क्योंकि 'ॐ' उसका प्रतीक है। हे क्रतो!—संकल्पात्मक मन! तू इस समय जो मेरा स्मरणीय है उसका स्मरण कर; अब यह उसका समय उपस्थित हो गया है, अतः तू स्मरण कर। 'क्रतो स्मर कृतं स्मर' यहाँ ['स्मर' पदकी] पुनरुक्ति आदरके लिये है॥ १७॥

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते—

पुनः दूसरे मन्त्रसे मार्गकी याचना करता है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१८॥

हे अग्ने! हमें कर्मफलभोगके लिये सन्मार्गसे ले चल। हे देव! तू समस्त ज्ञान और कर्मोंको जाननेवाला है। हमारे पाखण्डपूर्ण पापोंको नष्ट कर। हम तेरे लिये अनेकों नमस्कार करते हैं ॥ १८ ॥

हे अग्ने! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय। राये धनाय कर्मफलभोगायेत्यर्थः अस्मान्यथोक्तधर्मफलविशिष्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वान्जानन्।

हे अग्ने! मुझे सुपथ अर्थात् सुन्दर मार्गसे ले चल। यहाँ 'सुपथा' यह विशेषण दक्षिणमार्गकी निवृत्तिके लिये है। मैं आवागमनरूप दक्षिण-मार्गसे ऊब गया हूँ, अतः तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि यथोक्त कर्मफल-विशिष्ट हमलोगोंको हमारे सम्पूर्ण कर्म अथवा ज्ञानोंको जाननेवाले हे देव! तू 'राये'—धनके लिये अर्थात् कर्मफल-भोगके निमित्त पुनः-पुनः आने-जानेसे रहित शुभमार्गसे ले चल।

किञ्च युयोधि वियोजय विनाशय अस्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकमेनः पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु

तथा तू हमसे कुटिल अर्थात् वञ्चनात्मक पापोंको 'युयोधि'—वियुक्त कर दे यानी उनका नाश कर दे। तब हम विशुद्ध होकर अपना इष्ट प्राप्त कर लेंगे—यह इसका अभिप्राय है। किन्तु इस समय हम

वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुम् । भूयिष्ठां बहुतरां ते तुभ्यं नमउक्तिं नमस्कारवचनं विधेम नमस्कारेण परिचरेम इत्यर्थः ।

तेरी परिचर्या (सेवा) करनेमें समर्थ नहीं हैं । अतः हम तेरे लिये बहुत-सी नमः-उक्ति यानी नमस्कार-वचन विधान करते हैं अर्थात् नमस्कारसे ही तेरी परिचर्या करते हैं ।

मन्त्रार्थ-विवेचन

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।' (ई० उ० ११) 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते' (ई० उ० १४) इति श्रुत्वा केचित्संशयं कुर्वन्ति । अतस्तन्निराकरणार्थं संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः ।

'अविद्या (कर्म) से मृत्युको पार कर विद्या (देवता-ज्ञान) से अमृत प्राप्त करता है' 'विनाश (कार्यब्रह्मकी उपासना) से मृत्युको पार कर असम्भूति (अव्यक्तकी उपासना) से अमृत लाभ करता है' ऐसा सुनकर कुछ लोगोंको संशय हो जाता है । अतः उसकी निवृत्तिके लिये हम संक्षेपसे विचार करते हैं ।

तत्र तावत्किंनिमित्तः संशय इत्युच्यते ।

अच्छा तो, यहाँ किस निमित्तको लेकर संशय होता है ? इसपर कहते हैं—

विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वञ्च ।

पूर्व०—यहाँ 'विद्या' शब्दसे मुख्य परमार्थविद्या तथा 'अमृत' शब्दसे अमृतत्व ही क्यों नहीं लिया जाता ?

ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः ।

सिद्धान्ती—ऊपर बतलायी हुई परमार्थविद्या और कर्मका परस्पर विरोध होनेके कारण उनका समुच्चय नहीं हो सकता ।

सत्यम् । विरोधस्तु नाव-गम्यते विरोधाविरोधयोः शास्त्र-प्रमाणकत्वात् । यथाविद्यानुष्ठानं विद्योपासनञ्च शास्त्रप्रमाणकं तथा तद्विरोधाविरोधावपि। यथा च न हिंस्यात्सर्वा भूतानीति शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यतेऽध्वरे पशुं हिंस्यादिति। एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात्। विद्याकर्मणोश्च समुच्चयः।

पूर्व०—ठीक है, परन्तु इनका विरोध या अविरोध तो शास्त्र-प्रमाणसे ही सिद्ध हो सकता है; अतः [यहाँ शास्त्र-विधि होनेके कारण] इनका विरोध नहीं जान पड़ता । जिस प्रकार अविद्याका अनुष्ठान और विद्याकी उपासना शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध हैं उसी प्रकार उनके विरोध और अविरोध भी हैं। जैसे 'सभी प्राणियोंकी हिंसा न करे' यह बात शास्त्रसे जानी जाती है और फिर *'यज्ञमें पशुकी हिंसा करे'* इस शास्त्र-विधिसे ही बाधित भी हो जाती है वैसे ही विद्या और अविद्या-के सम्बन्धमें भी हो सकता है। और इस प्रकार विद्या तथा कर्मका समुच्चय हो जायगा ।

न "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या" (क०उ० १ । २ । ४) इति श्रुतेः।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है कि "जिनकी गति भिन्न-भिन्न हैं वे विद्या और कर्म सर्वथा विपरीत हैं।"

विद्यां चाविद्यां चेति वचना-दविरोध इति चेत् ?

पूर्व०—किन्तु 'विद्यां चाविद्यां च' इस वाक्यके अनुसार इन दोनोंका अविरोध है न ?

न; हेतुस्वरूपफलविरोधात्।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उनके हेतु, स्वरूप और फलोंमें विरोध है।

विद्याविद्याविरोधाविरोधयो-

पूर्व०—विद्या और अविद्या तथा

विकल्पासम्भवात्समुच्चयविधानादविरोध एवेति चेत् ?

विरोध और अविरोध इनमें विकल्प तो हो नहीं सकता* तथा इनके समुच्चयका विधान किया गया है, इसलिये इनका अविरोध ही है—ऐसा मानें तो ?

न; सहसम्भवानुपपत्तेः।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि इन दोनोंका साथ रहना सम्भव नहीं है।

क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति चेत् ?

पूर्व०—यदि ऐसा मानें कि विद्या और अविद्या क्रमसे एक आश्रयमें रहनेवाली हैं, तो ?

न; विद्योत्पत्तौ अविद्याया ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः। न ह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्याया उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि विद्याके उत्पन्न हो जानेपर अविद्याका नाश हो जाता है और फिर उसी आश्रयमें अविद्याकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'अग्नि उष्ण और प्रकाशस्वरूप है' इस ज्ञानके उत्पन्न होनेपर जिस [चित्तरूप] आश्रयमें यह उत्पन्न हुआ है उसीमें अग्नि शीतल और अप्रकाशमय है—ऐसा अज्ञान नहीं हो सकता; अधिक क्या इस विषयमें उस पुरुषको कोई सन्देह अथवा भ्रम भी नहीं हो

* क्योंकि विद्या-अविद्या तथा विरोध-अविरोध ये सिद्ध वस्तुएँ हैं। जो बात पुरुषके अधीन होती है अर्थात् जिसे पुरुष कर सकता है उसीमें विकल्प भी हो सकता है। जैसे 'सूर्योदयके अनन्तर हवन करे'—इस विधिमें यह विकल्प हो सकता है कि सूर्योदयसे पहले करे या पीछे; परन्तु 'सूर्य है' इस बातमें सूर्य है या नहीं—ऐसा कोई विकल्प नहीं हो सकता; क्योंकि सूर्यका होना या न होना किसी पुरुषविशेषके अधीन नहीं है।

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७) इति शोकमोहाद्यसम्भवश्रुतेः। अविद्यासम्भवात्तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तिम् अवोचाम।

अमृतमश्नुत इत्यापेक्षिकम् अमृतम्। विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात् तस्मादुपासनया समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथास्माभिर्व्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते ॥ १८ ॥

सकता। ज्ञानीके लिये शोक-मोहादिकी असम्भव बतलानेवाली "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है। इस प्रकार अविद्याके असम्भव हो जानेपर उसके आश्रयसे होनेवाले कर्म भी नहीं हो सकते—यह बात हम पहले ही कह चुके हैं।

यहाँ जो कहा गया है कि अमृतको प्राप्त होता है सो आपेक्षिक अमृत समझना चाहिये। यदि 'विद्या' शब्दसे परमात्म-विद्या ली जाय तो 'हिरण्मयेन' इत्यादि मन्त्रोंसे मार्गादिकी याचना नहीं बन सकती। इसलिये यहाँ उपासनाके साथ ही [कर्मका] समुच्चय किया गया है, परमात्मज्ञानके साथ नहीं। इस प्रकार इन मन्त्रोंका वही अर्थ है जैसा कि हमने व्याख्यान किया है। ऐसा कहकर हम विराम लेते हैं ॥ १८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतावीशावास्योपनिषद्भाष्यं सम्पूर्णम्।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका



ॐ

केनोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित

[पद-भाष्य एवं वाक्य-भाष्य]



प्रकाशक—

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९२ प्रथम संस्करण ३२५०
सं० १९९३ द्वितीय संस्करण ४०००
सं० १९९८ तृतीय संस्करण ३०००
सं० २००१ चतुर्थ संस्करण ३०००

मूल्य ॥) आठ आना

निवेदन

केनोपनिषद् सामवेदीय तलवकार ब्राह्मणके अन्तर्गत है। इसमें आरम्भसे लेकर अन्तपर्यन्त सर्वप्रेरक प्रभुके ही स्वरूप और प्रभावका वर्णन किया गया है। पहले दो खण्डोंमें सर्वाधिष्ठान परब्रह्मके पारमार्थिक स्वरूपका लक्षणासे निर्देश करते हुए परमार्थज्ञानकी अनिर्वचनीयता तथा ज्ञेयके साथ उसका अभेद प्रदर्शित किया है। इसके पश्चात् तीसरे और चौथे खण्डमें यक्षोपाख्यानद्वारा भगवान्‌का सर्वप्रेरकत्व और सर्वकर्तृत्व दिखलाया गया है। इसकी वर्णनशैली बड़ी ही उदात्त और गम्भीर है। मन्त्रोंके पाठमात्रसे ही हृदय एक अपूर्व मस्तीका अनुभव करने लगता है। भगवती श्रुतिकी महिमा अथवा वर्णनशैलीके सम्बन्धमें कुछ भी कहना सूर्यको दीपक दिखाना है।

इस उपनिषद्‌का विशेष महत्त्व तो इसीसे प्रकट होता है कि भगवान् भाष्यकारने इसपर दो भाष्य रचे हैं। एक ही ग्रन्थपर एक ही सिद्धान्तकी स्थापना करते हुए एक ही ग्रन्थकारद्वारा दो टीकाएँ लिखी गयी हों—ऐसा प्रायः देखा नहीं जाता। यहाँ यह शङ्का होती है कि ऐसा करनेकी उन्हें क्यों आवश्यकता हुई? वाक्य-भाष्यपर टीका आरम्भ करते हुए श्रीआनन्दगिरि स्वामी कहते हैं—'*केनेषितमित्यादिकां सामवेदशाखाभेदब्राह्मणोपनिषदं पदशो व्याख्यायापि न तुतोष भगवान् भाष्यकारः शारीरकैर्न्यायैरनिर्णीतार्थत्वादिति न्यायप्रधानश्रुत्यर्थसंग्राहकैर्वाक्यै-र्व्याचिख्यासुः*........' अर्थात् 'केनेषितम्' इत्यादि सामवेदीय शाखान्तर्गत ब्राह्मणोपनिषद्‌की पदशः व्याख्या करके भी भगवान् भाष्यकार सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि उसमें उसके अर्थका शारीरकशास्त्रानुकूल युक्तियोंसे निर्णय नहीं किया गया था, अतः अब श्रुत्यर्थका निरूपण करनेवाले न्यायप्रधान वाक्योंसे व्याख्या करनेकी इच्छासे आरम्भ करते हैं।

इस उद्धरणसे सिद्ध होता है कि भगवान् भाष्यकारने पहले पद-भाष्यकी रचना की थी। उसमें उपनिषदर्थकी पदशः व्याख्या तो हो गयी थी; परन्तु युक्तिप्रधान वाक्योंसे उसके तात्पर्यका विवेचन नहीं हुआ था इसीलिये उन्हें वाक्य-भाष्य लिखनेकी आवश्यकता हुई। पद-भाष्यकी रचना अन्य भाष्योंके ही समान है। वाक्य-भाष्यमें जहाँ-तहाँ और विशेषतया तृतीय खण्डके आरम्भमें युक्ति-प्रयुक्तियोंद्वारा परमतका खण्डन और स्वमतका स्थापन किया गया है। ऐसे स्थानोंमें भाष्यकारकी यह शैली रही है कि पहले शङ्का और उसके उत्तरको एक सूत्रसदृश वाक्यसे कह देते हैं और फिर उसका विस्तार करते हैं; जैसे प्रस्तुत पुस्तकके पृष्ठ ९ पर 'कर्मविषये चानुक्तिः तद्विरोधित्वात्' ऐसा कहकर फिर 'अस्य विजिज्ञासितव्यस्यात्मतत्त्वस्य कर्मविषयेऽवचनम्' इत्यादि ग्रन्थसे इसीकी व्याख्या की गयी है।

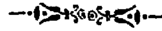
इस प्रकार हम देखते हैं कि पद-भाष्यमें प्रधानतया मूलकी पदशः व्याख्या की गयी है और वाक्य-भाष्यमें उसपर विशेष ध्यान न देकर विषयका युक्तियुक्त विवेचन करनेकी चेष्टा की गयी है। अंग्रेजी और बँगलामें जो उपनिषद्-भाष्यके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं उनमें केवल पद-भाष्यका ही अनुवाद किया गया है, पण्डितवर श्रीपीताम्बरजीने जो हिन्दी-अनुवाद किया था उसमें भी केवल पद-भाष्य ही लिया गया था। मराठी भाषान्तरकार परलोकवासी पूज्यपाद पं० श्रीविष्णुबापट शास्त्रीने केवल वाक्य-भाष्यका अनुवाद किया है। हमें तो दोनों ही उपयोगी प्रतीत हुए; इसलिये दोनोंहीका अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादोंकी छपाईमें जो क्रम रक्खा गया है उससे उन दोनोंको तुलनात्मक दृष्टिसे पढ़नेमें बहुत सुभीता रहेगा। आशा है, हमारा यह अनधिकृत प्रयास पाठकोंको कुछ रुचिकर हो सकेगा।

विनीत,

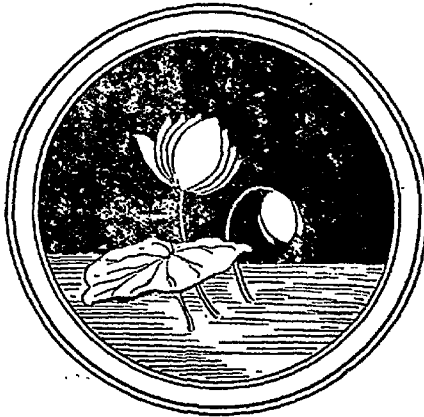
अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची



चतुर्थ खण्ड





उमा और इन्द्र

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

केनोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

येनेरिताः प्रवर्तन्ते प्राणिनः स्वेषु कर्मसु ।
तं वन्दे परमात्मानं स्वात्मानं सर्वदेहिनाम् ॥
यस्य पादांशुसम्भूतं विश्वं भाति चराचरम् ।
पूर्णानन्दं गुरुं वन्दे तं पूर्णानन्दविग्रहम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

मेरे अङ्ग पुष्ट हों तथा मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट हों । यह सब उपनिषद्वेद्य ब्रह्म है । मैं ब्रह्मका निराकरण न करूँ । ब्रह्म मेरा निराकरण न करे [अर्थात् मैं ब्रह्मसे विमुख न होऊँ और ब्रह्म मेरा परित्याग न करे] इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो । उपनिषदोंमें जो धर्म हैं वे आत्मा (आत्मज्ञान) में लगे हुए मुझमें हों, वे मुझमें हों । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

प्रथम खण्ड

सम्बन्ध-भाष्य

पद-भाष्य

उपक्रमणिका

'केनेषितम्' इत्याद्योपनिषत् परब्रह्मविषया वक्तव्या इति नवमस्याध्यायस्य आरम्भः । प्रागेतस्मात्कर्माणि अशेषतः परिसमापितानि, समस्तकर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्योपासनान्युक्तानि, कर्माङ्गसामविषयाणि

अब 'केनेषितम्' इत्यादि परब्रह्मविषयक उपनिषत् कहनी है इसलिये इस नवम अध्यायका* आरम्भ किया जाता है। इससे पूर्व सम्पूर्ण कर्मोंके प्रतिपादनकी सम्यक्रूपसे समाप्ति की गयी है, तथा समस्त कर्मोंके आश्रयभूत प्राणकी उपासना एवं कर्मकी अङ्गभूत सामोपासनाका वर्णन किया गया

वाक्य-भाष्य

उपक्रमणिका

समाप्तं कर्मात्मभूतप्राणविषयं विज्ञानं कर्म चानेकप्रकारम्, ययोर्विकल्पसमुच्चयानुष्ठानाद्दक्षिणोत्तराभ्यां सृतिभ्यामावृत्त्यनावृत्ती भवतः । अत ऊर्ध्वं फलनिरपेक्षज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानात्कृतात्मसंस्कारस्योच्छिन्नात्मज्ञानप्रतिबन्धकस्य द्वैतविषयदोषदर्शिनो निर्ज्ञाताशेष-

इससे पूर्व-ग्रन्थमें कर्मोंके आश्रयभूत प्राणविज्ञान तथा अनेक प्रकारके कर्मका निरूपण समाप्त हुआ, जिनके विकल्प[1] और समुच्चयके[2] अनुष्ठानसे दक्षिण और उत्तर मार्गोंद्वारा क्रमशः आवृत्ति (आवागमन) और अनावृत्ति (क्रममुक्ति) हुआ करती हैं। इसके आगे देवता-ज्ञान और कर्मोंके समुच्चयका निष्काम भावसे अनुष्ठान करनेसे जिसने अपना चित्त शुद्ध कर लिया है, जिसका आत्मज्ञानका प्रतिबन्धकरूप दोष नष्ट हो गया है, जो द्वैतविषयमें दोष देखने लगा है तथा सम्पूर्ण बाह्य

* यह उपनिषद् सामवेदीय तलवकार शाखाका नवम अध्याय है।

१. दोनोंमेंसे केवल एक। २. एक साथ दोनों।

पद-भाष्य

च । अनन्तरं च गायत्रसामविषयं दर्शनं वंशान्तमुक्तं कार्यम् ।

सर्वमेतद्यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति । सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मार्तानि च

है । उसके पश्चात् गायत्रसामविषयक विचार और शिष्यपरम्परारूप वंशके वर्णनमें समाप्त होनेवाले कार्यका वर्णन किया गया है ।

ऊपर बतलाया हुआ यह सम्पूर्ण कर्म और ज्ञान सम्यक् प्रकारसे सम्पादन किये जानेपर निष्काम मुमुक्षुकी तो चित्त-शुद्धिके कारण होते हैं । तथा ज्ञानरहित सकाम साधकके केवल श्रौत और स्मार्त कर्म दक्षिण

वाक्य-भाष्य

बाह्यविषयत्वात्संसारबीजमज्ञानमुच्चिच्छित्सतः प्रत्यगात्मविषयजिज्ञासोः केनेपितमित्यात्मस्वरूपतत्त्वविज्ञानायायमध्याय आरभ्यते । तेन च मृत्युपदम् अज्ञानमुच्छेत्तव्यं तत्तन्त्रो हि संसारो यतः । अनधिगतत्वाद् आत्मनो युक्ता तदधिगमाय तद्विषया जिज्ञासा ।

ज्ञानकर्मविरोधः कर्मविषये चानुक्तिः तद्विरोधित्वात् । अस्य विजिज्ञासितव्यस्य आत्मतत्त्वस्य कर्मविषयेऽवचनम् ।

विषयोंका तत्त्व जान लेनेके कारण जो संसारके बीजस्वरूप अज्ञानका उच्छेद करना चाहता है, उस आत्मतत्त्वके जिज्ञासुको आत्मस्वरूपके तत्त्वका ज्ञान करानेके लिये 'केनेपितम्' आदि मन्त्रसे यह (नवाँ) अध्याय आरम्भ किया जाता है । उस आत्मतत्त्व-ज्ञानसे ही मृत्युके कारणरूप अज्ञानका उच्छेद करना चाहिये, क्योंकि यह संसार अज्ञानमूलक ही है । आत्मतत्त्व अज्ञात है, इसलिये उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आत्मविषयक जिज्ञासा उचित ही है ।

कर्मकाण्डमें आत्मतत्त्वका निरूपण नहीं किया गया क्योंकि यह उसका विरोधी है । इस विशेष रूपसे जाननेयोग्य आत्मतत्त्वका कर्मकाण्डमें विवेचन नहीं किया जाता । यदि कहो

पद-भाष्य

कर्माणि दक्षिणमार्गप्रतिपत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति । स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पश्वादिस्थावरान्ता अधोगतिः स्यात् । "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्" (छा० उ० ५ । १० । ८) इति श्रुतेः;

मार्गकी प्राप्ति और पुनरावर्तनके हेतु होते हैं । इनके सिवा अशास्त्रीय स्वच्छन्द वृत्तिसे तो पशुसे लेकर स्थावरपर्यन्त अधोगति ही होती है । "ये [स्वच्छन्द प्रवृत्तिवाले जीव उत्तरायण और दक्षिणायन] इन दोनोंमेंसे किसी मार्गसे नहीं जाते; वे निरन्तर आवर्तन करनेवाले क्षुद्र जीव होते हैं; उनका 'जन्म लो और मरो' यह तीसरा स्थान (मार्ग) है"

वाक्य-भाष्य

कस्मादिति चेदात्मनो हि यथावद्विज्ञानं कर्मणा विरुध्यते । निरतिशयब्रह्मस्वरूपो ह्यात्मा विजिज्ञापयिषितः, "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (के० उ० १ । ४) इत्यादिश्रुतेः । न हि स्वाराज्येऽभिषिक्तो ब्रह्मत्वं गमितः कञ्चन नमितुमिच्छत्यतो ब्रह्मास्मीति सम्बुद्धो न कर्म कारयितुं शक्यते । न ह्यात्मानम् अवाप्तार्थं ब्रह्म मन्यमानः प्रवृत्तिं प्रयोजनवतीं पश्यति । न च निष्प्रयोजना प्रवृत्तिरतो विरुध्यत एव कर्मणा ज्ञानम् । अतः कर्म-

कि क्यों ? तो उसका कारण यह है कि आत्माका यथार्थ ज्ञान कर्मका विरोधी है, क्योंकि जिसका ज्ञान कराना अभीष्ट है वह आत्मा तो सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मस्वरूप ही है, जैसा कि, "तुम उसीको ब्रह्म जानो, जिस इस (देशकालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । जो पुरुष स्वराज्यपर अभिषिक्त होकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया है वह किसीके भी सामने झुकनेकी इच्छा नहीं करता । अतः जिसने यह जान लिया है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', उससे कर्म नहीं कराया जा सकता । अपने आत्माको आप्तकाम ब्रह्म माननेवाला पुरुष किसी भी प्रवृत्तिको प्रयोजनवती नहीं देखता और कोई भी प्रवृत्ति बिना प्रयोजनके हो नहीं सकती, अतः कर्मसे ज्ञानका विरोध

पद-भाष्य

"प्रजा ह तिस्रोऽत्यायमीयुः" (ऐ० आ० २।१।१।४) इति च मन्त्रवर्णात्।

इस श्रुतिसे और "तीन प्रसिद्ध प्रजाओंने धर्मत्याग किया" इस मन्त्रवर्णसे भी [यही बात सिद्ध होती है]।

ज्ञानाधिकारि-निरूपणम्

विशुद्धसत्त्वस्य तु निष्कामस्य एव बाह्यादनित्यात् साध्यसाधनसम्बन्धाद् इह कृतात्पूर्वकृताद्वा संस्कार-विशेषोद्भवाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्म-विषया जिज्ञासा प्रवर्तते। तदेतद्वस्तु प्रश्नप्रतिवचनलक्षणया श्रुत्या प्रदर्श्यते 'केनेषितम्'

जो इस जन्म और पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंके संस्कारविशेषसे उद्भूत बाह्य एवं अनित्य साध्य-साधनके सम्बन्धसे विरक्त हो गया है उस विशुद्धचित्त निष्काम पुरुष-को ही प्रत्यगात्मविषयक जिज्ञासा हो सकती है। यही बात 'केनेषितम्' इत्यादि प्रश्नोत्तररूपा श्रुतिद्वारा दिखलायी जाती है। कठोपनिषद्में तो कहा है—

वाक्य-भाष्य

विषयेऽनुक्तिः,विज्ञानविशेषविषया एव जिज्ञासा।

है ही। इसीलिये कर्मकाण्डमें आत्म-ज्ञानका उल्लेख नहीं है; अर्थात् जिज्ञासा किसी विज्ञानविशेषके सम्बन्धमें ही होती है।

कर्मानारम्भ इति चेन्न; निष्कामस्य संस्कारार्थत्वात्।

यदि कहो कि तब तो कर्मका आरम्भ ही न किया जाय तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि निष्काम कर्म पुरुषका संस्कार करनेवाला है।

यदि ह्यात्मविज्ञानेनात्माविद्या-विषयत्वात्परितित्याजयिषितं कर्म ततः "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूराद-स्पर्शनं वरम्" (म० वन० २।४९) इत्यनारम्भ एव कर्मणः श्रेयान्।

पूर्व०—यदि आत्माके अज्ञानका कारण होनेसे आत्मज्ञानद्वारा कर्मका परित्याग कराना ही अभीष्ट है तो "कीचड़को धोनेकी अपेक्षा तो उसे दूरसे न छूना ही अच्छा है" इस उक्तिके अनुसार कर्मका आरम्भ न

पद-भाष्य

इत्याद्यया । काठके चोक्तम् "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्त-रात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मा-नमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" (क० उ० २।१।१)। इत्यादि "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।

"स्वयम्भू परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है; इसलिये इन्द्रियाँ बाहरकी ओर ही देखती हैं, अन्तरात्माको नहीं देखतीं; किसी-किसी बुद्धिमान्ने ही अमरत्वकी इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियोंको रोककर प्रत्यगात्माका साक्षात्कार किया है" इत्यादि । तथा अथर्ववेदीय (मुण्डक) उपनिषद्में भी कहा है—"ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कर्मद्वारा प्राप्त होनेवाले लोकोंकी परीक्षा कर वैराग्यको प्राप्त हो जाय, क्योंकि कृत (कर्म) के

वाक्य-भाष्य

अल्पफलत्वादायासबहुलत्वात् तत्त्वज्ञानादेव च श्रेयःप्राप्तेः इति चेत् ।

करना ही उत्तम है क्योंकि वह अल्प फलवाला और अधिक परिश्रमवाला है तथा आत्यन्तिक कल्याण तत्त्व-विज्ञानसे ही होता है ।

चित्तशुद्ध्यै कर्मावश्यकं प्राप्तज्ञानस्य तु तदनारम्भः

सत्यम्; एतदविद्याविषयं कर्माल्पफलत्वादि-दोषवद्बन्धरूपं च सकामस्य "कामान् यः कामयते" (मु० उ० ३।२।२) "इति नु कामयमानः" इत्यादिश्रुतिभ्यः; न निष्कामस्य । तस्य तु संस्कारार्थान्येव कर्माणि भवन्ति तन्निर्वर्तकाश्रयप्राण-

सिद्धान्ती—ठीक है, परन्तु यह अविद्यामूलक कर्म "जो भोगोंकी कामना करता है" तथा "इस प्रकार जो कामना करनेवाला है" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार सकाम पुरुषके लिये ही अल्पफलत्वादि दोषोंसे युक्त तथा बन्धनकारक है; निष्काम पुरुषके लिये नहीं । उसके लिये तो कर्म अपने निर्वर्तक (निष्पन्न करनेवाले) और आश्रयभूत प्राणोंके विज्ञानके सहित संस्कारके ही कारण होते हैं । "देवयाजी

पद-भाष्य

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मु० उ० १ । २ । १२) इत्याद्याथर्वणे च ।

द्वारा अकृत (नित्यस्वरूप मोक्ष) प्राप्त नहीं हो सकता । उसका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तो उस (जिज्ञासु) को हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके ही पास जाना चाहिये" इत्यादि ।

निवृत्ताज्ञानस्य कृतकृत्यता-प्रदर्शनम्

एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सामर्थ्यमुपपद्यते, नान्यथा । एतस्माच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानात्संसारबीजमज्ञानं कामकर्मप्रवृत्तिकारणमशेषतो

केवल इस प्रकारसे ही विरक्त पुरुषको प्रत्यगात्मविषयक विज्ञानके श्रवण, मनन और साक्षात्कारकी क्षमता हो सकती है, और किसी तरह नहीं । इस प्रत्यगात्माके ब्रह्मत्वविज्ञानसे ही कामना और कर्मकी प्रवृत्तिका कारण तथा

वाक्य-भाष्य

विज्ञानसहितानि । "देवयाजी श्रेयानात्मयाजी वा" इत्युपक्रम्यात्मयाजी तु करोति "इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते इति" संस्कारार्थमेव कर्माणीति वाजसनेयके । "महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" (मनु० २ । २८) "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" (गीता १८ । ५) इत्यादिस्मृतेश्च ।

श्रेष्ठ हैं या आत्मयाजी" इस प्रकार आरम्भ करके वाजसनेय श्रुतिमें कहा है कि आत्मयाजी अपने संस्कारके लिये ही यह समझकर कर्म करता है कि "इससे मेरे इस अङ्गका संस्कार होगा" । यह शरीर महायज्ञ और यज्ञोंद्वारा ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके योग्य किया जाता है ।" "यज्ञ, दान और तप—ये विद्वानोंको पवित्र करनेवाले ही हैं" इत्यादि स्मृतियोंसे भी यही बात सिद्ध होती है ।

प्राणादिविज्ञानं च केवलं कर्मसमुच्चितं वा सकामस्य प्राणात्मप्राप्त्यर्थमेव भवति । निष्कामस्य त्वात्मज्ञानप्रतिबन्धनिर्मोक्षार्थं

अकेला या कर्मके साथ मिला हुआ होनेपर भी प्राणादि विज्ञान सकाम पुरुषके लिये तो प्राणत्व-प्राप्तिका ही कारण होता है, किन्तु निष्काम पुरुषके

पद-भाष्य

निवर्तते, "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७) इति मन्त्रवर्णात्, "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७ । १ । ३) इति "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० उ० २ । २ । ८) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ।

कर्मसहितादपि ज्ञानादेतत् सिध्यतीति चेत् ?

संसारका बीजभूत अज्ञान पूर्णतया निवृत्त होता है; जैसा कि "उस अवस्थामें एकत्व देखनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है" इत्यादि मन्त्रवर्ण तथा "आत्मज्ञानी शोकको पार कर जाता है" "उस परावरको देख लेनेपर उसकी हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सन्देह नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।

पूर्व०—यह बात तो कर्मसहित ज्ञानसे भी सिद्ध हो सकती है न ?

वाक्य-भाष्य

भवति; आदर्शनिर्माजनवत् । उत्पन्नात्मविद्यस्य त्वनारम्भो निरर्थकत्वात् । "कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः" (महा० शा० २४२ । ७) इति । "क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्च तयोः संन्यास एवात्यरेचयत्" इति "त्यागेनैके०" (कै० उ० १ । २) "नान्यः पन्था विद्यते०" (श्वे० उ० ३ । ८) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ।

लिये वह दर्पणके मार्जनके समान आत्मज्ञानके प्रतिबन्धकोंका निवर्तक होता है । हाँ, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है उसके लिये निष्प्रयोजन होनेके कारण कर्मके आरम्भकी अपेक्षा नहीं है । जैसा कि "जीव कर्मसे बँधता है और आत्मज्ञानसे मुक्त हो जाता है, इसलिये पारदर्शी यतिजन कर्म नहीं करते" "पूर्वकालमें कर्ममार्ग और संन्यास [दो मार्ग] थे उनमें संन्यास ही उत्कृष्ट था" "किन्हींने त्यागसे [अमरत्व प्राप्त किया]" तथा "[इसके सिवा] और कोई मार्ग नहीं है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी सिद्ध होता है ।

पद-भाष्य

न; वाजसनेयके तस्यान्यकारणत्ववचनात्। "जाया मे स्यात्" (बृ० उ० १।४।१७) इति प्रस्तुत्य "पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १।५।१६) इत्यात्मनोऽन्यस्य लोकत्रयस्य कारणत्वमुक्तं वाजसनेयके।

समुच्चयवाद-खण्डनम्

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वाजसनेय (बृहदारण्यक) श्रुतिमें उस (कर्मसहित ज्ञान) को अन्य फलका कारण बतलाया है। "मुझे स्त्री प्राप्त हो" इस प्रकार आरम्भ करके वाजसनेय श्रुतिमें "यह लोक पुत्रद्वारा प्राप्त किया जा सकता है और किसी कर्मसे नहीं; कर्मसे पितृलोक मिलता है और विद्या (उपासना) से देवलोक" इस प्रकार उसे आत्मासे भिन्न लोकत्रयका ही कारण बतलाया है।

तत्रैव च पारिव्राज्यविधाने

वहाँ (उस बृहदारण्यकोपनिषद्-

वाक्य-भाष्य

न्यायाच्च; उपायभूतानि हि कर्माणि संस्कारद्वारेण ज्ञानस्य। ज्ञानेन त्वमृतत्वप्राप्तिः, "अमृतत्वं हि विन्दते" (के० उ० २।४) "विद्यया विन्दतेऽमृतम्" (के० उ० २।४) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च। न हि नद्याः पारगो नावं न मुञ्चति यथेष्टदेशगमनं प्रति स्वातन्त्र्ये सति।

युक्तिसे भी [कर्म ज्ञानके साक्षात् साधन नहीं हैं।] कर्म तो चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानके साधन हैं। अमृतत्वकी प्राप्ति तो ज्ञानसे ही होती है जैसा कि "[ज्ञानसे] अमृतत्व ही प्राप्त कर लेता है" "विद्यासे अमृतको पा लेता है" इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे प्रमाणित होता है। जो मनुष्य नदीके पार पहुँच गया है वह अपने अभीष्ट स्थानपर जानेके लिये स्वतन्त्रता प्राप्त होनेपर भी नौकाको न छोड़े—ऐसा कभी नहीं होता।

आत्मनः अविकार्यत्वादि-निरूपणम्

न हि स्वभावसिद्धं वस्तु सिषाधयिषति साधनैः। स्वभावसिद्धश्चात्मा, तथा न आपिपयिषितः;

जो वस्तु स्वतः सिद्ध है उसे कोई भी पुरुष साधनोंसे सिद्ध नहीं करना चाहता। आत्मा भी स्वभाव-सिद्ध है; और इसीलिये वह प्राप्त करनेकी इच्छा

पद-भाष्य

हेतुरुक्तः "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः" (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इति । तत्रायं हेत्वर्थः—प्रजाकर्मतत्संयुक्तविद्याभिर्मनुष्यपितृदेवलोकत्रयसाधनैरनात्मलोकप्रतिपत्तिकारणैः किं करिष्यामः । न चास्माकं लोकत्रयमनित्यं साधनसाध्यमिष्टम्, येषामस्माकं स्वाभाविकोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयो न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्नित्यश्च

में) ही संन्यास ग्रहण करनेमें यह हेतु बतलाया है—"हम प्रजाको लेकर क्या करेंगे, जिन हमें कि यह आत्मलोक ही अभीष्ट है ?" उस हेतुका अभिप्राय इस प्रकार है—'मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक—इन तीन लोकोंके साधन अनात्मलोकोंकी प्राप्तिके हेतुभूत प्रजा, कर्म और कर्मसहित ज्ञानसे हमें क्या करना है; क्योंकि हमलोगोंको जिन्हें कि, स्वाभाविक, अजन्मा, अजर, अमर, अभय और जो कर्मसे घटता-बढ़ता नहीं है वह नित्य-

वाक्य-भाष्य

आत्मत्वे सति नित्याप्तत्वात् । नापि विचिकारयिषितः; आत्मत्वे सति नित्यत्वादविकारित्वाद् अविषयत्वादमूर्तत्वाच्च ।

श्रुतेश्च "न वर्धते कर्मणा" (बृ० उ० ४ । ४ । २३) इत्यादि । स्मृतेश्च "अविकार्योऽयमुच्यते" (गीता २ । २५) इति । न च सञ्चिकीर्षितः "शुद्धमपापविद्धम्" (ई० उ० ८) इत्यादिश्रुतिभ्यः; अनन्यत्वाच्च; अन्ये-

करने योग्य नहीं है, क्योंकि आत्मस्वरूप होनेके कारण वह नित्य-प्राप्त ही है । इसी प्रकार उसका विकार भी इष्ट नहीं है क्योंकि आत्मा होनेके साथ ही वह नित्य, अविकारी, अविषय तथा अमूर्त भी है ।

इसके सिवा श्रुतिसे "आत्मा कर्मसे बढ़ता नहीं है" इत्यादि और स्मृतिसे भी "यह आत्मा अविकार्य कहा जाता है" इत्यादि कहा गया है । "शुद्ध और पापरहित" इत्यादि श्रुतियोंसे [प्रकट होता है कि] आत्माका संस्कार करना भी अभीष्ट नहीं है । इसके सिवा अपनेसे अभिन्न होनेके कारण भी वह संस्कार्य नहीं है क्योंकि संस्कार अन्य वस्तुके

पद-भाष्य

लोक इष्टः । स च नित्यत्वान्नाविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेणान्यसाधननिष्पाद्यः । तस्मात्प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वकः सर्वैषणासंन्यास एव कर्तव्य इति ।

लोक ही इष्ट है, साधनद्वारा प्राप्त होनेवाला अनित्य लोकत्रय तो इष्ट है नहीं । और वह (आत्मलोक) तो नित्य होनेके कारण अविद्या-निवृत्तिके सिवा अन्य किसी भी साधनसे प्राप्त होने योग्य है नहीं । अतः हमको आत्मा और ब्रह्मके एकत्वज्ञानपूर्वक सब प्रकारकी एषणाओंका त्याग ही करना चाहिये ।'

ज्ञानकर्मविरोध-प्रदर्शनम्

कर्मसहभावित्वविरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानस्य । न ह्युपात्तकारकफलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमितसर्वभेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्वम् उपपद्यते, वस्तुप्राधान्ये सति अपुरुषतन्त्रत्वाद्ब्रह्मविज्ञानस्य । तस्माद्दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधन-

इसके सिवा आत्मा और ब्रह्मके एकत्वज्ञानका कर्मके साथ-साथ होनेमें विरोध भी है । जिसमें [कर्ता-कर्मादि] कारक और [स्वर्गादि] फलका भेद स्वीकार किया गया है उस कर्मके साथ सम्पूर्ण भेददृष्टिसे रहित ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानका रहना संगत नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान तो वस्तुप्रधान होनेके कारण पुरुष (कर्ता) के अधीन नहीं है । अतः इस 'केनेषितम्' इत्यादि

वाक्य-भाष्य

नान्यत्संस्क्रियते । न चात्मनोऽन्यभूता क्रिया अस्ति, न च स्वेनैवात्मना स्वमात्मानं संश्चिकीर्षेत् । न च वस्त्वन्तराधानं नित्यप्राप्तिर्वा वस्त्वन्तरस्य

द्वारा अन्यका ही हुआ करता है । आत्मासे भिन्न कोई क्रिया भी नहीं है; और स्वयं आत्माके योगसे ही आत्माके संस्कारकी इच्छा कोई न करेगा । एक वस्तुका दूसरी वस्तुपर आधान करना अथवा एक वस्तुको दूसरी वस्तुका प्राप्त होना नित्य नहीं हो

पद-भाष्य

साध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया ब्रह्मजिज्ञासेयम् 'केनेषितम्' इत्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते । शिष्याचार्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेण कथनं तु सूक्ष्मवस्तुविषयत्वात् सुखप्रतिपत्तिकारणं भवति । केवलतर्कागम्यत्वं च दर्शितं भवति ।

गुरूपसत्तिः "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (क० उ० १ । २ । ९) इति श्रुतेश्च । "आचार्यवान्पुरुषो वेद" (छा० उ० ६ । १४ । २) "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदिति"

श्रुतिके द्वारा यह दृष्ट और अदृष्ट बाह्यसाधन एवं साध्योंसे विरक्त हुए पुरुषकी ही प्रत्यगात्मविषयक ब्रह्मजिज्ञासा दिखलायी जाती है । शिष्य और आचार्यके प्रश्नोत्तररूपसे यह कथन वस्तुका सुगमतासे ज्ञान करानेमें कारण है; क्योंकि यह विषय सूक्ष्म है । इसके सिवा केवल तर्कद्वारा इसकी अगम्यता भी दिखलायी गयी है ।

"यह बुद्धि तर्कद्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है" इस श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है । अतः "आचार्यवान् पुरुष [ब्रह्मको] जानता है" "आचार्यसे प्राप्त हुई विद्या ही उत्कृष्टताको प्राप्त होती है" "उसे साष्टाङ्ग प्रणामके द्वारा जानो"

वाक्य-भाष्य

नित्या । नित्यत्वं चेष्टं मोक्षस्य । अत उत्पन्नविद्यस्य कर्मारम्भोऽनुपपन्नः, अतो व्यावृत्तबाह्यबुद्धेः आत्मविज्ञानाय केनेषितमित्याद्यारम्भः ।

सकता[1]; और मोक्षकी नित्यता ही इष्ट है । इसलिये जिसे आत्मज्ञान हो गया है उसके लिये कर्मका आरम्भ नहीं बन सकता । अतः जिसकी बाह्य-बुद्धि निवृत्त हो गयी है उसे आत्मतत्त्वका ज्ञान करानेके लिये 'केनेषितम्' इत्यादि उपनिषद् आरम्भ की जाती है ।

१. अर्थात् आत्मापर परमानन्दत्व आदि गुणोंका आधान या उसका ब्रह्माण्ड-बाह्य ब्रह्मको प्राप्त होना नित्य नहीं हो सकता ।

पद-भाष्य

(छा० उ० ४ । ९ । ३) "तद्विद्धि प्रणिपातेन" (गीता ४ । ३४) इत्यादिश्रुतिस्मृतिनियमाच्च कश्चिद् गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवदुपेत्य प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र शरणम् अपश्यन्नभयं नित्यं शिवमचलम् इच्छन्पप्रच्छेति कल्प्यते—

इत्यादि श्रुति-स्मृतिके नियमानुसार किसी शिष्यने प्रत्यगात्मविषयक ज्ञानके सिवा कोई और शरण (आश्रय) न देखकर उस निर्भय, नित्य कल्याणमय अचल पदकी इच्छा करते हुए किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास विधिपूर्वक जाकर पूछा—यही बात [आगेकी श्रुतिसे] कल्पित की जाती है—

प्रेरकविषयक प्रश्न

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः । केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः । केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

यह मन किसके द्वारा इच्छित और प्रेरित होकर अपने विषयोंमें गिरता है ? किससे प्रयुक्त होकर प्रथम (प्रधान) प्राण चलता है ? प्राणी किसके द्वारा इच्छा की हुई यह वाणी बोलते हैं ? और कौन देव चक्षु तथा श्रोत्रको प्रेरित करता है ? ॥ १ ॥

वाक्य-भाष्य

प्रवृत्तिलिङ्गाद्विशेषार्थः प्रश्न उपपन्नः । रथादीनां हि चेतनावदधिष्ठितानां प्रवृत्तिर्दृष्टा न अनधिष्ठितानाम् । मनआदीनां च अचेतनानां प्रवृत्तिर्दृश्यते । तद्धि लिङ्गं चेतनावतोऽधिष्ठातुः अस्तित्वे । करणानि हि मनआदीनि नियमेन प्रवर्तन्ते ।

[मन आदि अचेतन पदार्थोंकी] प्रवृत्तिरूप लिङ्गसे [उनकी प्रेरणा करनेवाले] किसी विशेष तत्त्वके विषयमें प्रश्न करना ठीक ही है, क्योंकि रथ आदि [अचेतन पदार्थों] की प्रवृत्ति भी चेतन प्राणियोंसे अधिष्ठित होकर ही देखी है, उनसे अधिष्ठित हुए बिना नहीं देखी । मन आदि अचेतन पदार्थोंकी भी प्रवृत्ति देखी ही जाती है । यही उनके चेतन अधिष्ठाताके अस्तित्वका अनुमापक लिङ्ग है । मन आदि इन्द्रियाँ नियमसे

पद-भाष्य

केन इषितं केन कर्त्रा इषितम् इष्टमभिप्रेतं सद् मनः पतति गच्छति स्वविषयं प्रतीति सम्बध्यते इषेराभीक्ष्ण्यार्थस्य गत्यर्थस्य चेहासम्भवादिच्छार्थस्यैवैतद्रूपमिति गम्यते । इषितमिति इट्प्रयोगस्तुच्छान्दसः । तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितमित्येतत् ।

केन इषितम्—किस कर्ताके द्वारा इच्छित अर्थात् अभिप्रेत हुआ मन अपने विषयकी ओर जाता है—यहाँ 'पतति' क्रियाके साथ 'स्वविषयं प्रति' का सम्बन्ध (अन्वय) है । यहाँ आभीक्ष्ण्य और गत्यर्थक* 'इष्' धातु सम्भव न होनेके कारण यह इच्छार्थक 'इष्' धातुका ही [इषितम्] रूप है—ऐसा जाना जाता है । ['इष्टम्' के स्थानमें 'इषितम्'] यह इट्प्रयोग छान्दस (वैदिक) † है । उस प्र-पूर्वक 'इष्' धातुका ही प्रेरणा-अर्थमें

वाक्य-भाष्य

तन्नासति चेतनावत्यधिष्ठातरि उपपद्यते । तद्विशेषस्य चानधिगमाच्चेतनावत्सामान्ये चाधिगते विशेषार्थः प्रश्न उपपद्यते ।

प्रवृत्त हो रही हैं उनकी प्रवृत्ति बिना किसी चेतन अधिष्ठाताके बन नहीं सकती । इस प्रकार सामान्य चेतनका ज्ञान होनेपर भी उसके विशेष रूपका ज्ञान न होनेके कारण यह विशेष-विषयक प्रश्न उचित ही है ।

केनेषितम् केनेष्टं कस्येच्छामात्रेण मनः पतति गच्छति स्वविषये नियमेन व्याप्रियत इत्यर्थः । मनुतेऽनेनेति विज्ञाननिमित्तमन्तःकरणं मनः प्रेषितम् इवेत्युपमार्थः । न त्विषित

केन इषितम्—किससे इच्छा किया हुआ अर्थात् किसकी इच्छामात्रसे मन अपने विषयोंकी ओर गिरता अर्थात् जाता है ? यानी वह किसकी इच्छासे अपने विषयमें नियमानुसार व्यापार करता है ? जिससे मनन करते हैं वह विज्ञाननिमित्तक अन्तःकरण मन है । यहाँ 'किसके द्वारा प्रेषित हुआ-सा'—ऐसा उपमापरक अर्थ लेना चाहिये ।

* इष् धातुके अर्थ आभीक्ष्ण्य (बारम्बार होना) गति और इच्छा हैं ।

† व्याकरणका यह सिद्धान्त है कि 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' वेदमें जो प्रयोग जैसे देखे गये हैं वहाँके लिये उनका वैसा ही विधान माना गया है ।

पद-भाष्य

तत्र प्रेषितमित्येवोक्ते प्रेषयितृ-प्रेषणविशेषविषयाकाङ्क्षा स्यात्—केन प्रेषयितृविशेषेण, कीदृशं वा प्रेषणमिति । इषितमिति तु विशेषणे सति तदुभयं निवर्तते, कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थ-विशेषनिर्धारणात् ।

'प्रेषितम्' रूप हुआ है । यदि यहाँ केवल 'प्रेषितम्' इतना ही कहा होता तो प्रेषण करनेवाले और उसके प्रेषण-प्रकारके सम्बन्धमें ऐसी शङ्का हो सकती थी कि किस प्रेषकविशेषके द्वारा और किस प्रकार प्रेषण किया हुआ ? अतः यहाँ 'इषितम्' इस विशेषणके रहनेसे ये दोनों शङ्काएँ निवृत्त हो जाती हैं, क्योंकि 'इससे किसीकी इच्छामात्रसे प्रेषित हुआ' यह विशेष अर्थ हो जाता है ।

यद्येषोऽर्थोऽभिप्रेतः स्यात्, केनेषितमित्येतावतैव सिद्धत्वात्प्रेषितमिति न वक्तव्यम् । अपि च शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यं युक्तमिति इच्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितमित्यर्थविशेषोऽवगन्तुं युक्तः ।

मन्त्रार्थ-मीमांसा

शङ्का—यदि यही अर्थ अभिमत था तो 'केनेषितम्' इतनेहीसे सिद्ध हो सकनेके कारण 'प्रेषितम्' ऐसा और नहीं कहना चाहिये था । इसके अतिरिक्त शब्दोंकी अधि-कतासे अर्थकी अधिकता होनी उचित है इसलिये 'इच्छा' कर्म अथवा वाणी इनमेंसे किसके द्वारा प्रेषित, इस प्रकार प्रेषकविशेषका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होगा ।

वाक्य-भाष्य

प्रेषितशब्दयोरर्थाविह सम्भवतः । न हि शिष्यानिव मनआदीनि विषयेभ्यः प्रेषयत्यात्मा । विविक्त-

'इषित' और 'प्रेषित' शब्दोंके मुख्य अर्थ यहाँके लिये सम्भव नहीं हैं, क्योंकि आत्मा मन आदिको विषयोंकी ओर इस प्रकार नहीं भेजता जैसे गुरु

पद-भाष्य

न, प्रश्नसामर्थ्यात्; देहादिसंघातादनित्यात्कर्मकार्याद्विरक्तः अतोऽन्यत्कूटस्थं नित्यं वस्तु बुभुत्समानः पृच्छतीति सामर्थ्यादुपपद्यते। इतरथा इच्छावाकर्मभिर्देहादिसंघातस्य प्रेरयितृत्वं प्रसिद्धमिति प्रश्नोऽनर्थक एव स्यात्।

एवमपि प्रेषितशब्दस्यार्थो न प्रदर्शित एव।

समाधान—नहीं, प्रश्नकी सामर्थ्यसे यह बात प्रतीत नहीं होती; क्योंकि इससे यह निश्चय होता है कि जो पुरुष देहादि सङ्घातरूप अनित्य कर्म और कार्यसे विरक्त हो गया है और इनसे पृथक् कूटस्थ नित्य वस्तुको जाननेकी इच्छा करनेवाला है वही यह बात पूछ रहा है। अन्यथा इच्छा, वाक् और कर्मके द्वारा तो इस देहादि सङ्घातका प्रेरकत्व प्रसिद्ध ही है [अर्थात् इच्छा, वाणी और कर्मके द्वारा यह देहादि सङ्घात मनको प्रेरित किया करता है—इस बातको तो सभी जानते हैं]। अतः यह प्रश्न निरर्थक ही हो जाता।

शङ्का—किन्तु इस प्रकार भी 'प्रेषित' शब्दका अर्थ तो प्रदर्शित हुआ ही नहीं।

वाक्य-भाष्य

नित्यचित्स्वरूपतया तु निमित्तमात्रं प्रवृत्तौ नित्यचिकित्साधिष्ठातृवत्।

शिष्योंको। वह तो सबसे विलक्षण और नित्य चित्स्वरूप होनेके कारण नित्य चिकित्साके अधिष्ठाता [चकोर पक्षी] के समान उनकी प्रवृत्तिमें केवल निमित्तमात्र है।

१. राजा लोग जब भोजन करते हैं तो उसमें विष मिला हुआ तो नहीं है इसकी परीक्षाके लिये उसे चकोरके सामने रख देते हैं। विषमिश्रित अन्नको देखकर चकोरकी आँखोंका रंग बदल जाता है। इस प्रकार चकोरकी केवल सन्निधिमात्रसे ही राजाकी भोजनमें प्रवृत्ति हो जाती है। इसके लिये उसे और कुछ नहीं करना पड़ता।

पद-भाष्य

न; संशयवतोऽयं प्रश्न इति प्रेषितशब्दस्यार्थविशेष उपपद्यते । किं यथाप्रसिद्धमेव कार्यकारणसंघातस्य प्रेषयितृत्वम्, किं वा संघातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्य इच्छामात्रेणैव मनआदिप्रेषयितृत्वम्, इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं केनेषितं पतति प्रेषितं मन इति विशेषणद्वयमुपपद्यते ।

समाधान—नहीं, यह प्रश्न किसी संशयालुका है इसीसे 'प्रेषित' शब्दका अर्थविशेष उपपन्न हो सकता है [अर्थात् जिसे ऐसा सन्देह है कि] यह प्रेरक-भाव सर्वप्रसिद्ध भूत और इन्द्रियोंके सङ्घातरूप देहमें है, अथवा उस सङ्घातसे भिन्न किसी स्वतन्त्र वस्तुमें ही केवल इच्छामात्रसे मन आदिकी प्रेरकता है ? इस प्रकार इस अभिप्रायको प्रदर्शित करनेके लिये ही 'किसके द्वारा इच्छित और प्रेषित किया हुआ मन [अपने विषयकी ओर] जाता है' ऐसे दो विशेषण ठीक हो सकते हैं ।

मनःप्रभृतीनां पारतन्त्र्य-प्रदर्शनम्

ननु स्वतन्त्रं मनः स्वविषये स्वयं पततीति प्रसिद्धम्; तत्र कथं प्रश्न उपपद्यत इति, उच्यते—यदि स्वतन्त्रं मनः प्रवृत्ति-

यदि कहो कि यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि मन स्वतन्त्र है और वह स्वयं ही अपने विषयोंकी ओर जाता है; फिर उसके विषयमें यह प्रश्न कैसे बन सकता है ? तो इसके उत्तरमें हमारा कहना है कि यदि मन प्रवृत्ति-निवृत्तिमें

वाक्य-भाष्य

प्राण इति नासिकाभवः; प्रकरणात् । प्रथमत्वं प्रचलनक्रियायाः प्राणनिमित्तत्वात्स्वतो

यहाँ प्रकरणवश 'प्राण' शब्दसे नासिकामें रहनेवाला वायु समझना चाहिये । चलन-क्रिया प्राण-निमित्तक होनेसे प्राणको प्रधान माना गया है ।

पद-भाष्य

निवृत्तिविषये स्यात्, तर्हि सर्वस्य अनिष्टचिन्तनं न स्यात् । अनर्थं च जानन्सङ्कल्पयति । अभ्यग्रदुःखे च कार्ये वार्यमाणमपि प्रवर्तत एव मनः । तस्माद्युक्त एव केनेपितमित्यादिप्रश्नः ।

केन प्राणः युक्तः नियुक्तः प्रेरितः सन् प्रैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति । प्रथम इति प्राणविशेषणं स्यात्, तत्पूर्वकत्वात् सर्वेन्द्रियप्रवृत्तीनाम् ।

स्वतन्त्र होता तो सभीको अनिष्ट-चिन्तन होना ही नहीं चाहिये था । किन्तु मन जान-बूझकर भी अनर्थ-चिन्तन करता है और रोके जानेपर भी अत्यन्त दुःखमय कार्यमें भी प्रवृत्त हो ही जाता है । अतः 'केनेषितम्' इत्यादि प्रश्न उचित ही है ।

किसके द्वारा नियुक्त यानी प्रेरित हुआ प्राण अपने व्यापारमें प्रवृत्त होता है ? 'प्रथम' यह प्राणका विशेषण हो सकता है, क्योंकि समस्त इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियाँ प्राण-पूर्वक ही होती हैं ।

वाक्य-भाष्य

विषयावभासमात्रं करणानां प्रवृत्तिः । चलिक्रिया तु प्राणस्यैव मनआदिषु । तस्मात्प्राथम्यं प्राणस्य । प्रैति गच्छति युक्तः प्रयुक्त इत्येतत् । वाचो वदनं किंनिमित्तं प्राणिनां चक्षुःश्रोत्रयोश्च को देवः प्रयोक्ता । करणानाम् अधिष्ठाता चेतनावान्यः स किंविशेषण इत्यर्थः ॥ १ ॥

इन्द्रियोंकी स्वतः प्रवृत्ति तो केवल विषयोंका प्रकाशनमात्र ही है । मन आदिमें चलन-क्रिया तो प्राणहीकी है; इसीलिये प्राणकी प्रधानता है । वह प्राण किससे युक्त अर्थात् प्रेरित होकर गमन करता यानी चलता है । वाणीका भाषण भी किस निमित्तसे होता है ? प्राणियोंके नेत्र और श्रोत्रोंको प्रेरित करनेवाला कौन देव है ? अर्थात् जो चेतन तत्त्व इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है वह किन विशेषणोंसे युक्त है ? ॥ १ ॥

पद-भाष्य

केन इषितां वाचम् इमां शब्दलक्षणां वदन्ति लौकिकाः। तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवः द्योतनवान् युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति ॥ १ ॥

लौकिक पुरुष किसके द्वारा इच्छित यह शब्दरूपा वाणी बोलते हैं ? तथा कौन देव—द्योतनवान् (प्रकाशमान) व्यक्ति चक्षु एवं श्रोत्रेन्द्रियको अपने-अपने व्यापारमें नियुक्त—प्रेरित करता है ॥ १ ॥

पद-भाष्य

एवं पृष्टवते योग्यायाह गुरुः। शृणु यत् त्वं पृच्छसि, मनआदिकरणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता कथं वा प्रेरयतीति।

इस प्रकार पूछनेवाले योग्य शिष्यसे गुरुने कहा—तू जो पूछता है कि मन आदि इन्द्रिय-समूहको अपने विषयोंकी ओर प्रेरित करनेवाला कौन देव है और वह उन्हें किस प्रकार प्रेरित करता है, सो सुन—

आत्माका सर्वनियन्तृत्व

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

जो श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन और वाणीका भी वाणी है वही प्राणका प्राण और चक्षुका चक्षु है [—ऐसा जानकर] धीर पुरुष संसारसे मुक्त होकर इस लोकसे जाकर अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

पद-भाष्य

श्रोत्रस्य श्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्, शब्दस्य श्रवणं प्रति करणं शब्दाभिव्यञ्जकं श्रोत्र-

श्रोत्रस्य श्रोत्रम्—जिससे श्रवण करते हैं वह 'श्रोत्र' है अर्थात् शब्दके श्रवणमें साधन यानी शब्दका अभिव्यञ्जक श्रोत्रेन्द्रिय है।

पद-भाष्य

मिन्द्रियम्, तस्य श्रोत्रं सः यस्त्वया पृष्टः 'चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति' इति ।

उसका भी श्रोत्र वह है जिसके विषयमें तूने पूछा है कि 'चक्षु और श्रोत्रको कौन देव नियुक्त करता है ?'

असावेवंविशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्त इति वक्तव्ये, नन्वेतदननुरूपं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति ।

शङ्का—प्रश्नके उत्तरमें तो यह बतलाना चाहिये था कि इस प्रकारके गुणोंवाला व्यक्ति श्रोत्रादिको प्रेरित करता है; उसमें यह कहना कि वह श्रोत्रका श्रोत्र है—ठीक उत्तर नहीं है ।

नैष दोषः, तस्यान्यथा विशेषानवगमात् । यदि हि श्रोत्रादिव्यापारव्यतिरिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादिनियोक्ता

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उस प्रेरकका और किसी प्रकार कोई विशेष रूप नहीं जाना जा सकता । यदि दराँती आदिका प्रयोग करनेवालेके समान

वाक्य-भाष्य

श्रोत्रस्य श्रोत्रम् इत्यादि प्रतिवचनं निर्विशेषस्य निमित्तत्वार्थम् । विक्रियादिविशेषरहितस्यात्मनो मनआदिप्रवृत्तौ निमित्तत्वम् इत्येतच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिप्रतिवचनस्यार्थः अनुगमात् । तदनुगतानि ह्यत्रास्मिन्नर्थेऽक्षराणि ।

'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि उत्तर देना निर्विशेष आत्माका निमित्तत्व बतलानेके लिये है । इस 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिरूपसे उत्तर देनेका यही तात्पर्य है कि विक्रिया आदि समस्त विशेषोंसे रहित आत्माका मन आदिकी प्रवृत्तिमें कारणत्व है[1] यही इससे जाना जाता है, क्योंकि इस श्रुतिके अक्षर भी इसी अर्थमें अनुगत हैं ।

---

१. अर्थात् वह सर्वथा निर्विकार और निर्विशेष होनेपर भी मन आदिको प्रेरित करनेवाला है ।

पद-भाष्य

अवगम्येत दात्रादिप्रयोक्तृवत्, तदेदमननुरूपं प्रतिवचनं स्यात् । न त्विह श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता स्वव्यापारविशिष्टो लवित्रादिवदधिगम्यते । श्रोत्रादीनामेव तु संहतानां व्यापारेणालोचनसङ्कल्पाध्यवसायलक्षणेन फलावसानलिङ्गेनावगम्यते—अस्ति हि श्रोत्रादिभिरसंहतः यत्प्रयोजनप्रयुक्तः श्रोत्रादिकलापः गृहादिवदिति । संहतानां परार्थत्वाद्

श्रोत्रादि व्यापारसे अतिरिक्त किसी अपने व्यापारसे विशिष्ट कोई श्रोत्रादिका नियोक्ता ज्ञात होता तो यह उत्तर अनुचित होता । किन्तु यहाँ खेत काटनेवालेके समान कोई श्रोत्रादिका स्वव्यापारविशिष्ट प्रयोक्ता ज्ञात नहीं है । अवयव-सहयोगसे उत्पन्न हुए श्रोत्रादिका जो चिदाभासकी फलव्याप्तिका लिङ्गरूप आलोचना, सङ्कल्प एवं निश्चय आदिरूप व्यापार है उसीसे यह जाना जाता है कि गृह आदिके समान जिसके प्रयोजनसे श्रोत्रादि कारण-कलाप प्रवृत्त हो रहा है वह श्रोत्रादिसे असंहत (पृथक्) कोई तत्त्व अवश्य है । संहत पदार्थ

वाक्य-भाष्य

कथम् ? शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्; तस्य शब्दावभासकत्वं श्रोत्रत्वम् । शब्दोपलब्धृरूपतयावभासकत्वं न स्वतः, श्रोत्रस्याचिद्रूपत्वात्, आत्मनश्च चिद्रूपत्वात् ।

यच्छ्रोत्रस्योपलब्धृत्वेनावभासकत्वं तदात्मनिमित्तत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्युच्यते; यथा

कैसे ? [सो इस प्रकार कि] जिससे प्राणी सुनते हैं उसे 'श्रोत्र' कहते हैं । उसका जो शब्दको प्रकाशित करना है वह 'श्रोत्रत्व' है । श्रोत्रका जो शब्दके उपलब्धारूपसे प्रकाशकत्व है वह स्वतः नहीं है; क्योंकि वह अचेतन है और आत्मा चेतनरूप है ।

श्रोत्रका जो उपलब्धारूपसे अवभासकत्व है वह आत्मनिमित्तिक होनेसे आत्माको 'श्रोत्रका श्रोत्र' ऐसा कहा जाता है, जैसे क्षत्रिय

पद-भाष्य

अवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता तस्मादनुरूपमेवेदं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि ।

परार्थ (दूसरेके साधनरूप) हुआ करते हैं; इसीसे कोई श्रोत्रादिका प्रयोक्ता अवश्य है—यह जाना जाता है । अतः यह 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि उत्तर ठीक ही है ।

कः पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेः ? न ह्यत्र श्रोत्रस्य श्रोत्रान्तरेणार्थः, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरेण ।

आत्मनः श्रोत्रादिप्रकाशकत्वम्

शङ्का—किन्तु इस 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि पदका यहाँ क्या अर्थ अभिप्रेत है ? क्योंकि जिस तरह एक प्रकाशको दूसरे प्रकाशका प्रयोजन नहीं होता उसी तरह एक श्रोत्रको दूसरे श्रोत्रसे तो कोई प्रयोजन है ही नहीं ।

नैष दोषः । अयमत्र पदार्थः—श्रोत्रं तावत्स्वविषयव्यञ्जनसमर्थं दृष्टम् । तत्तु स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे

समाधान—यह भी कोई दोष नहीं है । यहाँ इस पदका अर्थ इस प्रकार है—श्रोत्र अपने विषयको अभिव्यक्त करनेमें समर्थ है—यह देखा ही जाता है । किन्तु श्रोत्रका वह अपने विषयको अभि-

वाक्य-भाष्य

क्षत्रस्य क्षत्रं यथा वोदकस्यौष्ण्यमग्निनिमित्तमिति दग्धुरप्युदकस्य दग्धाग्निरुच्यते; उदकमपि ह्यग्निसंयोगादग्निरुच्यते, तद्वद् अनित्यं यत्संयोगादुपलब्धृत्वं तत्करणं श्रोत्रादि । उदकस्येव

जातिका [नियामक कर्म] क्षत्र कहलाता है; अथवा जैसे [उष्ण] जलकी उष्णता अग्निके कारण होती है; इसलिये उस जलानेवाले जलका भी जलानेवाला अग्नि कहा जाता है; और अग्निके संयोगसे जल भी अग्नि कहा जाता है, उसी प्रकार [प्रमाता आत्मामें] जिनके संयोगसे अनित्य उपलब्धृत्व है वे श्रोत्रादि करण कहलाते

पद-भाष्य

सति भवति, न असति इति । अतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते । तथा च श्रुत्यन्तराणि—"आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते" (बृ० उ० ४ । ३ । ६)"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (क० उ० २ । २ । १५, श्वे० ६ । १४, मु० २ । २ । १०) "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" (तै० ब्रा० ३ । १२ । ९ । ७) इत्यादीनि । "यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्" (गीता १५।१२) "क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" (गीता १३ । ३३)इति च गीतासु । काठके च "नित्यो

व्यक्त करनेका सामर्थ्य नित्य, असंहत, सर्वान्तर चेतन आत्मज्योतिके रहनेपर ही रह सकता है, न रहनेपर नहीं रह सकता । अतः उसे 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि कहना उचित ही है । "यह अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है" "उसके प्रकाशसे ही यह सब प्रकाशित होता है" "जिस तेजसे प्रदीप्त हुआ सूर्य तपता है" इत्यादि श्रुतियाँ भी इसी अर्थकी द्योतक हैं । तथा गीतामें भी कहा है—"जो तेज सूर्यमें स्थित होकर सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है ।" "हे भारत ! इसी प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्रको क्षेत्री प्रकाशित करता है ।" कठोपनिषद्में भी कहा है—"वह नित्योंका नित्य और चेतनोंका

वाक्य-भाष्य

दग्धृत्वमनित्यं हि तत्र तत् । यत्र तु नित्यमुपलब्धृत्वमग्नाविवौष्ण्यं स नित्योपलब्धिस्वरूपत्वाद्दग्धेवोपलब्धोच्यते । श्रोत्रादिषु श्रोतृत्वाद्युपलब्धिरनित्या नित्या चात्मन्यतः श्रोत्रस्य

हैं । जलके दाहकत्वके समान आत्मामें उपलब्धृत्व अनित्य ही है । जैसे अग्निमें नित्य उष्णता रहनेके कारण वह दग्धा कहलाता है उसी प्रकार जिसमें नित्य-उपलब्धृत्व रहता है वह नित्य उपलब्धिस्वरूप होनेके कारण उपलब्धा कहा जाता है । श्रोत्रादि निमित्तोंके होनेपर जो आत्मामें श्रोतृत्वादिकी उपलब्धि होती है वह अनित्य है और केवल आत्मामें वह नित्य है, अतः 'श्रोत्रस्य

पद-भाष्य

नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (२ । २।१३) इति । श्रोत्राद्येव सर्वस्यात्मभूतं चेतनमिति प्रसिद्धम्; तदिह निवर्त्यते । अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थमजमजरममृतमभयं श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि तत्सामर्थ्यनिमित्तम् इति प्रतिवचनं शब्दार्थश्चोपपद्यत एव ।

चेतन है" इत्यादि । श्रोत्रादि इन्द्रियवर्ग ही सबका आत्मभूत चेतन है—यह बात [लोकमें] प्रसिद्ध है । उस भ्रान्तिका इस पदसे निराकरण किया जाता है । अतः श्रोत्रादिका भी श्रोत्रादि अर्थात् उनकी सामर्थ्यका निमित्तभूत ऐसा कोई पदार्थ है जो आत्मवेत्ताओंकी बुद्धिका विषय, सबसे अन्तरतम, कूटस्थ, अजन्मा, अजर, अमर और अभयरूप है—इस प्रकार यह उत्तर और शब्दार्थ ठीक ही है ।

तथा मनसः अन्तःकरणस्य मनः । न ह्यन्तःकरणम् अन्तरेण चैतन्यज्योतिषो दीधितिं स्वविषयसङ्कल्पाध्यवसायादिसमर्थं स्यात् । तस्मान्मनसोऽपि मन इति । इह बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशो मनस इति ।

इसी प्रकार वह मनका—अन्तःकरणका मन है, क्योंकि चिज्ज्योतिके प्रकाशके विना अन्तःकरण अपने विषय सङ्कल्प और अध्यवसाय (निश्चय) आदिमें समर्थ नहीं हो सकता । अतः वह मनका भी मन है; यहाँ बुद्धि और मनको एक मानकर मनका निर्देश किया गया है ।

वाक्य-भाष्य

श्रोत्रमित्याद्यक्षराणामर्थानुगमाद् उपपद्यते निर्विशेषस्योपलब्धिस्वरूपस्यात्मनो मनआदिप्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति । मनआदिष्वेवं यथोक्तम् ।

'श्रोत्रम्' इत्यादि अक्षरोंके अर्थके अनुगमसे नित्योपलब्धिस्वरूप निर्विशेष आत्माका मन आदिकी प्रवृत्तिमें कारण होना ठीक ही है । इसी प्रकार [जैसा कि 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'के विषयमें कहा गया है] मन, वाक् और प्राणादिके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये ।

पद-भाष्य

यद्वाचो ह वाचम्; यच्छब्दो यस्मादर्थे श्रोत्रादिभिः सर्वैः सम्बध्यते—यस्माच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रम्, यस्मान्मनसो मन इत्येवम्। वाचो ह वाचमिति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते, प्राणस्य प्राण इति दर्शनात्। वाचो ह वाचमित्येतदनुरोधेन प्राणस्य प्राणमिति कस्माद्द्वितीयैव न क्रियते ? न; बहूनामनुरोधस्य युक्तत्वात्। वाचमित्यस्य वागित्येतावद्वक्तव्यं स उ प्राणस्य प्राण इति शब्दद्वयानुरोधेन; एवं हि बहूनामनुरोधो युक्तः कृतः स्यात्।

यद्वाचो ह वाचम्—इस वाक्यके 'यत्' शब्दका 'यस्मात्' अर्थ (हेत्वर्थ) में 'क्योंकि वह श्रोत्रका श्रोत्र है, क्योंकि वह मनका मन है' इस प्रकार श्रोत्रादि सभी पदोंसे सम्बन्ध है । 'वाचो ह वाचम्' इस पदसमूहमें 'वाचम्' पदकी द्वितीया विभक्ति प्रथमा विभक्तिके रूपमें परिणत कर ली जाती है, जैसा कि 'प्राणस्य प्राणः' में देखा जाता है । यदि कहो कि 'वाचो ह वाचम्' इस प्रयोगके अनुरोधसे 'प्राणस्य प्राणम्' इस प्रकार द्वितीया ही क्यों नहीं कर ली जाती ? तो ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि बहुतोंका अनुरोध मानना ही युक्तिसङ्गत है । अतः 'स उ प्राणस्य प्राणः' इस पदसमूहके [स और प्राणः] दो शब्दोंके अनुरोधसे 'वाचम्' इस शब्दको ही 'वाक्' इतना कहना चाहिये । ऐसा करनेसे ही बहुतोंका अनुरोध युक्त (स्वीकार) किया समझा जायगा ।

वाक्य-भाष्य

वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इति विभक्तिद्वयं सर्वत्रैव द्रष्टव्यम्। कथम् ? पृष्टत्वात्स्वरूपनिर्देशः; प्रथमयैव च निर्देशः। तस्य च

यहाँ 'वाचो ह वाचम्' तथा 'प्राणस्य प्राणः' इस प्रकार [पिछले पदमें] सर्वत्र ही [प्रथमा और द्वितीया] दो विभक्ति समझनी चाहिये, क्यों ? क्योंकि आत्मा-विषयक प्रश्न होनेके कारण उसके स्वरूपका निर्देश किया गया है और निर्देश प्रथमा विभक्तिसे ही किया जाता है; तथा आत्मा ही

पद-भाष्य

पृष्टं च वस्तु प्रथमयैव निर्देष्टुं युक्तम् । स यस्त्वया पृष्टः प्राणस्य प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य प्राणः तत्कृतं हि प्राणस्य प्राणनसामर्थ्यम् । न ह्यात्मनानधिष्ठितस्य प्राणनमुपपद्यते, "को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० उ० २ । ७ । १) "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति" (क० उ० २ । २ । ३) इत्यादिश्रुतिभ्यः । इहापि च वक्ष्यते येन प्राणः प्रणीयते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इति । श्रोत्रादीन्द्रियप्रस्तावे प्राण-

इसके सिवा, पूछी हुई वस्तुका निर्देश प्रथमा विभक्तिसे ही करना उचित है । [अभिप्राय यह कि] जिसके विषयमें तूने पूछा है वह प्राणका यानी प्राण नामक वृत्तिविशेषका प्राण है । उसके कारण ही प्राणका प्राणनसामर्थ्य है, क्योंकि आत्मासे अनधिष्ठित प्राणका प्राणन सम्भव नहीं है, जैसा कि "यदि यह आनन्दस्वरूप आकाश न होता तो कौन जीवित रहता और कौन श्वासोच्छ्वास करता" "यह प्राणको ऊपर ले जाता है तथा अपानको नीचेकी ओर छोड़ता है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है । यहाँ (इस उपनिषद्में) भी यह कहेंगे ही कि जिसके द्वारा प्राण प्राणन करता है उसीको तू ब्रह्म जान ।

शङ्का—परन्तु यहाँ श्रोत्रादि

वाक्य-भाष्य

ज्ञेयत्वात्कर्मत्वमिति द्वितीया । अतो वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इत्यस्मात्सर्वत्रैव विभक्तिद्वयम् ।

ज्ञेय है, इसलिये उसमें कर्मत्व रहनेके कारण द्वितीया भी ठीक है । अतः 'वाचो ह वाचम्' तथा 'प्राणस्य प्राणः' इस कथनके अनुसार सभी जगह दो विभक्ति समझनी चाहिये । [अर्थात् सभी पदोंमें ये दोनों विभक्तियाँ रह सकती हैं ।]

पद-भाष्य

स्यैव ग्रहणं युक्तं न तु प्राणस्य ।

इन्द्रियोंके प्रसङ्गमें घ्राणको ही ग्रहण करना युक्तियुक्त है, प्राणको नहीं ।

सत्यमेवम्; प्राणग्रहणेनैव तु घ्राणस्य ग्रहणं कृतमेव मन्यते श्रुतिः । सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिः; तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः ।

समाधान—यह ठीक है । किन्तु श्रुति, प्राणको ग्रहण करनेसे ही घ्राणका भी ग्रहण किया मानती है । इस प्रकरणको यही अर्थ बतलाना अभीष्ट है कि जिसके लिये सम्पूर्ण इन्द्रिय-समूहकी प्रवृत्ति है वही ब्रह्म है ।

तथा चक्षुषश्चक्षू रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं तदात्मचैतन्याधिष्ठितस्यैव । अतः चक्षुषश्चक्षुः ।

तथा [वह ब्रह्म] चक्षुका चक्षु है । रूपको प्रकाशित करनेवाले चक्षु-इन्द्रियमें जो रूपको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य है वह आत्म-चैतन्यसे अधिष्ठित होनेके कारण ही है । इसलिये वह चक्षुका चक्षु है ।

आत्मविदोऽमृतत्वनिरूपणम्

प्रष्टुः पृष्टस्यार्थस्य ज्ञातुमिष्टत्वात् श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं यथोक्तं ब्रह्म 'ज्ञात्वा' इत्यध्याह्रियते; अमृता भवन्ति इति

प्रश्न—कर्ताको अपने पूछे हुए पदार्थको जाननेकी इच्छा हुआ ही करती है, इसलिये, तथा 'अमृता भवन्ति' (अमर हो जाते हैं) ऐसी फलश्रुति होनेके कारण भी उपर्युक्त

वाक्य-भाष्य

आत्मज्ञानेन अमृतत्वनिरूपणम्

यदेतच्छ्रोत्राद्युपलब्धिनिमित्तं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिलक्षणं नित्योपलब्धिस्वरूपं निर्विशेषमात्मतत्त्वं तद्बुद्ध्वातिमुच्यानवबोधनिमित्ताध्यारोपिताद् बुद्ध्यादिलक्ष-

यह जो श्रोत्रादिकी उपलब्धिका निमित्तभूत तथा 'श्रोत्रका श्रोत्र' इत्यादि लक्षणोंवाला नित्योपलब्धि-स्वरूप निर्विशेष आत्मतत्त्व है उसे जानकर, अज्ञानके कारण आरोपित बुद्धि आदि लक्षणोंवाले संसारसे छूटकर—उससे मुक्त होकर, धीर—

पद-भाष्य

फलश्रुतेश्च । ज्ञानाद्धयमृतत्वं प्राप्यते । ज्ञात्वा विमुच्यते इति सामर्थ्यात् । श्रोत्रादिकरणकलापमुज्झित्वा—श्रोत्रादौ ह्यात्मभावं कृत्वा, तदुपाधिः सन्, तदात्मना जायते म्रियते संसरति च । अतः श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्मात्मेति विदित्वा, अतिमुच्य श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यज्य—ये श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यजन्ति, ते धीरा धीमन्तः; न हि विशिष्टधीमत्त्वमन्तरेण श्रोत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुम्—प्रेत्य

श्रोत्रादिके श्रोत्रादिरूप ब्रह्मको जानकर—इस प्रकार यहाँ 'ज्ञात्वा' क्रियाका अध्याहार किया जाता है, क्योंकि अमरत्वकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है, जैसा कि '[ब्रह्मको] जानकर मुक्त हो जाता है' इस उक्तिकी सामर्थ्यसे सिद्ध होता है । जीव श्रोत्रादि करणकलापको त्यागकर—श्रोत्रादिमें ही आत्मभाव करके उनकी उपाधिसे युक्त होकर जन्मता, मरता और संसारको प्राप्त होता है । अतः श्रोत्रादिका श्रोत्रादिरूप ब्रह्म ही आत्मा है ऐसा जानकर और अतिमोचन करके अर्थात् श्रोत्रादिमें आत्मभावको त्यागकर धीर पुरुष 'प्रेत्य' अर्थात् पुत्र, मित्र, कलत्र और बन्धुओंमें अहंता-ममताके व्यवहाररूप इस लोकसे विलग होकर यानी सम्पूर्ण एषणाओंसे मुक्त

वाक्य-भाष्य

णात्संसारान्मोक्षणं कृत्वा धीरा धीमन्तः प्रेत्यास्माल्लोकाच्छरीरात् प्रेत्य वियुज्यान्यस्मिन्नप्रतिसन्धीयमाने निर्निमित्तत्वादमृता भवन्ति ।

बुद्धिमान् लोग इस लोकसे जाकर अर्थात् इस शरीरसे पृथक् होकर दूसरे शरीरका अनुसन्धान न करनेके कारण अन्य कोई प्रयोजन न रहनेसे अमृत हो जाते हैं ।

सति ह्यज्ञाने कर्माणि शरीरान्तरं प्रतिसन्दधते । आत्मावबोधे तु सर्वकर्मारम्भनिमित्ता-

अज्ञानके रहनेतक ही कर्म दूसरे शरीरकी खोज किया करते हैं । आत्मज्ञान हो जानेपर तो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भक अज्ञानसे विपरीत ज्ञानरूप अग्निद्वारा कर्मोंके दग्ध

पद-भाष्य

व्यावृत्य अस्मात् लोकात् पुत्रमित्रकलत्रबन्धुषु ममाहंभावसंव्यवहारलक्षणात्, त्यक्तसर्वैषणा भूत्वेत्यर्थः अमृता अमरणधर्माणो भवन्ति ।

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (कैवल्य० १ । २) "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" (क०उ० २ । १ । १) "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः······ अत्र ब्रह्म समश्नुते" (क० उ० २ । ३ । १४) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

होकर अमृत—अमरणधर्मा हो जाते हैं । जो लोग श्रोत्रादिमें आत्मभावका त्याग करते हैं वे धीर यानी बुद्धिमान् होते हैं । क्योंकि विशिष्ट बुद्धिमत्त्वके बिना श्रोत्रादिमें आत्मभावका त्याग नहीं किया जा सकता ।

"कर्मसे, प्रजासे अथवा धनसे नहीं, किन्हीं-किन्हींने केवल त्यागसे ही अमरत्व लाभ किया है" "स्वयम्भूने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है इसलिये जीव बाह्य वस्तुओंको ही देखता है, अपने अन्तरात्माको नहीं देखता । कोई बुद्धिमान् पुरुष अमरत्वकी इच्छासे इन्द्रियोंको रोककर अपने प्रत्यगात्माको देखता है" "जिस समय इसके हृदयकी कामनाएँ छूट जाती हैं····इस अवस्थामें वह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही सिद्ध होता है । अथवा एषणात्याग तो 'अतिमुच्य' इस

वाक्य-भाष्य

ज्ञानविपरीतविद्याग्निविप्लुष्टत्वात् कर्मणामनारम्भेऽमृता एव भवन्ति । शरीरादिसन्तानाविच्छेदप्रतिसन्धानाद्यपेक्षयाध्यारोपित-

हो जानेपर फिर प्रारब्ध निःशेष हो जानेके कारण वे अमृत ही हो जाते हैं । [अनादि संसारपरम्परासे 'मैं शरीर हूँ' ऐसे अध्यासके कारण] 'पुनः-पुनः शरीरप्राप्तिरूप परम्पराका विच्छेद न हो' ऐसा अनुसन्धान करते रहनेके कारण अपने ऊपर आरोपित

पद-भाष्य

अथवा, अतिमुच्येत्यनेनैवैषणात्यागस्य सिद्धत्वाद् अस्माल्लोकात् प्रेत्य अस्माच्छरीरादपेत्य मृत्वेत्यर्थः ॥ २ ॥

पदसे ही सिद्ध हो जाता है, अतः 'अस्माल्लोकात्प्रेत्य' का यह भाव समझना चाहिये कि इस शरीरसे अलग होकर यानी मरकर [अमर हो जाते हैं] ॥ २ ॥



यस्माच्छ्रोत्रादेरपि श्रोत्राद्यात्मभूतं ब्रह्म अतः ।

क्योंकि ब्रह्म श्रोत्रादिका भी श्रोत्रादिरूप है, इसलिये—

आत्माका अज्ञेयत्व और अनिर्वचनीयत्व

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥३॥

वहाँ (उस ब्रह्मतक) नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता । अतः जिस प्रकार शिष्यको इस ब्रह्मका उपदेश करना चाहिये, वह हम नहीं जानते—वह हमारी समझमें नहीं आता । वह विदितसे अन्य ही है तथा अविदितसे भी परे है—ऐसा हमने पूर्वपुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया था ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि चक्षुः गच्छति, स्वात्मनि गमनासम्भवात् । तथा न वाग् गच्छति ।

वहाँ—उस ब्रह्ममें नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, क्योंकि अपनेहीमें अपनी गति होनी असम्भव है । और न वाणी

वाक्य-भाष्य

मृत्युवियोगात्पूर्वमप्यमृताः सन्तो नित्यात्मस्वरूपवत्त्वादमृता भवन्ति इत्युपचर्यते ॥ २ ॥

की हुई अज्ञानरूप मृत्युका वियोग होनेसे पूर्व भी नित्य आत्मस्वरूप होनेके कारण यद्यपि अमृत ही रहते हैं तथापि अमर होते हैं—ऐसा उपचारसे कहा जाता है ॥ २ ॥

पद-भाष्य

वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणोऽभिधेयं प्रकाशयति यदा, तदाभिधेयं प्रति वाग्गच्छतीत्युच्यते। तस्य च शब्दस्य तन्निर्वर्तकस्य च करणस्यात्मा ब्रह्म। अतो न वाग्गच्छति यथाग्निर्दाहकः प्रकाशकश्चापि सन् न ह्यात्मानं प्रकाशयति दहति वा, तद्वत्।

नो मनः मनश्चान्यस्य सङ्कल्पयितृ अध्यवसायितृ च सत् नात्मानं सङ्कल्पयत्यध्यवस्यति च, तस्यापि ब्रह्मात्मेति। इन्द्रिय-

ही पहुँचती है। जिस समय वाणीसे उच्चारण किया हुआ शब्द अपने वाच्यको प्रकाशित करता है उस समय ही, अपने वाच्यतक वाणी पहुँचती है—ऐसा कहा जाता है। किन्तु ब्रह्म तो शब्द और उसका व्यवहार करनेवाले इन्द्रियका आत्मा है। अतः वाणी वहाँ उसी प्रकार नहीं पहुँच सकती, जैसे कि अग्नि दाहक और प्रकाशक होनेपर भी अपनेको न जलाता है और न प्रकाशित ही करता है।

और न मन ही [वहाँतक जाता है]। मन भी अन्य पदार्थोंका सङ्कल्प और निश्चय करनेवाला होता हुआ भी अपना सङ्कल्प या निश्चय नहीं करता है, क्योंकि ब्रह्म

वाक्य-भाष्य

न तत्र चक्षुर्गच्छति इत्युक्तेऽपि पर्यनुयोगे हेतुरप्रतिपत्तेः। श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्येवमादिना उक्तेऽप्यात्मतत्त्वेऽप्रतिपन्नत्वात् सूक्ष्मत्वहेतोर्वस्तुनः पुनः पुनः पर्यनुयुयुक्षाकारणमाह—न तत्र चक्षुर्गच्छतीति। तत्र श्रोत्रा-

यद्यपि आचार्यने तत्त्वका निरूपण कर दिया तो भी न समझनेके कारण शिष्यके पुनः प्रश्न करनेमें 'वहाँ नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती' इत्यादि कारण है। अर्थात् 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि श्रुतिसे आत्मतत्त्वका निरूपण कर दिये जानेपर भी आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण समझमें न आनेसे शिष्यको जो पुनः पूछनेकी इच्छा हुई उसका कारण 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' इत्यादि श्रुतिसे बतलाया गया है।

पद-भाष्य

मनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानम् । तदगोचरत्वान्न विद्मः तद्ब्रह्म ईदृशमिति ।

अतो न विजानीमो यथा येन प्रकारेण एतद् ब्रह्म अनुशिष्याद् उपदिशेच्छिष्यायेत्यभिप्रायः । यद्धि करणगोचरं तदन्यस्मै उपदेष्टुं शक्यं जातिगुणक्रिया-विशेषणैः । न तज्जात्यादिविशेषण-वद्ब्रह्म तस्माद्विषमं शिष्यानुपदेशेन

उसका भी आत्मा है । इन्द्रिय और मनसे ही वस्तुका ज्ञान हुआ करता है; उनका अविषय होनेके कारण हम यह नहीं जानते कि वह ब्रह्म ऐसा है ।

अतः जिस प्रकारसे इस ब्रह्मका अनुशासन—शिष्यके प्रति उपदेश किया जाय—यह हम नहीं जानते ऐसा इसका अभिप्राय है । जो वस्तु इन्द्रियोंका विषय होती है उसीका जाति, गुण और क्रियारूप विशेषणोंद्वारा दूसरेको उपदेश किया जा सकता है । किन्तु ब्रह्म उन जाति आदि विशेषणोंवाला नहीं है । अतः शिष्योंको उपदेश-द्वारा उसकी प्रतीति कराना बहुत

वाक्य-भाष्य

द्यात्मभूते चक्षुरादीनि वाक्-चक्षुषोः सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थ-त्वान्न विज्ञानमुत्पादयन्ति ।

सुखादिवत्तर्हि गृह्येतान्तःकर-णेनात आह—नो मनः । न सुखादिवन्मनसो विषयस्तत्; इन्द्रियाविषयत्वात् ।

श्रोत्रादिके आत्मस्वरूप उस आत्म-तत्त्वके विषयमें चक्षु आदि इन्द्रियाँ ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकतीं; क्योंकि यहाँ वाक् और चक्षु सभी इन्द्रियोंका उपलक्षण करनेके लिये हैं ।

[इसपर सन्देह होता है—] तो फिर सुखादिके समान उसका अन्तःकरणसे ग्रहण हो सकता होगा ? [इसपर कहते हैं—] मन भी उसतक नहीं पहुँचता । वह सुखादिके समान मनका भी विषय नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रियोंका अविषय है ।

पद-भाष्य

प्रत्यायथितुमिति उपदेशे तदर्थग्रहणे च यत्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति ।

कठिन है—इस प्रकार श्रुति उपदेश और उसके अर्थका ग्रहण करनेमें अधिक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता दिखलाती है ।

'न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्' इति अत्यन्तम् एवोपदेशप्रकारप्रत्याख्याने प्राप्ते तदपवादोऽयमुच्यते । सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः; आगमेन तु

[पूर्वोक्त श्रुतिके] 'न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्' इस वाक्यसे उपदेशके प्रकारका अत्यन्त निषेध प्राप्त होनेपर उसका यह अपवाद कहा जाता है । यह ठीक है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे परमात्माकी प्रतीति नहीं करायी जा सकती, किन्तु शास्त्रसे तो

वाक्य-भाष्य

न विद्मो न विजानीमोऽन्तःकरणेन यथैतद्ब्रह्म मनआदिकरणजातमनुशिष्याद् अनुशासनं कुर्यात्प्रवृत्तिनिमित्तं भवेत्तथाविषयत्वान्न विद्मो न विजानीमः ।

यह ब्रह्म मन आदि इन्द्रियसमूहका जिस प्रकार अनुशासन करता है अर्थात् जिस प्रकार उनकी प्रवृत्तिका कारण होता है—इन्द्रियोंका अविषय होनेके कारण—इस सम्बन्धमें अपने अन्तःकरणद्वारा हम कुछ नहीं जानते अर्थात् कुछ नहीं समझते ।

अथवा श्रोत्रादीनां श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्मविशेषेण दर्शयेत्युक्त आचार्य आह न शक्यते दर्शयितुम् । कस्मात् ? न तत्र चक्षुर्गच्छति इत्यादि पूर्ववत्सर्वम् । अत्र तु विशेषो यथैतदनुशिष्यादिति । यथैतदनुशिष्यात् प्रतिपादयेद्

अथवा शिष्यके यह कहनेपर कि 'श्रोत्रादिके श्रोत्रादिरूप ब्रह्मको विशेषरूपसे दिखलाओ' आचार्य कहते हैं कि 'उसे दिखाया नहीं जा सकता ।' क्यों ? 'क्योंकि उसतक नेत्र नहीं पहुँच सकते' इत्यादि प्रकारसे सबका आशय पूर्ववत् समझना चाहिये । यहाँ 'यथैतदनुशिष्यात्' इस वाक्यका विशेष तात्पर्य है; अर्थात् जिस किसी अन्य विधिसे कोई अन्य गुरु अपने

पद-भाष्य

शक्यत एव प्रत्याययितुमिति तदुपदेशार्थमागममाह—

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति। अन्यदेव पृथगेव तद् यत्प्रकृतं श्रोत्रादीनां श्रोत्रा-

उसकी प्रतीति करायी ही जा सकती है—अतः उसके उपदेशके लिये शास्त्रप्रमाण देते हैं—

'वह विदितसे अन्य ही है और अविदितसे भी परे है।' यहाँ जिस प्रकरणप्राप्त श्रोत्रादिके श्रोत्रादि और उनके अविषय ब्रह्मका उल्लेख किया

वाक्य-भाष्य

अन्योऽपि शिष्यानितोऽन्येन विधिनेत्यभिप्रायः।

सर्वथापि ब्रह्म बोधयेत्युक्त आचार्य आह, अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्यागमं विदिताविदिताभ्यामन्यत्वम्। यो हि ज्ञाता स एव सः, सर्वात्मकत्वात्। अतः सर्वात्मनो ज्ञातुर्ज्ञात्रन्तराभावाद्विदितादन्यत्वम्। "स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता" (श्वे० उ० ३।१९) इति च मन्त्रवर्णात्। "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृ० उ० २।४।१४) इति च वाजसनेयके। अपि च व्यक्तमेव

शिष्योंको इसका अनुशासन—प्रतिपादन कर सकता है [वह हम नहीं जानते]।

परन्तु मुझे तो किसी भी तरह ब्रह्मका बोध करा ही दीजिये'—शिष्यके ऐसा कहनेपर आचार्य कहते हैं—'वह ब्रह्म जाने हुएसे अन्य है तथा बिना जानेसे भी परे है'—जाने और न जाने हुएसे भिन्न होना यही उपदेशकी परम्परा है। इसके सिवा जो कोई भी उसको जाननेवाला है वह स्वयं वही है, क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मक है। अतः सबके आत्मारूप उस ज्ञाताके सिवा अन्य ज्ञाताका अभाव होनेके कारण वह, जितना कुछ जाना जाता है उससे भिन्न है; जैसा कि मन्त्रवर्ण भी कहता है—"वह सम्पूर्ण ज्ञेयको जानता है तथा उसका ज्ञाता और कोई नहीं है" तथा वाजसनेय श्रुतिमें भी कहा है—"अरे! उस विज्ञाताको किससे जाने?" इसके सिवा व्यक्तको ही विदित कहा गया है, उससे भिन्न [यानी अव्यक्त]

पद-भाष्य

दीत्युक्तमविषयश्च तेषाम्; तद् विदिताद् अन्यदेव हि । विदितं नाम यद्विदिक्रिययातिशयेनाप्तं विदिक्रियाकर्मभूतं क्वचित् किञ्चित्कस्यचिद्विदितं स्यादिति । सर्वमेव व्याकृतं विदितमेव; तस्मादन्यदेवेत्यर्थः ।

गया है वह विदितसे अन्य—पृथक् ही है । वेदन-क्रियासे अत्यन्त व्याप्त अर्थात् वेदन-क्रियाकी कर्मभूत जो कुछ [नामरूपात्मक] वस्तु कहीं-न-कहीं किसी-न-किसीको ज्ञात है उसीको 'विदित' कहते हैं । अतः सम्पूर्ण व्याकृत वस्तु 'विदित' ही है । उस [विदित वस्तु] से ब्रह्म पृथक् ही है—यह इसका तात्पर्य है ।

वाक्य-भाष्य

विदितं तस्मादन्यदित्यभिप्रायः । यद्विदितं व्यक्तं तदन्यविषयत्वादल्पं सविरोधं ततोऽनित्यमत एवानेकत्वादशुद्धमत एव तद्विलक्षणं ब्रह्मेति सिद्धम् ।

है यही इस [अन्यदेव विदितात्] का तात्पर्य है जो विदित अर्थात् व्यक्त होता है वह दूसरेका विषय होनेके कारण अल्प और सविरोध होता है ऐसा होनेसे अनित्य होता है, अतः अनेक होनेके कारण अशुद्ध भी होता है; इसलिये सिद्ध हुआ कि ब्रह्म उससे भिन्न प्रकारका ही है ।

तर्ह्यविदितम् ।

न; विज्ञानानपेक्षत्वात् । यद्ध्यविदितं तद्विज्ञानापेक्षम् । अविदितविज्ञानाय हि लोकप्रवृत्तिः । इदं तु विज्ञानानपेक्षम् । कस्मात्? विज्ञानस्वरूपत्वात् । न हि यस्य यत्स्वरूपं तत्तेनान्यतोऽपेक्ष्यते । न च स्वत एवापेक्षा अनपेक्षमेव सिद्ध-

ब्रह्मणः स्वीय प्रकाशने अन्यानपेक्षत्वम्

पूर्व०—तो फिर ब्रह्म अज्ञात हुआ ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उसे विज्ञान-(ज्ञात होने) की अपेक्षा नहीं है । जो वस्तु अज्ञात होती है उसके विज्ञानकी अपेक्षा हुआ करती है । अज्ञात वस्तुको जाननेके लिये ही सम्पूर्ण लोकोंकी प्रवृत्ति है; किन्तु ब्रह्मको अपने विज्ञानकी अपेक्षा नहीं है; क्यों ? क्योंकि वह विज्ञानस्वरूप ही है । जिसका जो स्वरूप होता है वह उसीकी दूसरेसे अपेक्षा नहीं रखता और अपनेसे तो अपेक्षा हुआ ही नहीं करती, क्योंकि अपना आप तो सिद्ध

पद-भाष्य

अविदितमज्ञातं तर्हीति प्राप्ते आह—अथो अपि अविदिताद् विदितविपरीतादव्याकृताविद्या-लक्षणाद्व्याकृतबीजात्, अधि इति उपर्यर्थे, लक्षणया अन्यद्

तो फिर ब्रह्म अज्ञात है—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—वह अविदित–विदितसे विपरीत व्याकृत पदार्थोंकी बीजभूत अविद्यारूप अव्याकृतसे भी 'अधि' है।' 'अधि'का अर्थ ऊपर होता है; परन्तु लक्षणासे

वाक्य-भाष्य

त्वात्। प्रदीपः स्वरूपाभिव्यक्तौ न प्रकाशान्तरमन्यतोऽपेक्षते स्वतो वा। यद्ध्यनपेक्षं तत्स्वत एव सिद्धम्। प्रकाशात्मकत्वात् प्रदीपस्यापेक्षितोऽप्यनर्थकः स्यात्, प्रकाशे विशेषाभावात्। न हि प्रदीपस्य स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रदीप-प्रकाशोऽर्थवान्। न चैवमात्मनोऽन्यत्र विज्ञानमस्ति येन स्वरूपविज्ञानेऽप्यपेक्ष्येत।

(प्राप्त) होनेके कारण अपेक्षासे रहित ही है। दीपक अपने स्वरूपकी अभिव्यक्तिके लिये अपनेसे अथवा किसी अन्यसे प्रकाशान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता। इस प्रकार जो अपेक्षा नहीं रखता वह स्वतः सिद्ध ही है। दीपक प्रकाशस्वरूप ही है; अतः अपने स्वरूपकी अभिव्यक्तिके लिये यदि वह प्रकाशान्तरकी अपेक्षा करे तो व्यर्थ ही होगा, क्योंकि प्रकाशमें कोई विशेषता नहीं हुआ करती। एक दीपकके स्वरूपकी अभिव्यक्तिमें किसी अन्य दीपकका प्रकाश सार्थक नहीं होता। इसी प्रकार आत्मासे भिन्न ऐसा कोई विज्ञान नहीं है जो उसके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये अपेक्षित हो।

विरोध इति चेन्नान्यत्वात्।

यदि कहो कि इससे विरोध प्रतीत होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि [आत्मा] इससे भिन्न है।

स्वरूपविज्ञाने विज्ञानस्वरूपत्वाद् विज्ञानान्तरं नापेक्षत इत्येतदसत्। दृश्यते हि विपरीतज्ञानमात्मनि

पूर्व०—तुमने जो कहा कि आत्मा विज्ञानस्वरूप है, इसलिये उसके स्वरूपको जाननेमें किसी अन्य विज्ञान-की अपेक्षा नहीं है—सो ठीक नहीं,

पद-भाष्य

इत्यर्थः । यद्धि यस्मादधि उपरि भवति, तत्तस्मादन्यदिति प्रसिद्धम् ।

ब्रह्मण आत्मभिन्नत्व-प्रतिपादनम्

यद्विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं चेति हेयम् । तस्माद्विदितादन्यद्ब्रह्म इत्युक्ते त्वहेयत्वमुक्तं

इसका अर्थ 'अन्य' करना चाहिये, क्योंकि जो वस्तु जिससे अधि—ऊपर होती है वह उससे अन्य हुआ करती है—यह प्रसिद्ध ही है ।

जो वस्तु विदित होती है वह अल्प, मरणशील एवं दुःखमयी होती है, इसलिये वह हेय (त्याज्य) है । ब्रह्म उस विदित वस्तुसे भिन्न है—

वाक्य-भाष्य

सम्यग्ज्ञानं च; न जानाम्यात्मानमिति । श्रुतेश्च "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८—१६) "आत्मानमेवावेत्" (बृ० उ० १ । ४ । १०) "एतं वै तमात्मानं विदित्वा" (बृ० उ० ३ । ५ । १) इति च । सर्वत्र श्रुतिष्वात्मविज्ञाने विज्ञानान्तरापेक्षत्वं दृश्यते । तस्मात् प्रत्यक्षश्रुतिविरोध इति चेत् ।

न; कस्मात् ? अन्यो हि स आत्मा बुद्ध्यादिकार्यकरणसङ्घाताभिमानसन्तानाविच्छेदलक्षणोऽविवेकात्मको बुद्ध्यवभासप्रधानः चक्षुरादिकरणो नित्यचित्स्वरूपात्मान्तःसारो यत्रानित्यं विज्ञानम् अवभासते । बौद्धप्रत्ययानाम् आ-

क्योंकि आत्मामें भी विपरीत ज्ञान और सम्यक् ज्ञान होता देखा ही जाता है; जैसा कि 'मैं आत्माको नहीं जानता' इत्यादि कथनसे तथा "तू वह (ब्रह्म) है" "आत्माको ही जाना" "उस इस आत्माको निश्चयपूर्वक जानकर" आदि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है । श्रुतियोंमें आत्माके ज्ञानके लिये सर्वत्र ही विज्ञानान्तरकी अपेक्षा देखी जाती है । इसलिये [उपर्युक्त कथनका] प्रत्यक्ष ही श्रुतिसे विरोध है ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं । क्यों ? क्योंकि बुद्धि आदि कार्य और करणके संघातमें जो अभिमान है उसकी परम्पराका विच्छेद न होना ही जिसका लक्षण है, नित्य चित्स्वरूप आत्मा ही जिसका आन्तरिक सार है और जिसमें अनित्य विज्ञानका अवभास हुआ करता है वह अविवेकात्मक, चिदाभासप्रधान तथा चक्षु आदि करणोंवाला आत्मा (जीवात्मा) [शुद्ध चेतनसे] भिन्न ही है । बौद्ध प्रतीतियोंका

पद-भाष्य

स्यात् । तथा अविदितादधि इत्युक्तेऽनुपादेयत्वमुक्तं स्यात् । कार्यार्थं हि कारणमन्यदन्येन उपादीयते । अतश्च न वेदितुः अन्यस्मै प्रयोजनायान्यदुपादेयं भवतीति । एवं विदिताविदिताभ्यामन्यदिति हेयोपादेयप्रतिषेधेन स्वात्मनोऽनन्यत्वाद्

ऐसा कहनेसे उसका अहेयत्व बतलाया गया । तथा 'वह अविदितसे भी ऊपर है' ऐसा कहनेपर उसका अनुपादेयत्व प्रतिपादन किया गया । किसी कार्यके लिये ही किसी अन्य पुरुषद्वारा एक अन्य कारण यानी साधनको ग्रहण किया जाता है; अतः वेत्ता (आत्मा) को किसी अन्य प्रयोजनके लिये कोई अन्य साधन उपादेय नहीं है । इस प्रकार वह विदित और अविदित दोनोंसे भिन्न है—इस कथनद्वारा हेय और उपादेयका प्रतिषेध कर दिया जानेसे [ज्ञेय वस्तु] अपने आत्मासे

वाक्य-भाष्य

विर्भावतिरोभावधर्मकत्वात्तद्धर्मतयैव विलक्षणमपि चावभासते ।

अन्तःकरणस्य मनसोऽपि मनोऽन्तर्गतत्वात्सर्वान्तरश्रुतेः । अन्तर्गतेन नित्यविज्ञानस्वरूपेण आकाशवदप्रचलितात्मनान्तर्गर्भभूतेन बाह्यो बुद्ध्यात्मा तद्विलक्षणः अर्चिर्भिरिवाग्निः प्रत्ययैराविर्भावतिरोभावधर्मकैर्विज्ञानाभासरूपैरनित्यविज्ञान आत्मा सुखी दुःखीत्यभ्युपगतो लौकिकैः । अतोऽन्यो नित्यविज्ञानस्वरूपादा-

आविर्भाव-तिरोभाव उसका धर्म है; अतः अपने उस धर्मके कारण वह उससे पृथक् दिखलायी भी देता है ।

[किन्तु वह शुद्ध चेतन तो] 'आत्मा सर्वान्तर है' ऐसा बतलानेवाली श्रुतिके अनुसार अन्तःकरण यानी मनका भी मन है । उस अन्तर्गत, नित्यविज्ञानस्वरूप, आकाशके समान अविचल और अन्तर्गर्भभूत चिदात्मासे बाह्य और विलक्षण अनित्य विज्ञानवान् विज्ञानात्मा ही, आविर्भाव-तिरोभाव धर्मवाले विज्ञानाभासरूप अनित्य प्रत्ययोंके कारण लौकिक पुरुषोंद्वारा आत्मा सुखी-दुःखी है—ऐसा माना जाता है जैसे ज्वालाओंके कारण अग्नि ।

पद-भाष्य

ब्रह्मविषया जिज्ञासा शिष्यस्य निर्वर्तिता स्यात् । न ह्यन्यस्य स्वात्मनो विदिताविदिताभ्याम् अन्यत्वं वस्तुनः सम्भवतीत्यात्मा ब्रह्मेत्येष वाक्यार्थः; "अयमात्मा ब्रह्म" (माण्डू० २) "य आत्मापहतपाप्मा" (छा० उ० ८।७।१)

अभिन्न सिद्ध होनेके कारण शिष्यकी ब्रह्मविषयक जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है, क्योंकि अपने आत्मासे भिन्न किसी और वस्तुका विदित और अविदित दोनोंसे भिन्न होना सम्भव नहीं है । अतः आत्मा ही ब्रह्म है—यह इस वाक्यका अर्थ है । यही बात "यह आत्मा ब्रह्म है" "जो आत्मा पापसे रहित है"

वाक्य-भाष्य

त्मनः । तत्र हि विज्ञानापेक्षा विपरीतज्ञानत्वं चोपपद्यते न पुनर्नित्यविज्ञाने ।

अतः वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मासे भिन्न है । उसीमें विज्ञानकी अपेक्षा तथा विपरीत ज्ञानत्वकी सम्भावना है—नित्यविज्ञानस्वरूप चिदात्मामें नहीं ।

तत्त्वमसीति बोधोपदेशो न उपपद्यत इति चेत् । "आत्मानमेवावेत्" (बृ० उ० १ । ४ । १०) इत्येवमादीनि च नित्यबोधात्मकत्वात् । न ह्यादित्योऽन्येन प्रकाश्यतेऽतस्तदर्थबोधोपदेशःअनर्थक इति चेत् ।

पूर्व०—[ऐसा माननेसे तो] 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तू है) यह उपदेश भी नहीं बन सकता और न "अपने आत्माको ही जाना [कि मैं ब्रह्म हूँ]" इत्यादि वाक्य ही सार्थक हो सकते हैं—क्योंकि ब्रह्म तो नित्यबोधस्वरूप है । सूर्य दूसरेसे प्रकाशित कभी नहीं हो सकता । इसलिये आत्माके विषयमें ज्ञानका उपदेश करना व्यर्थ ही होगा ।

न; लोकाध्यारोपापोहार्थत्वात् ।

बोधोपदेशस्य अध्यास-निरासार्थत्वम् सर्वात्मनि हि नित्यविज्ञाने बुद्ध्याद्यनित्यधर्मा लोकैरध्यारोपिता आत्माविवेकतस्तदपो-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वह उपदेश लोगोंद्वारा किये हुए अध्यारोपकी निवृत्तिके लिये है । लोगोंने आत्मतत्त्वके अज्ञानवश उस नित्यविज्ञानस्वरूप सर्वात्मापर बुद्धि आदि अनित्य धर्मोंका आरोप किया हुआ है । उसकी निवृत्तिके लिये ही

पद-भाष्य

"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" (बृ० उ० ३ । ४ । १) "य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ० उ० ३।४।१) इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यश्चेति ।

"जो साक्षात् अपरोक्षरूपसे ब्रह्म ही है" "जो आत्मा सर्वान्तर है" इत्यादि अन्य श्रुतियोंसे भी प्रमाणित होती है ।

वाक्य-भाष्य

हार्थो बोधोपदेशो बोधात्मनः ।

उस ज्ञानस्वरूपके ज्ञानका उपदेश किया जाता है ।

तत्र च बोधाबोधौ समञ्जसौ, अन्यनिमित्तत्वादुदक इवौष्ण्यम् अग्निनिमित्तम्,राज्यहनी इवादित्यनिमित्ते । लोके नित्यावौष्ण्यप्रकाशावग्न्यादित्ययोरन्यत्रभावाभावयोर्निमित्तत्वादनित्याविव उपचर्येते । धक्ष्यत्यग्निः प्रकाशयिष्यति सवितेति तद्वत् । एवं च सुखदुःखबन्धमोक्षाद्यध्यारोपो लोकस्य तदपेक्ष्य तत्त्वमस्यात्मानमेवावेदित्यात्मावबोधोपदेशेन श्रुतयः केवलमध्यारोपापोहार्थाः ।

तथा उस बोधस्वरूपमें बोध और अबोध समीचीन भी हैं, क्योंकि जैसे अग्निके कारण जलमें उष्णता रहती है तथा सूर्यके कारण दिन और रात हुआ करते हैं, वैसे ही उनका कारण भी अन्य (आरोपित धर्म) ही है। उष्णता और प्रकाश—ये अग्नि और सूर्यके तो नित्य-धर्म हैं; किन्तु लोकमें अन्यत्र अपने भाव और अभावके कारण वे अनित्यवत् उपचरित होते हैं; जैसे—'अग्नि जला देगा' 'सूर्य प्रकाशित करेगा' इत्यादि वाक्योंमें; वैसे ही [आत्माके विषयमें समझना चाहिये] इस प्रकार लोकका जो सुख-दुःख एवं बन्ध-मोक्षरूप अध्यारोप है उसकी अपेक्षासे ही 'तत्त्वमसि' 'आत्मानमेवावेत्' इत्यादि श्रुतियाँ आत्मज्ञानके उपदेशसे केवल अध्यारोपकी निवृत्तिके लिये ही हैं ।

ब्रह्मणो विदिताविदिताभ्यामन्यत्वम्

यथा सवितासौ प्रकाशयति आत्मानम् इति तद्वत्, बोधाबोधकर्तृत्वं च नित्यबोधात्मनि । तस्मात्

जिस प्रकार 'यह सूर्य अपने-आपको प्रकाशित करता है' [इस वाक्यसे प्रकाशस्वरूप सूर्यमें प्रकाशकर्तृत्वका उल्लेख किया जाता है] उसी प्रकार नित्यबोधस्वरूप आत्मामें भी ज्ञान और अज्ञानका कर्तृत्व माना गया है ।

पद-भाष्य

एवं सर्वात्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मत्वप्रतिपादकस्य वाक्यार्थस्य

इस प्रकार सर्वात्मा सर्वविशेषरहित चिन्मात्रज्योतिःस्वरूप वस्तुका ब्रह्मत्व प्रतिपादन करनेवाले वाक्यार्थ-

वाक्य-भाष्य

अन्यदविदितात् । अधिशब्दश्च अन्यार्थे । यद्वा यद्धि यस्याधि तत्ततोऽन्यत्सामर्थ्यात् । यथाधि भृत्यादीनां राजा । अव्यक्तमेव अविदितं ततोऽन्यदित्यर्थः ।

विदितमविदितं च व्यक्ताव्यक्ते कार्यकारणत्वेन विकल्पिते ताभ्यामन्यद्ब्रह्म विज्ञानस्वरूपं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितम् इत्ययं समुदायार्थः । अत एवात्मत्वान्न हेय उपादेयो वा । अन्यद्ध्यन्येन हेयमुपादेयं वा । न तेनैव तद्यस्य कस्यचिद्धेयमुपादेयं वा भवति । आत्मा च ब्रह्म सर्वान्तरात्मत्वादविषयमतोऽन्यस्यापि न

इसलिये वह अविदित (अज्ञात) से भी अन्य है । यहाँ 'अधि' शब्द 'अन्य' अर्थमें है अथवा जो जिससे अधि (ऊपर) होता है वह उससे अन्य ही हुआ करता है, क्योंकि उस शब्दकी शक्तिसे यही बोध होता है; जिस प्रकार सेवक आदिसे ऊपर राजा ।[1] अव्यक्त ही अविदित है, उससे यह आत्मा पृथक् है—यही इसका तात्पर्य है ।

विदित और अविदित यानी व्यक्त और अव्यक्त ही क्रमशः कार्य तथा कारणभावसे माने गये हैं उनसे भिन्न वह ब्रह्म है जो सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित विज्ञानस्वरूप है—यह इस समस्त वाक्यसमुदायका तात्पर्य है । अतः आत्मस्वरूप होनेके कारण वह त्याज्य या ग्राह्य भी नहीं है । अन्य वस्तु ही किसी अन्यकी त्याज्य या ग्राह्य हुआ करती है; स्वयं आप ही अपनी कोई भी वस्तु हेय या उपादेय नहीं होती । आत्मा ही ब्रह्म है और सबका अन्तर्यामी होनेसे वह किसी इन्द्रियका विषय भी नहीं है । इसलिये वह किसी अन्यका भी हेय या उपादेय नहीं है । इसके सिवा आत्मासे भिन्न कोई और

१. जिस प्रकार सेवकोंके ऊपर होनेके कारण राजा उनसे भिन्न है उसी प्रकार अविदितसे ऊपर होनेके कारण आत्मा उससे भिन्न है ।

पद-भाष्य

आचार्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह—इति शुश्रुमेत्यादि । ब्रह्म च एवमाचार्योपदेशपरम्परया एवाधिगन्तव्यं न तर्कतःप्रवचनमेधाबहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्च, इति एवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषाम् आचार्याणां वचनम्; ये आचार्या नः अस्मभ्यं ब्रह्म व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः

का 'इति शुश्रुम पूर्वेषाम्' इत्यादि वाक्यद्वारा आचार्योंके उपदेशकी परम्परासे प्राप्त होना दिखलाया गया है। इस प्रकार वह ब्रह्म आचार्योंकी उपदेश-परम्परासे ही ज्ञातव्य है, तर्कसे अथवा प्रवचन, मेधा, बहुश्रुत, तप एवं यज्ञादिसे नहीं—ऐसा हमने पूर्ववर्ती आचार्योंका वचन सुना है। जिन आचार्योंने हमारे प्रति उस ब्रह्मका व्याख्यान—स्पष्ट कथन

वाक्य-भाष्य

हेयमुपादेयं वा । अन्याभावाच्च ।

वस्तु न होनेके कारण भी [वह हेयोपादेयरहित है] ।

इति शुश्रुम पूर्वेषामित्यागमोपदेशः । व्याचचक्षिर इत्यस्वातन्त्र्यं तर्कप्रतिषेधार्थम् । ये नस्तद्ब्रह्मोक्तवन्तस्ते नित्यमेवागमं ब्रह्मप्रतिपादकं व्याख्यातवन्तो न पुनः स्वबुद्धिप्रभवेण तर्केण उक्तवन्त इत्यागमपारम्पर्याविच्छेदं दर्शयति विद्यास्तुतये । तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवतीति ॥ ३ ॥

(यथोक्तस्य आप्तप्रामाणिकत्वम्)

'इति शुश्रुम पूर्वेषाम्' (यह हमने पूर्व आचार्योंके मुँहसे सुना है) ऐसा कहकर यह दिखलाते हैं कि यह [परम्परागत] शास्त्रका उपदेश है। हमसे [शास्त्रीय मतका] व्याख्यान किया था [यह उनकी स्वतन्त्र कल्पना नहीं है] ऐसा कहकर जो उन आचार्योंकी अस्वतन्त्रता दिखलायी है वह तर्कका प्रतिषेध करनेके लिये है; जिन्होंने हमसे उस ब्रह्मका वर्णन किया था। अर्थात् उन्होंने ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले नित्य आगमका ही व्याख्यान करके बतलाया था अपनी बुद्धिसे ही प्रकट हुए तर्कद्वारा नहीं कहा। इस प्रकार ज्ञानकी स्तुतिके लिये शास्त्रपरम्पराका अविच्छेद दिखलाया है, क्योंकि तर्क तो अनवस्थित और भ्रमपूर्ण भी होता है ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

विस्पष्टं कथितवन्तः, तेषाम् इत्यर्थः ॥३॥

किया था, उन्हींके [वचनसे हमें उसे जानना चाहिये] यह इसका तात्पर्य है ॥ ३ ॥

'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्यनेन वाक्येन आत्मा ब्रह्मेति प्रतिपादिते श्रोतुराशङ्का जाता—कथं न्वात्मा ब्रह्म । आत्मा हि नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च संसारी कर्मोपासनं वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान्स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति । तत्तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रः प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति, न त्वात्मा; लोकप्रत्ययविरोधात् । यथान्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मा इत्याचक्षते, तथा कर्मिणोऽमुं यजामुं यजेत्यन्या एव देवता उपासते । तस्माद्युक्तं यद्विदितमुपास्यं तद्ब्रह्म भवेत्, ततोऽन्य उपासक इति । तामेतामाशङ्कां शिष्यलिङ्गेनोपलक्ष्य तद्वाक्याद्वा आह—मैवं शङ्किष्ठाः,

'वह विदितसे अन्य है और अविदितसे भी ऊपर है' इस वाक्यद्वारा आत्मा ही ब्रह्म है—ऐसा प्रतिपादन किये जानेपर श्रोताको यह शंका हुई—आत्मा किस प्रकार ब्रह्म है ? आत्मा तो कर्म और उपासनामें अधिकृत संसारी जीवको कहते हैं, जो कर्म या उपासनारूप साधनका अनुष्ठान कर ब्रह्मा आदि देवताओं अथवा स्वर्गको प्राप्त करना चाहता है । अतः उससे भिन्न उसका उपास्य विष्णु, ईश्वर, इन्द्र अथवा प्राण ही ब्रह्म होना चाहिये—आत्मा नहीं, क्योंकि यह बात लोक-विश्वासके विरुद्ध है । जिस प्रकार अन्य तार्किक लोग आत्माको ईश्वरसे भिन्न बतलाते हैं उसी प्रकार कर्मकाण्डी भी 'इसका यजन करो—इसका यजन करो' इस प्रकार अन्य देवताकी ही उपासना करते हैं । अतः उचित यही है कि जो उपास्य विदित है वह ब्रह्म हो और उससे भिन्न उसका उपासक हो । शिष्यके व्याज अथवा उसके वाक्यसे उसकी इस आशंकाको उपलक्षित कर कहते हैं—ऐसी शंका मत करो,

ब्रह्म वागादिसे अतीत और अनुपास्य है

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥

जो वाणीसे प्रकाशित नहीं है, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है उसीको तू ब्रह्म जान, जिस इस [देशकालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

यत् चैतन्यमात्रसत्ताकम्, वाचा वागिति जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु विषक्तमाग्नेयं वर्णानाम् अभिव्यञ्जकं करणम् वर्णाश्चार्थ-सङ्केतपरिच्छिन्ना एतावन्त एवं क्रमप्रयुक्ता इति; एवं तद-भिव्यङ्ग्यः शब्दः पदं वागिति उच्यते; "अकारो वै सर्वा वाक्सैषा

जो चैतन्यसत्तास्वरूप ब्रह्म वाणी-से [अप्रकाशित है]—जिह्वामूल आदि आठ स्थानोंमें* आश्रित तथा अग्नि-देवतासे अधिष्ठित वर्णोंको अभिव्यक्त करनेवाली इन्द्रिय एवं अर्थ-संकेतसे परिच्छिन्न और इतने तथा इस क्रमसे † प्रयुक्त होनेवाले हैं, ऐसे नियमवाले वर्ण 'वाक्' कहे जाते हैं। तथा उनसे अभिव्यक्त होनेवाला शब्द भी 'पद' या 'वाक्' कहा

वाक्य-भाष्य

यद्वाचा इति मन्त्रानुवादो दृढप्रतीतेः । अन्यदेव तद्वि-दितादिति योऽयमागमार्थो ब्राह्मणोक्तोऽस्यैव द्रढिम्ने मन्त्रा यद्वाचेत्यादयः पठ्यन्ते ।

यद्ब्रह्म वाचा शब्देनानभ्युदितम्

'यद्वाचा' इत्यादि मन्त्रोंका उल्लेख आत्मतत्त्वकी दृढप्रतीतिके लिये किया गया है । 'वह विदितसे भिन्न है' ऐसा जो शास्त्रका तात्पर्य इस ब्राह्मण-ग्रन्थने ऊपर कहा है उसकी पुष्टिके लिये ही ये 'यद्वाचा' इत्यादि मन्त्र पढ़े जाते हैं ।

जो ब्रह्म वाणीसे अर्थात् शब्दसे अनभ्युदित–अनुक्त अर्थात् अप्रकाशित

* जिह्वामूल, हृदय, कण्ठ, मूर्धा, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु ।

† यह मीमांसकोंका मत है, जैसे 'गौः' यह पद गकार, औकार तथा विसर्ग—इस क्रमविशेषसे अवच्छिन्न वर्णरूप ही है ।

पद-भाष्य

स्पर्शान्तस्थोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति" (ऐ० आ० २।३।७।१३) इति श्रुतेः । मितममितं स्वरः सत्यानृते एष विकारो यस्यास्तया वाचा पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्या—अनभ्युदितम् अप्रकाशितमनभ्युक्तम् ।

जाता है । श्रुति कहती है—"अकार* ही सम्पूर्ण वाक् है, और यह वाक् ही अपने स्पर्श[1], अन्तस्थ[2] और ऊष्म[3] आदि भेदोंसे अभिव्यक्त होकर अनेक रूपवाली हो जाती है ।" इस प्रकार मित[4] अमित[5] स्वर[6] एवं सत्य और मिथ्या—ये जिसके विकार हैं उस पदरूपसे परिच्छिन्न एवं वागिन्द्रियरूप गुणवाली वाणीसे जो अनभ्युदित—अप्रकाशित अर्थात् नहीं कहा गया है—

वाक्य-भाष्य

अनभ्युक्तमप्रकाशितमित्येतत्, येन वागभ्युद्यत इति वाक्प्रकाशहेतुत्वोक्तिः । येन प्रकाश्यत इति वाचोऽभिधानस्याभिधेयप्रकाशकत्वस्य हेतुत्वमुच्यते ब्रह्मणः ।

उक्तं च केनेषितां वाचमिमां वदन्ति यद्वाचो ह वाचमिति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्यविषयत्वेन

है । और जिससे वाणी अभ्युदित होती है—ऐसा कहकर उसे वाणीके प्रकाशका हेतु बतलाया है । 'जिससे वाणी प्रकाशित होती है' ऐसा कहकर वाणीके अभिधान (उच्चारण) के अभिधेय (वाच्य) को प्रकाशित करनेमें ब्रह्मको हेतु बतलाया है [अर्थात् यह दिखलाया है कि वाणीमें जो अर्थको अभिव्यञ्जित करनेका सामर्थ्य है वह ब्रह्मका ही है] ।

ऊपर 'लोग किसकी प्रेरणासे इस वाणीको बोलते हैं' इस प्रश्नके उत्तरमें 'जो वाणीकी वाणी है' इत्यादि कहा भी जा चुका है । 'तू उसीको ब्रह्म

* अकारप्रधान ॐकारसे उपलक्षित स्फोटनामक चिच्छक्ति ।

१ क से म तक सभी वर्ण । २. य र ल व । ३. श ष स ह । ४. जिनके पादका अन्त नियत अक्षरोंवाला है उन वाक्योंको मित (ऋग्वेद) कहते हैं । ५. जिनके पादका अन्त नियत अक्षरोंवाला नहीं है उन वाक्योंको अमित (यजुर्वेद) कहते हैं । ६. गायनप्रधान सामवेद 'स्वर' कहलाता है ।

पद-भाष्य

येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वाग् अभ्युद्यते चैतन्यज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यत इत्येतद्यद्वाचो ह वागित्युक्तम्, "वदन्वाक्" (बृ० उ० १ । ४ । ७) "यो वाचमन्तरो यमयति" (बृ० उ० ३ । ७ । १७) इत्यादि च वाजसनेयके । "या वाक् पुरुषेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता कश्चित्तां वेद ब्राह्मणः" इति प्रश्नमुत्पाद्य प्रतिवचनमुक्तम् "सा वाग्यया स्वप्ने भाषते" इति । सा हि वक्तुर्वक्तिर्नित्या वाक् चैतन्यज्योतिःस्वरूपा, "न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४ । ३ । २६) इति श्रुतेः ।

बल्कि जिस ब्रह्मके द्वारा वागिन्द्रियसहित वाणी विवक्षित अर्थमें बोली जाती अर्थात् अपने चैतन्य-ज्योतिःस्वरूपसे प्रकाशित यानी प्रयुक्त की जाती है, जो 'वाणीकी वाणी है' इस प्रकार बतलाया गया है [जिसके विषयमें] बृहदारण्यकोपनिषद्में "बोलनेके कारण वाणी है" "जो भीतरसे वाणीका नियमन करता है" इत्यादि कहा है, तथा "चेतन प्राणियोंमें जो वाणी (वाक्शक्ति) है वह घोषों (वर्णों) में स्थित है, उसे कोई ब्रह्मवेत्ता ही जानता है" इस प्रकार प्रश्न उठाकर यह उत्तर दिया है कि "जिसके द्वारा जीव स्वप्नमें बोलता है वह वाक् है" वक्ताकी वह नित्य वाचनशक्ति ही चैतन्य-ज्योतिःस्वरूपा वाक् है जैसा कि, "वक्ताकी वाचनशक्तिका लोप कभी नहीं होता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

वाक्य-भाष्य

ब्रह्मण आत्मन्यवस्थापनार्थ आम्नायः । यद्वाचानभ्युदितं वाक्प्रकाशनिमित्तं चेति ब्रह्मणोऽविषयत्वेन वस्त्वन्तरजिघृक्षां

जान' यह आगम ब्रह्मको अविषयरूपसे बुद्धिमें बिठानेके लिये है । 'जो वाणीसे प्रकट नहीं होता बल्कि वाणीके प्रकाशित होनेका हेतु है' इस कथनसे ब्रह्मका अविषयत्व सिद्ध करता हुआ शास्त्र पुरुषको अन्य वस्तुके ग्रहण करनेकी इच्छासे

पद-भाष्य

तदेव आत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वाद् ब्रह्मेति विद्धि विजानीहि त्वम् । यैर्वागाद्युपाधिभिर्वाचो ह वाक् चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः कर्ता भोक्ता विज्ञाता नियन्ता प्रशासिता विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्येवमादयः संव्यवहारा असंव्यवहारे निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते, तान्व्युदस्य आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धीति एवशब्दार्थः । नेदं ब्रह्म यदिदम् इत्युपाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वरादि उपासते ध्यायन्ति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि

उस आत्मस्वरूपको ही तू बृहत् होनेके कारण 'ब्रह्म' यानी भूमासंज्ञक सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म जान । जिन वाक् आदि उपाधियोंके कारण, वाणीकी वाणी, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन, कर्ता, भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता, शासनकर्ता तथा ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है—इत्यादि प्रकारके व्यवहार उस अव्यवहार्य निर्विशेष सर्वोत्कृष्ट समस्वरूप ब्रह्ममें प्रवृत्त होते हैं, उन सब उपाधियोंका बाध कर अपने निर्विशेष आत्माको ही ब्रह्म जान—यही 'एव' शब्दका अर्थ है । जिस इस उपाधिविशिष्ट अनात्मा ईश्वरादिकी उपासना—ध्यान करते हैं यह ब्रह्म नहीं है । 'उसीको तू ब्रह्म जान' इतना कह देनेपर भी [अनात्मवस्तुमें ब्रह्मभावनाका

वाक्य-भाष्य

निवर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापयति आम्नायस्तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति यत्नत उपरमयति । नेदमित्युपास्यप्रतिषेधाच्च ॥ ४ ॥

निवृत्त करके अपने आत्मस्वरूपमें ही जोड़ता है और 'उसीको तू ब्रह्म जान' इस वाक्यद्वारा वह उसे अन्य प्रयत्नसे उपरत करता है तथा 'नेदं यदिदमुपासते' इस कथनसे भी ब्रह्मका उपास्यत्व निषेध करनेके कारण [वह अन्य सब ओरसे उसे निवृत्त करता है] ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

इत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्म इत्यनात्मनोऽब्रह्मत्वं पुनरुच्यते नियमार्थम् अन्यब्रह्मबुद्धिपरिसंख्यानार्थं वा ॥ ४ ॥

निषेध हो ही जाता] पुनः 'यह ब्रह्म नहीं है' इस वाक्यके द्वारा जो अनात्माका अब्रह्मत्व प्रतिपादन किया है वह आत्मामें ही ब्रह्म-बुद्धिका नियमन करनेके लिये अथवा अन्य उपास्य देवताओंमें ब्रह्म-बुद्धि-की निवृत्ति करनेके लिये है ॥ ४ ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

जो मनसे मनन नहीं किया जाता, बल्कि जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है उसीको तू ब्रह्म जान । जिस इस [देश-कालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

पद-भाष्य

यन्मनसा न मनुते; मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृह्यते । मनुतेऽनेनेति मनः सर्वकरणसाधारणम्, सर्वविषयव्यापकत्वात् । "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव"

जिसका मनके द्वारा मनन नहीं किया जाता; मन और बुद्धिके एकत्वरूपसे यहाँ मन शब्दसे अन्तः-करणका ग्रहण किया जाता है । जिसके द्वारा मनन करते हैं उसे मन कहते हैं; वह समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें व्यापक होनेके कारण, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके लिये समान है ।

वाक्य-भाष्य

यन्मनसा इत्यादि समानम् ।

'यन्मनसा' इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य समान ही है । 'मन मनन

पद-भाष्य

(बृ० उ० १ । ५ । ३) इति श्रुतेः कामादिवृत्तिमन्मनः । तेन मनसा यत् चैतन्यज्योतिर्मनसः अवभासकं न मनुते न सङ्कल्पयति नापि निश्चिनोति लोकः, मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात् । सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्मनि न प्रवर्ततेऽन्तःकरणम् । अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्योतिषावभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यम्; तेन सवृत्तिकं मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तम् आहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः । तस्मात् तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं ब्रह्म विद्धि । नेदमित्यादि पूर्ववत् ॥५॥

"काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय—ये सब मन ही हैं" इस श्रुतिके अनुसार मन कामादि वृत्तियोंवाला है । उस मनके द्वारा यह लोक जिस मनके प्रकाशक चैतन्यज्योतिका मनन—संकल्प अथवा निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि मनका प्रकाशक होनेके कारण वह तो उसका नियामक है । आत्मा सब विषयोंके प्रति प्रत्यक्रूप (आन्तरिक) ही है; अतः उसमें मन प्रवृत्त नहीं हो सकता । अपने भीतर स्थित चैतन्यज्योतिसे प्रकाशित हुए मनमें ही मनन करनेका सामर्थ्य है । उसके द्वारा वृत्तियुक्त हुए मनको ब्रह्मवेत्ता लोग जिस ब्रह्मके द्वारा मत—विषयीकृत अर्थात् व्याप्त बतलाते हैं; उस मनके प्रत्यक्चेतयिता आत्माको ही तू ब्रह्म जान । 'नेदं....' इत्यादि वाक्यकी व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिये ॥ ५ ॥

वाक्य-भाष्य

मनो मतमिति येन ब्रह्मणा मनोऽपि विषयीकृतं नित्यविज्ञानस्वरूपेण इत्येतत् । सर्वकरणानामविषयम्,

किया जाता है' अर्थात् जिस नित्य विज्ञानस्वरूप ब्रह्मद्वारा मन भी विषय किया जाता है । जो सब इन्द्रियोंका

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥

जिसे कोई नेत्रसे नहीं देखता बल्कि जिसकी सहायतासे नेत्र [अपने विषयोंको] देखते हैं उसीको तू ब्रह्म जान । जिस इस [देश-कालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥६॥

पद-भाष्य

यत् चक्षुषा न पश्यति न विषयीकरोति अन्तःकरणवृत्ति-संयुक्तेन लोकः, येन चक्षूंषि अन्तःकरणवृत्तिभेदभिन्नाश्चक्षु-र्वृत्तीः पश्यति चैतन्यात्म-ज्योतिषा विषयीकरोति व्या-प्नोति । तदेवेत्यादि पूर्ववत् ॥६॥

लोक जिसे अन्तःकरणकी वृत्ति-से युक्त नेत्रद्वारा नहीं देखता अर्थात् विषय नहीं करता, किन्तु जिस चैतन्यात्मज्योतिके द्वारा चक्षुओं अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तियोंके भेदसे विभिन्न हुई—नेत्रेन्द्रियकी वृत्तियोंको देखता—विषय करता यानी व्याप्त करता है उसीको तू ब्रह्म जान इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳश्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

जिसे कोई कानसे नहीं सुनता बल्कि जिससे यह श्रोत्रेन्द्रिय सुनी जाती है उसीको तू ब्रह्म जान । जिस इस [देशकालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

पद-भाष्य

यत् श्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेन आकाश-कार्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन न

लोक जिसे मनोवृत्तिसे युक्त आकाशके कार्यभूत तथा दिशा-रूप देवतासे अधिष्ठित श्रोत्रेन्द्रियद्वारा नहीं सुन सकता अर्थात् जिसे

वाक्य-भाष्य

तानि च सव्यापाराणि सविषयाणि नित्यविज्ञानस्वरूपावभासतया

अविषय है और नित्य विज्ञानस्वरूपसे अवभासित होनेके कारण जिससे वे

पद-भाष्य

विषयीकरोति लोकः, येन श्रोत्रम् इदं श्रुतं यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेव इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७ ॥

श्रोत्रसे विषय नहीं कर सकता, बल्कि जिस चैतन्यात्मज्योतिद्वारा यह प्रसिद्ध श्रोत्र सुना यानी विषय किया जाता है वही [ब्रह्म है] इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ ७ ॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

जो नासिकारन्ध्रस्थ प्राणके द्वारा विषय नहीं किया जाता बल्कि जिससे प्राण अपने विषयोंकी ओर जाता है उसीको तू ब्रह्म जान । जिस इस [देशकालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥

यत् प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थितेनान्तःकरणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यन्न प्राणिति गन्धवन्न विषयीकरोति, येन चैतन्यात्मज्योतिषावभास्य-

अन्तःकरणकी और प्राणकी वृत्तियोंके सहित नासिकारन्ध्रमें स्थित एवं पृथिवीके कार्यभूत प्राण यानी घ्राणके द्वारा जो प्राणन अर्थात् गन्धयुक्त वस्तुओंको विषय नहीं करता, बल्कि जिस चैतन्यात्मज्योतिसे प्रकाश्यरूपसे प्राण अपने विषयकी

वाक्य-भाष्य

येनावभास्यन्त इति श्लोकार्थः । "क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति" (गीता १३ । ३३) इति स्मृतेः । "तस्य भासा" (मु० उ० २ । २ । १०) इति

सभी इन्द्रियाँ अपने व्यापार और विषयोंके सहित अवभासित होती हैं—यह इन मन्त्रोंका तात्पर्य है । "तथा क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है" इस स्मृतिसे और "उसीके तेजसे [यह सब प्रकाशित है]" इस आथर्वणी

पद-भाष्य

त्वेन स्वविषयं प्रति प्राणः प्रणीयते तदेवेत्यादि सर्वं समानम्॥८॥

ओर प्रवृत्त किया जाता है वही ब्रह्म है इत्यादि शेष सब अर्थ पहलेहीके समान है ॥ ८ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

ब्रह्मज्ञानकी अनिर्वचनीयता

पद-भाष्य

एवं हेयोपादेयविपरीतस्त्वमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यायितः शिष्यः अहमेव ब्रह्मेति सुष्ठु वेदाहमिति मा गृह्णीयादित्याशयादाहाचार्यः शिष्यबुद्धिविचालनार्थम्—यदीत्यादि ।

इस प्रकार हेयोपादेयसे विपरीत तू आत्मा ही ब्रह्म है—ऐसी प्रतीति कराया हुआ शिष्य यह न समझ बैठे कि 'ब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ' इस अभिप्रायसे उसकी बुद्धिको [इस निश्चयसे] विचलित करनेके लिये आचार्यने 'यदि मन्यसे' इत्यादि कहा ।

वाक्य-भाष्य

चाथर्वणे । येन प्राण इति क्रियाशक्तिरप्यात्मविज्ञाननिमित्तेत्येतत् ॥ ५—८ ॥

श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है । 'येन प्राणः' इस श्रुतिका यह तात्पर्य है कि क्रियाशक्ति भी आत्मविज्ञानके कारण ही प्रवृत्त होती है ॥ ५—८ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

पद-भाष्य

नन्विष्टैव सु वेदाहम् इति निश्चिता प्रतिपत्तिः ।

ब्रह्मणोऽवेद्यत्वे हेतुः

सत्यम्, इष्टा निश्चिता प्रतिपत्तिः; न हि सु वेदाहमिति । यद्धि वेद्यं वस्तु विषयीभवति, तत्सुष्ठु वेदितुं शक्यम्, दाह्यमिव दग्धुम् अग्नेर्दग्धुः न त्वग्नेः स्वरूपमेव । सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः । इह च तदेव प्रतिपादितं प्रश्नप्रतिवचनोक्त्या 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्याद्यया । 'यद्वाचानभ्युदितम्' इति च विशेषतोऽवधारितम् । ब्रह्मवित्सम्प्रदायनिश्चयश्चोक्तः 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इति । उपन्यस्तमुपसंहरिष्यति च 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्'

पूर्व०—मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ—ऐसा निश्चित ज्ञान तो इष्ट ही है ।

सिद्धान्ती—ठीक है, निश्चित ज्ञान तो अवश्य इष्ट ही है, परन्तु 'मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसा कथन इष्ट नहीं है । जो वेद्य वस्तु वेत्ताकी विषय होती है वही अच्छी तरह जानी जा सकती है; जिस प्रकार दहन करनेवाले अग्निके दाहका विषय दाह्य पदार्थ ही हो सकता है उसका स्वरूप नहीं हो सकता । 'ब्रह्म सभी ज्ञाताओंका आत्मा (अपना-आप) ही है', यह समस्त वेदान्तोंका भलीभाँति निश्चय किया हुआ अर्थ है । यहाँ भी 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि प्रश्नोत्तरोंद्वारा उसीका प्रतिपादन किया गया है । उसीको 'यद्वाचानभ्युदितम्' इस वाक्यद्वारा विशेषरूपसे निश्चय किया है । वह विदितसे अन्य है और अविदितसे भी ऊपर है' इस वाक्यद्वारा ब्रह्मवेत्ताओंके सम्प्रदायका निश्चय भी बतलाया गया है; तथा इस प्रकार उल्लेख किये हुए प्रकरणका 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इस वाक्यद्वारा

पद-भाष्य

इति । तस्माद्युक्तमेव शिष्यस्य सुवेदेति बुद्धिं निराकर्तुम् ।

उपसंहार करेंगे । अतः 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसी शिष्यकी बुद्धिका निराकरण करना उचित ही है ।

न हि वेदिता वेदितुर्वेदितुं शक्यः अग्निर्दग्धुरिव दग्धुमग्नेः । न चान्यो वेदिता ब्रह्मणोऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत्स्याद्ब्रह्म । "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" (बृ० उ० ३ । ८ । ११) इत्यन्यो विज्ञाता प्रतिषिध्यते । तस्मात् सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव तस्माद्

जिस प्रकार जलानेवाले अग्निद्वारा स्वयं अग्नि नहीं जलाया जा सकता उसी प्रकार जाननेवालेके द्वारा स्वयं जाननेवाला नहीं जाना जा सकता । ब्रह्मका जाननेवाला कोई और है भी नहीं जिसका वह उससे भिन्न ब्रह्म ज्ञेय हो सके । "इससे भिन्न और कोई ज्ञाता नहीं है" इस श्रुतिद्वारा भी ब्रह्मसे भिन्न ज्ञाताका प्रतिषेध किया गया है । अतः 'मैं ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ' यह समझना मिथ्या ही है । इसलिये गुरुने 'यदि मन्यसे'

वाक्य-भाष्य

यदि मन्यसे सुवेद इति शिष्यबुद्धिविचालना गृहीतस्थिरतायै । विदिताविदिताभ्यां निवर्त्य बुद्धिं शिष्यस्य स्वात्मन्यवस्थाप्य तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति स्वाराज्येऽभिषिच्य उपास्यप्रतिषेधेनाथास्य बुद्धिं विचालयति ।

'यदि मन्यसे सुवेद' इत्यादि वाक्यसे जो शिष्यकी बुद्धिको विचलित करना है वह उसके ग्रहण किये हुए अर्थको स्थिर करनेके लिये ही है । शिष्यकी बुद्धिको ज्ञात और अज्ञात वस्तुओंसे हटाकर 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' (उसीको तू ब्रह्म जान) इस कथनसे अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर कर तथा उपास्यके प्रतिषेधद्वारा उसे स्वाराज्यपर अभिषिक्त कर अब उसकी बुद्धिको विचलित करते हैं ।

पद-भाष्य

युक्तमेवाहाचार्यो यदीत्यादि । | इत्यादि ठीक ही कहा है ।

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम् । त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमाꣳस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥१॥

यदि तू ऐसा मानता है कि 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ' तो निश्चय ही तू ब्रह्मका थोड़ा-सा ही रूप जानता है। इसका जो रूप तू जानता है और इसका जो रूप देवताओंमें विदित है [वह भी अल्प ही है] अतः तेरे लिये ब्रह्म विचारणीय ही है। [तब शिष्यने एकान्त देशमें विचार करनेके अनन्तर कहा—] 'मैं ब्रह्मको जान गया—ऐसा समझता हूँ' ॥ १ ॥

पद-भाष्य

यदि कदाचिद् मन्यसे सुवेदेति सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति । कदाचिद्यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयमपि क्षीणदोषः सुमेधाः कश्चित्प्रतिपद्यते कश्चिन्नेति साशङ्कमाह यदीत्यादि । दृष्टं च "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म"

यदि कदाचित् तू ऐसा मानता हो कि मैं ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ जिसके दोष क्षीण हो गये हैं ऐसा कोई बुद्धिमान् पुरुष कभी सुने हुएके अनुसार दुर्विज्ञेय विषयको भी समझ लेता है और कोई नहीं भी समझता—इस आशयसे ही [गुरुने] 'यदि मन्यसे' इत्यादि शंकायुक्त वाक्य कहा है। ऐसा देखा भी गया है कि "यह

वाक्य-भाष्य

यदि मन्यसे सुवेद अहं ब्रह्मेति त्वं ततोऽल्पमेव ब्रह्मणो

यदि तू यह मानता है कि मैं ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ तो तू निश्चय

१. 'दभ्रमेव' ऐसा भी पाठ है।

पद-भाष्य

(छा० उ० ८।७।४) इत्युक्ते प्राजापत्यः पण्डितोऽप्यसुरराड् विरोचनः स्वभावदोषवशादनुपपद्यमानमपि विपरीतमर्थं शरीरमात्मेति प्रतिपन्नः। तथेन्द्रो देवराट् सकृद्द्विस्त्रिरुक्तं चाप्रतिपद्यमानः स्वभावदोषक्षयमपेक्ष्य चतुर्थे पर्याये प्रथमोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान्। लोकेऽपि एकस्माद् गुरोः शृण्वतां कश्चिद्यथावत्प्रतिपद्यते कश्चिदयथावत् कश्चिद्विपरीतं कश्चिन्न प्रतिपद्यते। किमु

जो नेत्रोंके भीतर पुरुष दिखायी देता है यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभयपद है और यही ब्रह्म है—ऐसा [ब्रह्माने] कहा'' इस प्रकार ब्रह्माजीके कहनेपर प्रजापतिकी सन्तान और पण्डित होनेपर भी असुरराज विरोचनने अपने स्वभावके दोषसे, किसी प्रकार सिद्ध न होनेपर भी शरीर ही आत्मा है, ऐसा विपरीत अर्थ समझ लिया। तथा देवराज इन्द्रने भी एक, दो तथा तीन बार कहनेपर भी इसका भाव न समझकर अपने स्वभावका दोष क्षीण हो जानेके अनन्तर चौथी बार कहनेपर पहली ही बार कहे हुए ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया। लोकमें भी एक ही गुरुसे श्रवण करनेवालोंमें कोई तो ठीक-ठीक समझ लेता है, कोई ठीक नहीं समझता है, कोई उलटा

वाक्य-भाष्य

रूपं वेत्थ त्वमिति नूनं निश्चितं मन्यत इत्याचार्यः। सा पुनर्विचालना किमर्थेत्युच्यते—पूर्वगृहीतवस्तुनि बुद्धेः स्थिरतायै।

ही ब्रह्मके रूपको बहुत कम जानता है—ऐसा आचार्य समझते हैं। परन्तु आचार्य जो शिष्यकी बुद्धिको विचलित करते हैं वह किसलिये है—इसपर कहते हैं कि [उनका यह कार्य] शिष्यद्वारा पहले ग्रहण किये हुए अर्थमें बुद्धिकी स्थिरताके लिये है। [इसी

पद-भाष्य

वक्तव्यमतीन्द्रियमात्मतत्त्वम् ? अत्र हि विप्रतिपन्नाः सदसद्वादिनस्तार्किकाः सर्वे तस्माद्विदितं ब्रह्मेति सुनिश्चितोक्तमपि विषमप्रतिपत्तित्वाद् यदि मन्यसे इत्यादि साशङ्कं वचनं युक्तमेव आचार्यस्य । दहरम् अल्पमेवापि नूनं त्वं वेत्थ जानीषे ब्रह्मणो रूपम् ।

किमनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि महान्त्यर्भकाणि च, येनाह दहरमेवेत्यादि ?

समझ बैठता है और कोई समझता ही नहीं । फिर यदि अतीन्द्रिय आत्मतत्त्वको न समझ सकें तो इसमें कहना ही क्या है ? इसके सम्बन्धमें तो समस्त सद्वादी और असद्वादी तार्किक भी उलटा ही समझे हुए हैं । अतः 'ब्रह्मको जान लिया' यह कथन सुनिश्चित होनेपर भी विषम प्रतिपत्ति (ज्ञान) होनेके कारण आचार्यका 'यदि मन्यसे सुवेद' इत्यादि शंकायुक्त कथन उचित ही है । [अतः आचार्य कहते हैं यदि तू 'ब्रह्मको मैंने जान लिया है' ऐसा मानता है तो] निश्चय ही तू ब्रह्मके अल्प रूपको ही जानता है ।

पूर्व०—क्या ब्रह्मके बड़े और छोटे अनेकों रूप हैं, जिससे कि गुरु 'तू ब्रह्मके अल्प रूपको ही जानता है' ऐसा कह रहे हैं ।

वाक्य-भाष्य

देवेष्वपि सुवेदाहमिति मन्यते यः सोऽप्यस्य ब्रह्मणो रूपं दहरमेव वेत्ति नूनम् । कस्मात् ? अविषयत्वात्कस्यचिद्ब्रह्मणः ।

उद्देश्यको लेकर आचार्य कहते हैं—] देवताओंमें भी जो कोई यह मानता है कि मैं ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ वह भी निश्चय ही उस ब्रह्मके रूपको बहुत कम जानता है । क्यों ? क्योंकि ब्रह्म किसीका भी विषय नहीं है ।

पद-भाष्य

ब्रह्मण औपाधिकभेद-निरूपणम्

बाढम्; अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि, न स्वतः। स्वतस्तु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्" (क० उ० १ । ३ । १५, नृसिंहोत्तर० ९, मुक्तिक० २ । ७२) इति शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते।

ननु येनैव धर्मेण यद्रूप्यते तदेव तस्य स्वरूपमिति ब्रह्मणोऽपि येन विशेषेण निरूपणं तदेव तस्य स्वरूपं स्यात्। अत उच्यते—चैतन्यम् पृथिव्यादीनामन्यतमस्य सर्वेषां विपरिणतानां वा धर्मो न भवति, तथा श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च धर्मो न भवतीति ब्रह्मणो रूपमिति ब्रह्म रूप्यते चैतन्येन। तथा चोक्तम्।

सिद्धान्ती—हाँ, नाम-रूपात्मक उपाधिके किये हुए तो ब्रह्मके अनेक रूप हैं, किन्तु स्वतः नहीं हैं। स्वतः तो "जो अशब्द, अस्पर्श, रूपरहित, अव्यय, रसहीन, नित्य और गन्धहीन है" इस श्रुतिके अनुसार शब्दादिके सहित उसके सभी रूपोंका प्रतिषेध किया जाता है।

पूर्व०—जिस धर्मके द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है वही उसका रूप हुआ करता है; अतः ब्रह्मका भी जिस विशेषणसे निरूपण होता है वही उसका स्वरूप होना चाहिये। अतः कहते हैं—चैतन्य पृथिवी आदिका अथवा परिणामको प्राप्त हुए अन्य समस्त पदार्थोंमेंसे किसीका धर्म नहीं है और न वह श्रोत्रादि इन्द्रिय अथवा अन्तःकरणका ही धर्म है, अतएव वह ब्रह्मका रूप है, इसीलिये

वाक्य-भाष्य

अथवाल्पमेवास्याध्यात्मिकं मनुष्येषु देवेषु च आधिदैविकमस्य ब्रह्मणो यद्रूपं तदिति सम्बन्धः। अथ न्विति हेतुमीमांसायाः। यस्मादहमेव सुविदितं ब्रह्मणो रूपमन्यदेव तद्विदि-

अथवा इसका इस प्रकार सम्बन्ध लगाना चाहिये कि इस ब्रह्मका जो मनुष्योंमें आध्यात्मिक और देवताओंमें आधिदैविक रूप है वह बहुत तुच्छ ही है। 'अथ नु' ऐसा कहकर ब्रह्मके विचारमें हेतु प्रदर्शित करते हैं। क्योंकि 'ब्रह्म विदितसे पृथक् ही है'—ऐसा कहे जानेके कारण ब्रह्मका अच्छी प्रकार जाना हुआ रूप तो अल्प ही है।

पद-भाष्य

"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३।९।२८) "विज्ञानघन एव" (बृ० उ० २।४।१२) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१।१) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० ५।३) इति च ब्रह्मणो रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु।

सत्यमेवम्; तथापि तदन्तःकरणदेहेन्द्रियोपाधिद्वारेणैव विज्ञानादिशब्दैर्निर्दिश्यते, तदनुकारित्वाद् देहादिवृद्धिसङ्कोचच्छेदादिषु नाशेषु च, न स्वतः। स्वतस्तु "अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" (के० उ० २।३) इति स्थितं भविष्यति।

ब्रह्मका चैतन्यस्वरूपसे निरूपण किया जाता है। ऐसा ही कहा भी है—"ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है" "वह विज्ञानघन ही है" "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप है" "प्रज्ञान ब्रह्म है" इस प्रकार श्रुतियोंमें भी ब्रह्मके रूपका निरूपण किया गया है।

सिद्धान्ती—यह ठीक है, तथापि वह अन्तःकरण, शरीर और इन्द्रियरूप उपाधिके द्वारा ही विज्ञानादि शब्दोंसे निरूपण किया जाता है, क्योंकि देहादिके वृद्धि, संकोच, उच्छेद और नाश आदिमें वह उनका अनुकरण करनेवाला है; परन्तु स्वतः वैसा नहीं है। स्वतः तो वह "जाननेवालोंके लिये अज्ञात है और न जाननेवालोंके लिये ज्ञात है" इस प्रकार निश्चय किया जायगा।

वाक्य-भाष्य

तादित्युक्तत्वात्। सुवेदेति च मन्यसेऽतोऽल्पमेव वेत्थ त्वं ब्रह्मणो रूपं यस्मादथ नु तस्मान्मीमांस्यम् एवाद्यापि ते तव ब्रह्म विचार्यमेव यावद्विदिताविदितप्रतिषेधागमार्थोनुभव इत्यर्थः।

और तू यह मानता ही है कि मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ। इसलिये तू ब्रह्मके अल्प स्वरूपको ही जानता है। क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये जबतक तुझे विदित और अविदितका प्रतिषेध करनेवाले शास्त्रवचनका अनुभव न हो तबतक तो अब भी मैं तेरे लिये ब्रह्मको मीमांसा यानी विचारके योग्य ही समझता हूँ; यह इसका तात्पर्य है।

पद-भाष्य

यदस्य ब्रह्मणो रूपमिति पूर्वेण सम्बन्धः । न केवलमध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं त्वमल्पं वेत्थ; यदप्यधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वम् तदपि नूनं दहरमेव वेत्थ इति मन्येऽहम् । यदध्यात्मं यदपि देवेषु तदपि चोपाधिपरिच्छिन्नत्वाद्दहरत्वान्न निवर्तते । यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तम् अनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ब्रह्म, न तत्सुवेद्यमित्यभिप्रायः ।

"यदस्य" इस पदसमूहका पूर्ववर्ती 'ब्रह्मणो रूपम्' के साथ सम्बन्ध है । तू केवल आध्यात्मिक उपाधिसे परिच्छिन्न हुए इस ब्रह्मके ही अल्प रूपको नहीं जानता बल्कि अधिदैवत उपाधिसे परिच्छिन्न हुए इस ब्रह्मके भी जिस रूपको तू देवताओंमें जानता है वह भी निश्चय तू इसके अल्प रूपको ही जानता है—ऐसा मैं मानता हूँ । इसका जो अध्यात्मरूप है और जो देवताओंमें है वह भी उपाधिपरिच्छिन्न होनेके कारण दहरत्व (अल्पत्व) से दूर नहीं है । किन्तु जो सम्पूर्ण उपाधि और विशेषणोंसे रहित शान्त अनन्त एक अद्वितीय भूमासंज्ञक नित्य ब्रह्म है वह सुगमतासे जाननेयोग्य नहीं है—यह इसका अभिप्राय है ।

वाक्य-भाष्य

मन्ये विदितमिति शिष्यस्य मीमांसानन्तरोक्तिः प्रत्ययत्रयसङ्गतेः । सम्यग्वस्तुनिश्चयाय विचालितः शिष्य आचार्येण मीमांस्यमेव त इति चोक्त एकान्ते

'मन्ये विदितम्' यह शिष्यकी मीमांसा (विचार) करनेके अनन्तरकी उक्ति है—क्योंकि ऐसा माननेपर ही तीन प्रकारकी प्रतीतियोंकी सङ्गति होती है । सम्यक् वस्तुके निश्चयके लिये विचलित किये हुए शिष्यसे जब आचार्यने कहा कि 'तुम्हारे लिये अभी ब्रह्म विचारणीय ही है' तब शिष्यने

पद-भाष्य

यत एवम् अथ नु तस्मात् मन्ये अद्यापि मीमांस्यं विचार्यमेव ते तव ब्रह्म । एवमाचार्योक्तः शिष्य एकान्ते उपविष्टः समाहितः सन्, यथोक्तमाचार्येण आगममर्थतो विचार्य, तर्कतश्च निर्धार्य, स्वानुभवं कृत्वा, आचार्यसकाशमुपगम्य उवाच—मन्येऽहमथेदानीं विदितं ब्रह्मेति ॥ १ ॥

क्योंकि ऐसी बात है इसलिये अभी तो मैं तेरे लिये ब्रह्मको विचारणीय ही समझता हूँ । आचार्यके ऐसा कहनेपर शिष्यने एकान्तमें बैठकर समाहित हो आचार्यके बतलाये हुए आगमको अर्थसहित विचारकर और तर्कद्वारा निश्चयकर आत्मानुभव करनेके अनन्तर आचार्यके समीप आकर कहा—मैं ऐसा मानता हूँ कि अब मुझे ब्रह्म विदित हो गया है ॥ १ ॥

वाक्य-भाष्य

समाहितो भूत्वा विचार्य यथोक्तं सुपरिनिश्चितः सन्नाहागमाचार्यात्मानुभवप्रत्ययत्रयस्यैकविषयत्वेन सङ्गत्यर्थम् । एवं हि सुपरिनिष्ठिता विद्या सफला स्यान्न अनिश्चितेति न्यायः प्रदर्शितो भवति; मन्ये विदितमिति परिनिष्ठितनिश्चितविज्ञानप्रतिज्ञाहेतूक्तेः ॥ १ ॥

एकान्त देशमें समाहित चित्तसे पूर्वोक्त प्रकारसे ब्रह्मको विचारनेके अनन्तर भलीभाँति निश्चय करके शास्त्र, आचार्य और अपना अनुभव—इन तीनों प्रतीतियोंकी एक ही विषयमें संगति करनेके लिये कहा [मैं ब्रह्मको ज्ञात हुआ ही मानता हूँ] । इससे यह न्याय दिखलाया गया है कि इस प्रकार खूब निश्चित किया हुआ ज्ञान ही सफल होता है—अनिश्चित नहीं, क्योंकि 'मन्ये विदितम्' इस उक्तिसे परिनिष्ठित—निश्चित विज्ञानकी प्रतिज्ञाके हेतुका ही प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

पद-भाष्य

कथमिति, शृणु—

कैसे विदित हुआ है सो सुनिये—

अनुभूतिका उल्लेख

नाहं* मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ २ ॥

मैं न तो यह मानता हूँ कि ब्रह्मको अच्छी तरह जान गया और न यही समझता हूँ कि उसे नहीं जानता । इसलिये मैं उसे जानता हूँ [और नहीं भी जानता] । हम शिष्योंमेंसे जो उसे 'न तो नहीं जानता हूँ और न जानता ही हूँ' इस प्रकार जानता है वही जानता है ॥ २ ॥

पद-भाष्य

न अहं मन्ये सुवेदेति, नैवाहं मन्ये सुवेद ब्रह्मेति । नैव तर्हि विदितं त्वया ब्रह्मेत्युक्ते आह—नो न वेदेति वेद च । वेद चेति चशब्दान्न वेद च ।

ननु विप्रतिपिद्धं नाहं मन्ये

मैं अच्छी तरह जानता हूँ—ऐसा नहीं मानता अर्थात् ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ—ऐसा भी मैं निश्चयपूर्वक नहीं मानता । 'तब तो तुझे ब्रह्म विदित ही नहीं हुआ।'—ऐसा कहनेपर शिष्य कहता है—'मैं नहीं जानता, सो भी बात नहीं है, जानता भी हूँ ।' मूलके 'वेद च' इस पदसमूहके 'च' शब्दसे 'नहीं भी जानता' ऐसा अर्थ लेना चाहिये ।

गुरु—'मैं ब्रह्मको अच्छी तरह

वाक्य-भाष्य

परिनिष्ठितं सफलं विज्ञानं प्रतिजानीत आचार्यात्मनिश्चययोः तुल्यतायै यस्माद्धेतुमाह नाह मन्ये सुवेद इति ।

आचार्यका और अपना निश्चय समान ही है—यह दिखलानेके लिये शिष्य अपने अच्छी प्रकार निश्चित किये हुए सफल विज्ञानकी प्रतिज्ञा करता है, क्योंकि 'नाह मन्ये सुवेद'—ऐसा कहकर वह उसका हेतु बतलाता है ।

* यहाँ 'नाह' ऐसा भी पाठ है, वाक्य-भाष्य इसी पाठके अनुसार है ।

पद-भाष्य

सुवेदेति, नो न वेदेति, वेद च इति । यदि न मन्यसे सुवेदेति, कथं मन्यसे वेद चेति । अथ मन्यसे वेदैवेति, कथं न मन्यसे सुवेदेति । एकं वस्तु येन ज्ञायते, तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा । न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन वेति नियन्तुं शक्यम् । संशयविप-

जानता हूँ—ऐसा नहीं मानता' तथा 'मैं नहीं जानता—सो भी बात नहीं है बल्कि जानता ही हूँ' ऐसा कहना तो परस्पर विरुद्ध है । यदि तू यह नहीं मानता कि 'उसे अच्छी तरह जानता हूँ' तो ऐसा कैसे समझता है कि 'उसे जानता भी हूँ' और यदि तू मानता है कि 'मैं जानता ही हूँ' तो ऐसा क्यों नहीं मानता कि 'उसे अच्छी तरह जानता हूँ' । संशययुक्त और विपरीत ज्ञानको छोड़कर एक वस्तु जिसके द्वारा जानी जाती है उसीसे वही वस्तु अच्छी तरह नहीं जानी जाती—ऐसा कहना तो ठीक नहीं है । और ऐसा भी कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि ब्रह्म संशययुक्त अथवा विपरीतरूपसे ही जाननेयोग्य है, क्योंकि संशय

वाक्य-भाष्य

अहेत्यवधारणार्थो निपातो नैव मन्य इत्येतत् । यावदपरिनिष्ठितं विज्ञानं तावत्सुवेद सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति विपरीतो मम निश्चय आसीत् । स उपजगाम भवद्भिर्विचालितस्य;

'अह' यह निश्चयार्थक निपात है । इसका यह तात्पर्य है कि मैं [ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ] ऐसा मानता ही नहीं । जबतक मुझे ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था तबतक ही मुझे 'मैं ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ'—ऐसा विपरीत निश्चय था । आपके द्वारा [उस निश्चयसे] विचलित किये जानेपर अब मेरा वह निश्चय दूर हो गया,

पद-भाष्य

र्ययौ हि सर्वत्रानर्थकरत्वेनैव प्रसिद्धौ ।

एवमाचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्याचार्योक्तागमसम्प्रदायबलात् उपपत्त्यनुभवबलाच्च; जगर्ज च ब्रह्मविद्यायां दृढनिश्चयतां दर्शयन्नात्मनः । कथमित्युच्यते—यो यः कश्चिद् नः अस्माकं सब्रह्मचारिणां मध्ये

और विपर्यय तो सर्वत्र अनर्थकारी रूपसे ही प्रसिद्ध हैं ।

आचार्यद्वारा इस प्रकार विचलित किये जानेपर भी 'वह विदितसे अन्य ही है और अविदितसे भी ऊपर है' इस आचार्यके कहे हुए शास्त्रसम्प्रदायके बलसे तथा उपपत्ति और अपने अनुभवके बलसे शिष्य विचलित न हुआ; बल्कि वह ब्रह्मविद्यामें अपनी दृढनिश्चयता दिखलाते हुए गर्जने लगा । किस प्रकार गर्जने लगा, सो बतलाते हैं—ब्रह्मचारियोंके सहित 'हम शिष्योंमें

वाक्य-भाष्य

यथोक्तार्थमीमांसाफलभूतात् स्वात्मब्रह्मत्वनिश्चयरूपात्सम्यक्प्रत्ययाद्विरुद्धत्वात् । अतो नाहं मन्ये सुवेदेति ।

यस्माच्चैतन्नैव न वेद नो न वेदेति मन्य इत्यनुवर्तते; अविदितब्रह्मप्रतिषेधात् । कथं तर्हि मन्यसे इत्युक्त आह—वेद च । चशब्दाद्वेद च न वेद चेत्यभिप्रायः।

क्योंकि वह पूर्वोक्त अर्थकी मीमांसा (विचार) के फलस्वरूप अपने आत्माके ब्रह्मत्वनिश्चयरूप सम्यक् प्रत्ययके विरुद्ध है । अतः 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसा तो मानता ही नहीं ।

तथा, उस ब्रह्मको मैं नहीं जानता—ऐसा भी नहीं मानता क्योंकि अविदित ब्रह्मका प्रतिषेध किया गया है । यहाँ 'नो न वेदेति' इस वाक्यके आगे 'मन्ये' इस क्रियापदकी अनुवृत्ति होती है । फिर यह पूछनेपर कि 'तुम किस प्रकार मानते हो ?' शिष्य बोला—'वेद च' । यहाँ 'च' शब्दसे 'वेद च न वेद च' अर्थात् जानता भी हूँ और नहीं भी जानता—

पद-भाष्य

तन्मदुक्तं वचनं तत्त्वतो वेद, स तद्ब्रह्म वेद ।

जो-जो मेरे कहे हुए उस वचनको तत्त्वतः जानता है—वही उस ब्रह्मको जानता है ।'

किं पुनस्तद्वचनमित्यत आह—

नो न वेदेति वेद च इति । यदेव 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्युक्तम्, तदेव वस्तु अनुमानानुभवाभ्यां संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण नो न वेदेति वेद च इत्यवोचत् आचार्यबुद्धिसंवादार्थं मन्दबुद्धि-

अच्छा तो वह वचन है क्या ? ऐसा प्रश्न करनेपर [शिष्य] कहता है—'मैं नहीं जानता—ऐसा भी नहीं है, जानता भी हूँ ।' जो बात [आचार्यने] 'वह विदितसे अन्य ही है और अविदितसे भी ऊपर है' इस वाक्यद्वारा कही थी उसी वस्तुको अपने अनुमान और अनुभवसे मिलाकर निश्चित करके आचार्यकी बुद्धिको सम्यक् प्रकारसे बतलाने और मन्दबुद्धियोंकी बुद्धिकी पहुँचसे बचानेके लिये एक दूसरे वाक्यसे

वाक्य-भाष्य

विदिताविदिताभ्यामन्यत्वाद्ब्रह्मणः तस्मान्मया विदितं ब्रह्मेति मन्य इति वाक्यार्थः ।

ऐसा अभिप्राय है । क्योंकि ब्रह्म विदित और अविदित—दोनोंसे ही भिन्न है । अतः 'ब्रह्म मुझे विदित है—यह मानता हूँ'—यही इस वाक्यका अर्थ है ।

अथवा वेद चेति नित्यविज्ञान-ब्रह्मस्वरूपतया नो न वेद वेदैव चाहं स्वरूपविक्रियाभावात् । विशेषविज्ञानं च पराध्यस्तं न स्वत इति परमार्थतो न च वेदेति ।

अथवा 'वेद च' इसका यह अभिप्राय है कि मैं नित्यविज्ञान-ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण 'नहीं जानता'—ऐसी बात नहीं है बल्कि जानता ही हूँ, क्योंकि अपने स्वरूपमें कोई विकार नहीं है । तथा विशेष विज्ञान भी दूसरोंका आरोपित किया हुआ ही है स्वरूपसे नहीं है—इसलिये परमार्थतः नहीं भी जानता ।

पद-भाष्य

ग्रहणव्यपोहार्थं च । तथा च गर्जितमुपपन्नं भवति 'यो नस्तद्वेद तद्वेद' इति ॥ २ ॥

'मैं नहीं जानता—ऐसा भी नहीं है जानता भी हूँ' ऐसा कहा है । ऐसा होनेपर ही 'हममेंसे जो इस [वाक्यके मर्म] को जानता है वही जानता है' यह गर्जना उचित हो सकती है ॥ २ ॥

शिष्याचार्यसंवादात्प्रतिनिवृत्त्य स्वेन रूपेण श्रुतिः समस्तसंवादनिर्वृत्तमर्थमेव बोधयति—यस्यामतमित्यादिना—

अब शिष्य और आचार्यके संवादसे निवृत्त होकर श्रुति समस्त संवादसे सम्पन्न होनेवाले अर्थको ही 'यस्यामतम्' इत्यादि अपने ही रूपसे बतलाती है—

वाक्य-भाष्य

यो नस्तद्वेद तद्वेदेति पक्षान्तरनिरासार्थमाम्नाय उक्तार्थानुवादात् । यो नोऽस्माकं मध्ये स एव तद्ब्रह्म वेद नान्यः । उपास्यब्रह्मवित्त्वादतोऽन्यस्य यथाहं वेदेति । वेद चेति पक्षान्तरे ब्रह्मवित्त्वं निरस्यते । कुतोऽयमर्थोऽवसीयत इत्युच्यते । उक्तानुवादादुक्तं ह्यनुवदति नो न वेदेति वेद चेति ॥ २ ॥

'यो नस्तद्वेद तद्वेद' यह आगम उपर्युक्त अर्थका अनुवाद होनेके कारण इससे अन्य पक्षोंका निषेध करनेके लिये है । हममेंसे जो उस ब्रह्मको इस प्रकार विदित-अविदितसे भिन्न जानता है वही जानता है, और कोई नहीं; क्योंकि जैसा मैं जानता हूँ उससे अन्य प्रकार जाननेवाला तो उपास्य अर्थात् कार्यब्रह्मको ही जाननेवाला है । 'वेद च' इस पदसे अन्य पक्षवालेमें ब्रह्मवित्त्वका निरास किया जाता है । किस कारण यह निष्कर्ष निकाला जाता है ? सो बतलाते हैं । ऊपर कहे हुए अर्थका अनुवाद करनेके कारण; क्योंकि यहाँ 'नो न वेदेति वेद च' इस वाक्यसे पूर्वोक्तका ही अनुवाद करते हैं ॥ २ ॥

ज्ञाता अज्ञ है और अज्ञ ज्ञानी है

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ ३ ॥

ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है उसीको ज्ञात है और जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता; क्योंकि वह जाननेवालोंका बिना जाना हुआ है और न जाननेवालोंका जाना हुआ है [क्योंकि अन्य वस्तुओंके समान दृश्य न होनेसे वह विषयरूपसे नहीं जाना जा सकता] ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

यस्य ब्रह्मविदः अमतम् अविज्ञातम् अविदितं ब्रह्मेति मतम् अभिप्रायः निश्चयः, तस्य मतं ज्ञातं सम्यग्ब्रह्मेत्यभिप्रायः । यस्य पुनः मतं ज्ञातं विदितं मया ब्रह्मेति निश्चयः, न वेदैव सः—न ब्रह्म विजानाति सः ।

जिस ब्रह्मवेत्ताका ऐसा मत—अभिप्राय अर्थात् निश्चय है कि ब्रह्म अमत—अविज्ञात यानी अविदित है उसे ब्रह्म ठीक-ठीक मत अर्थात् ज्ञात हो गया है—ऐसा इसका तात्पर्य है । और जिसे 'मुझे ब्रह्म मत—ज्ञात अर्थात् विदित हो गया है'— ऐसा निश्चय है वह जानता ही नहीं—उसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं है ।

वाक्य-भाष्य

यस्यामतम् इति श्रौतम् आख्यायिकार्थोपसंहारार्थम् । शिष्याचार्योक्तिप्रत्युक्तिलक्षणया अनुभवयुक्तिप्रधानया आख्यायिकया योऽर्थः सिद्धः स श्रौतेन वचनेनागमप्रधानेन निगमनस्थानीयेन संक्षेपत उच्यते । यदुक्तं

'यस्यामतम्' इत्यादि श्रुति-वचन इस आख्यायिकाका उपसंहार करनेके लिये है । शिष्य और आचार्यकी उक्ति-प्रत्युक्ति ही जिसका लक्षण है ऐसी इस अनुभव और युक्तिप्रधान आख्यायिकासे जो अर्थ सिद्ध हुआ है वह सबका उपसंहार करनेवाले इस शास्त्रप्रधान श्रौतवचनसे संक्षेपमें कहा

पद-भाष्य

विद्वदविदुषोर्यथोक्तौ पक्षौ अवधारयति—अविज्ञातं विजानतामिति, अविज्ञातम् अमतम् अविदितमेव ब्रह्म विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतत् । विज्ञातं विदितं ब्रह्म अविजान-

अब 'अविज्ञातं विजानताम्' ऐसा कहकर विद्वान् और अविद्वान्के उपर्युक्त पक्षोंका अवधारण (निश्चय) करते हैं—जाननेवालों अर्थात् भली प्रकार समझनेवालोंको यह ब्रह्म अविज्ञात—अमत यानी अविदित (अज्ञेय) ही है; तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय, मन और

वाक्य भाष्य

विदितादन्यद्वागादीनामगोचरत्वात् मीमांसितं चानुभवोपपत्तिभ्यां ब्रह्म तत्तथैव ज्ञातव्यम् ।

जाता है। जिसे वागादि इन्द्रियोंका अविषय होनेके कारण जाने हुए पदार्थोंसे भिन्न बतलाया था तथा अनुभव और उपपत्तिसे भी जिसकी मीमांसा की थी उस ब्रह्मको वैसा ही जानना चाहिये।

कस्मात् ? यस्यामतं यस्य विविदिषाप्रयुक्तप्रवृत्तस्य साधकस्य अमतमविज्ञातमविदितं ब्रह्म इत्यात्मतत्त्वनिश्चयफलावसानाववोधतया विविदिषा निवृत्ता इत्यभिप्रायः तस्य मतं ज्ञातं तेन विदितं ब्रह्म । येनाविषयत्वेन आत्मत्वेन प्रतिबुद्धमित्यर्थः। स सम्यग्दर्शी यस्य विज्ञानानन्तरमेव ब्रह्मात्मभावस्यावसितत्वात् सर्वतः कार्याभावो विपर्ययेण मिथ्याज्ञानो भवति कथम् ? मतं विदितं ज्ञातं मया ब्रह्मेति यस्य

किस कारणसे ? [सो बतलाते हैं—] जिज्ञासासे प्रेरित होकर प्रवृत्त हुए जिस साधकको ब्रह्म अविज्ञात—अविदित है अर्थात् आत्मतत्त्वनिश्चयरूप फलमें पर्यवसित होनेवाले ज्ञानरूपसे जिसकी जिज्ञासा निवृत्त हो गयी है उसीको वह विदित—ज्ञात है। तात्पर्य यह कि जिसने ब्रह्मको अविषयरूपसे आत्मभावसे जाना है उसीने उसे जाना है। जिसे विज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर ही सब ओर ब्रह्मात्मभावकी प्राप्ति हो जानेके कारण कर्तव्यका अभाव हो जाता है वही सम्यग्दर्शी है। इससे विपरीत समझनेवाला मिथ्या ज्ञानी होता है। कैसे ?

पद-भाष्य

ताम्, असम्यग्दर्शिनाम्, इन्द्रियमनोबुद्धिष्वेवात्मदर्शिनामित्यर्थः; न त्वत्यन्तमेवाव्युत्पन्नबुद्धीनाम्। न हि तेषां विज्ञातम् अस्माभिर्ब्रह्मेति मतिर्भवति।

बुद्धि आदिमें आत्मभाव करनेवाले असम्यग्दर्शी अज्ञानियोंके लिये ब्रह्म विज्ञात यानी विदित (ज्ञेय) ही है।* हाँ, जिनकी बुद्धि अत्यन्त अव्युत्पन्न (अकुशल) है उनके लिये ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उन्हें तो 'हमने ब्रह्मको जान लिया है' ऐसी

वाक्य-भाष्य

विज्ञानं स मिथ्यादर्शी विपरीतविज्ञानो विदितादन्यत्वाद्ब्रह्मणो न वेद स न विजानाति।

[सो कहते हैं—] जिसका ऐसा विज्ञान है कि ब्रह्म मुझे विदित—ज्ञात अर्थात् मालूम है वह विपरीत विज्ञानवान् मिथ्यादर्शी है, क्योंकि ब्रह्म विदितसे भिन्न है; इसलिये वह ब्रह्मको नहीं जानता—नहीं समझता।

ततश्च सिद्धमवैदिकस्य विज्ञानस्य मिथ्यात्वम्, अब्रह्मविषयतया निन्दितत्वात्तथा कपिलकणभुगादिसमयस्यापि विदितब्रह्मविषयत्वादनवस्थिततर्कजन्यत्वाज्जिज्ञासानिवृत्तेश्च मिथ्यात्वमिति। स्मृतेश्च "या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः

इन कारणोंसे अवैदिक विज्ञानका मिथ्यात्व सिद्ध हुआ, क्योंकि वह ब्रह्मविषयक न होनेसे, निन्दित है। यही नहीं, कपिल और कणाद आदिके सिद्धान्त भी ज्ञातब्रह्मविषयक, अनवस्थिततर्कजनित और जिज्ञासाकी निवृत्ति न करनेवाले होनेसे मिथ्या ही हैं। "जो वेदबाह्य स्मृतियाँ हैं तथा और भी जो कोई कुविचार हैं वे सभी निष्फल कहे गये हैं और सब-के-

* इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि 'जिन्हें ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ बोध हो गया है वे तो उसे मन-बुद्धि आदिसे अग्राह्य होनेके कारण अज्ञात यानी अज्ञेय ही मानते हैं। और जो अज्ञानी हैं वे मन-बुद्धि आदिको ही आत्मा समझनेके कारण ब्रह्मका उनके साथ अभेद समझकर यह मानने लगते हैं कि हमने उसे जान लिया है।'

पद-भाष्य

इन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिष्वात्मदर्शिनां तु ब्रह्मोपाधिविवेकानुपलम्भात्, बुद्ध्याद्युपाधेश्च विज्ञातत्वाद् विदितं ब्रह्मेत्युपपद्यते भ्रान्तिरित्यतोऽसम्य-

बुद्धि ही नहीं होती। किन्तु जो लोग इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि उपाधियोंमें आत्मभाव करनेवाले हैं उन्हें तो, ब्रह्म और उपाधिके पार्थक्यका ज्ञान न होने तथा बुद्धि आदि उपाधिके ज्ञातरूप होनेसे 'ब्रह्म विदित है' ऐसी भ्रान्ति होनी

वाक्य-भाष्य

प्रोक्तास्तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" (मनु० १२ । ९५) इति विपरीतमिथ्याज्ञानयोर्नष्टत्वादिति ।

सब अज्ञाननिष्ठ ही माने गये हैं" इस स्मृतिवाक्यसे भी विपरीत ज्ञान और मिथ्याज्ञानको नष्ट बतलाया गया है।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति पूर्वहेतूक्तिरनुवादस्यानर्थक्यात् । अनुवादमात्रेऽनर्थकं वचनमिति पूर्वोक्तयोर्यस्यामतमित्यादिना ज्ञानाज्ञानयोर्हेत्वर्थत्वेनेदमुच्यते ।

'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' यह मन्त्रके पूर्वार्धमें कहे हुए अर्थका हेतु-कथन है, क्योंकि उसीका अनुवाद करना तो व्यर्थ होगा। अनुवादमात्रके लिये कोई बात कहना कुछ अर्थ नहीं रखता, इसलिये 'यस्यामतम्' इत्यादि पूर्व पदसे कहे हुए ज्ञान और अज्ञानके हेतुरूपसे ही यह कहा गया है।

अविज्ञातमविदितमात्मत्वेन अविषयतया ब्रह्म विजानतां यस्मात् तस्मात्तदेव ज्ञानम् । यत्तेषां विज्ञातं विदितं व्यक्तमेव बुद्ध्यादिविषयं ब्रह्माविजानतां विदिताविदितव्यावृत्तमात्मभूतं नित्यविज्ञानस्वरूपमात्मस्थमविक्रियममृतमज-

क्योंकि विज्ञानियोंको ब्रह्म आत्मस्वरूप होनेके कारण इन्द्रियोंका विषय न होनेसे अविज्ञात—अविदित है, इसलिये वही ज्ञान है। और जो अज्ञानी हैं, जो ऐसा नहीं जानते कि ज्ञात और अज्ञात पदार्थोंसे रहित, अपना आत्मा, नित्यविज्ञानस्वरूप, आत्मस्थ, अविक्रिय, अमृत, अजर, अभय और अनन्यरूप होनेके कारण

पद-भाष्य

ग्दर्शनं पूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्यते—विज्ञातमविजानतामिति । अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धोऽविज्ञातमत्यादिः ॥ ३ ॥

उचित ही है । अतः यहाँ 'विज्ञातमविजानताम्' इस वाक्यद्वारा असम्यग्दर्शनका पूर्वपक्षरूपसे उल्लेख किया गया है । अथवा 'अविज्ञातं विजानताम्' इत्यादि जो मन्त्रका उत्तरार्द्ध है वह* हेतु-अर्थमें है ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

'अविज्ञातं विजानताम्' इत्यवधृतम् । यदि ब्रह्मात्यन्तम् एवाविज्ञातम्, लौकिकानां ब्रह्मविदां चाविशेषः प्राप्तः । 'अवि-

'ब्रह्म जाननेवालोंको अविज्ञात है' ऐसा निश्चय हुआ । इस प्रकार यदि ब्रह्म अत्यन्त अविज्ञात ही है तो लौकिक पुरुष और ब्रह्मवेत्ताओंमें कोई भेद नहीं रह जाता; इसके

वाक्य-भाष्य

रमभयमनन्यत्वादविषयमित्येवम् अविजानतां बुद्ध्यादिविषयात्मतयैव नित्यं विज्ञातं ब्रह्म । तस्माद्विदिताविदितव्यक्ताव्यक्तधर्माध्यारोपेण कार्यकारणभावेन सविकल्पमयथार्थविषयत्वात् । शुक्तिकादौ रजताद्यध्यारोपणज्ञानवन्मिथ्याज्ञानं तेषाम् ॥ ३ ॥

ब्रह्म किसी इन्द्रियका विषय नहीं है—उन्हींको ब्रह्म विज्ञात—विदित—व्यक्त अर्थात् बुद्धि आदिके विषयरूपसे ही प्रतीत होता है, उन्हें सर्वदा बुद्धि आदिके विषयरूपसे ही ब्रह्मका ज्ञान है । अतः विदित-अविदित अथवा व्यक्त-अव्यक्त आदि धर्मोंके आरोपसे [उनका जाना हुआ ब्रह्म] कार्य-कारणभाव रहनेसे सविकल्प ही है क्योंकि वह अयथार्थ-विषयक है । उनका वह ज्ञान शुक्ति आदिमें आरोपित रजत आदि ज्ञानोंके समान मिथ्या ही है ॥ ३ ॥

---

* हेतु यों समझना चाहिये—ब्रह्म अज्ञानियोंको इसलिये ज्ञात है, क्योंकि विज्ञानियोंको वह अज्ञात है ।

पद-भाष्य

ज्ञातं विजानताम्' इति च परस्परविरुद्धम्। कथं तु तद्ब्रह्म सम्यग्विदितं भवतीत्येवमर्थमाह-

सिवा 'जाननेवालोंको अविज्ञात है' यह कथन परस्पर विरुद्ध भी है। फिर वह ब्रह्म सम्यक् प्रकारसे कैसे जाना जाता है—यही बात बतलानेके लिये कहते हैं—

विज्ञानावभासोंमें ब्रह्मकी अनुभूति

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ ४ ॥

जो प्रत्येक बोध (बौद्ध प्रतीति) में प्रत्यगात्मरूपसे जाना गया है वही ब्रह्म है — यही उसका ज्ञान है, क्योंकि उस ब्रह्मज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। अमृतत्व अपनेहीसे प्राप्त होता है, विद्यासे तो अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेका सामर्थ्य मिलता है ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रति विदितम्। बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते। सर्वे प्रत्यया विषयीभवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्प्रति बुध्यते। सर्वप्रत्यय-

'प्रतिबोधविदितम्' यानी जो बोध-बोधके प्रति विदित होता है। यहाँ 'बोध' शब्दसे बुद्धिसे होनेवाली प्रतीतियों (ज्ञानों) का कथन हुआ है। अतः समस्त प्रतीतियाँ जिसकी विषय होती हैं वह आत्मा समस्त बोधोंके समय जाना जाता है। सम्पूर्ण प्रतीतियों-

वाक्य-भाष्य

प्रतिबोधविदितं मतम्' इति वीप्सा प्रत्ययानामात्मावबोधद्वारत्वात्। बोधं प्रति

'प्रतिबोधविदितम्' यह द्विरुक्ति है, क्योंकि प्रतीतियाँ ही आत्मज्ञानकी द्वार हैं। 'बोधं प्रति बोधं प्रति' (बोध-

पद-भाष्य

दर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते; नान्यद्द्वारमन्तरात्मनो विज्ञानाय ।

का साक्षी और चिच्छक्तिस्वरूपमात्र होनेके कारण वह प्रतीतियोंद्वारा सामान्यरूपसे प्रतीतियोंमें ही लक्षित होता है । उस अन्तरात्माका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये कोई और मार्ग नहीं है ।

प्रत्ययसाक्षितया ब्रह्मणोऽभेद-प्रतिपादनम्

अतः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तन्मतं तत् सम्यग्दर्शनमित्यर्थः सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चोपजननापायवर्जितदृक्स्वरूपता नित्यत्वं विशुद्धस्वरूपत्वमात्मत्वं निर्विशेषतैकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं

अतः जिस समय ब्रह्मको प्रतीतियोंके अन्तःसाक्षीस्वरूपसे जाना जाता है उसी समय वह ज्ञात होता है; अर्थात् यही उसका सम्यक् ज्ञान है । सम्पूर्ण प्रतीतियोंका साक्षी होनेपर ही उसका वृद्धिक्षयशून्य साक्षित्व, नित्यत्व, विशुद्धस्वरूपत्व, आत्मत्व, निर्विशेषत्व और सम्पूर्ण भूतोंमें [अनुस्यूत] एकत्व सिद्ध हो सकता

वाक्य-भाष्य

बोधं प्रतीति वीप्सा सर्वप्रत्ययव्याप्त्यर्था । बौद्धा हि सर्वे प्रत्ययाः तप्तलोहवन्नित्यविज्ञानस्वरूपात्मव्याप्तत्वाद् विज्ञानस्वरूपावभासाः; तदन्यावभासश्चात्मा तद्विलक्षणोऽग्निवदुपलभ्यत इति तेन ते द्वारीभवन्त्यात्मोपलब्धौ । तस्मात्प्रतिबोधावभासप्रत्यगात्म-

बोधके प्रति) यह द्विरुक्ति सम्पूर्ण प्रतीतियोंमें [ब्रह्मकी] व्याप्ति सूचित करनेके लिये है । बुद्धिजनित सम्पूर्ण प्रतीतियाँ तपे हुए लोहेके समान नित्य विज्ञानस्वरूप आत्मासे व्याप्त रहनेके कारण उस विज्ञानस्वरूपसे ही अवभासित हैं तथा उनसे पृथक् उनका अवभासक आत्मा [लोहपिण्डमें व्याप्त हुए] अग्निके समान उनसे सर्वथा विलक्षण उपलब्ध होता है । अतः वे बौद्ध प्रत्यय आत्माकी उपलब्धिमें द्वारस्वरूप हैं । इसलिये प्रत्येक बौद्ध प्रत्ययके अवभासमें जो प्रत्यगात्म-

पद-भाष्य

भवेत्; लक्षणभेदाभावाद्व्योम्न इव घटगिरिगुहादिषु । विदिताविदिताभ्यामन्यद्ब्रह्मेत्यागमवाक्यार्थ एवं परिशुद्ध एवोपसंहृतो भवति । "दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेर्विज्ञाता" इति हि श्रुत्यन्तरम् ।

है, जिस प्रकार कि लक्षणोंमें भेद न होनेके कारण घट, पर्वत और गुहादिमें आकाशका अभेद है । इस प्रकार 'ब्रह्म विदित और अविदित—दोनोंहीसे भिन्न है' इस शास्त्रवचनके अर्थका ही भली प्रकार शोधन करके यहाँ उपसंहार किया गया है । इसके सिवा "वह दृष्टिका द्रष्टा है, श्रवणका श्रोता है, मतिका मनन करनेवाला है और विज्ञातिका विज्ञाता है" ऐसी एक दूसरी श्रुति भी है । [उससे भी यही सिद्ध होता है] ।

यदा पुनर्बोधक्रियाकर्तेति बोधक्रियालक्षणेन तत्कर्तारं विजानातीति बोधलक्षणेन विदितं प्रति-

जिस प्रकार, जो वृक्षकी शाखाओंको चलायमान करता है उसे वायु कहते हैं उसी प्रकार—जिस समय 'प्रतिबोधविदितम्'

वाक्य-भाष्य

तया यद्विदितं तद्ब्रह्म तदेव मतं ज्ञातं तदेव सम्यग्ज्ञानवत्प्रत्यगात्मविज्ञानम्, न विषयविज्ञानम् ।

स्वरूपसे जाना जाता है वही ब्रह्म है, वही माना हुआ अर्थात् ज्ञात है तथा वही सम्यग्ज्ञानके सहित प्रत्यगात्माका ज्ञान है; विषयज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है ।

आत्मज्ञानममृतत्वनिमित्तम्

आत्मत्वेन प्रत्यगात्मानमैक्षदिति च काठके । 'अमृतत्वं हि विन्दते' इति हेतुवचनम्; विपर्यये मृत्युप्राप्तेः । विषयात्मविज्ञाने हि मृत्युः प्रारभत ।

'प्रत्यगात्माको आत्मस्वरूपसे देखा' ऐसा कठोपनिषद्में कहा है । 'अमृतत्वं हि विन्दते' (आत्मज्ञानसे अमरत्व ही प्राप्त होता है) यह हेतुसूचक वाक्य है, क्योंकि इससे विपरीत ज्ञानसे मृत्युकी प्राप्ति होती है । बुद्धि आदि विषयोंमें आत्मत्व बोध होनेसे ही

पद-भाष्य

बोधविदितमिति व्याख्यायते, यथा यो वृक्षशाखाश्चालयति स वायुरिति तद्वत्; तदा बोधक्रियाशक्तिमानात्मा द्रव्यम्, न बोधस्वरूप एव । बोधस्तु जायते विनश्यति च । यदा बोधो जायते, तदा बोधक्रियया सविशेषः । यदा बोधो नश्यति, तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं निर्विशेषः ।

इसका ऐसा अर्थ किया जाता है कि आत्मा बोधक्रियाका कर्ता है; अतः बोधक्रियारूप लिङ्गसे उसके कर्ताको जानता है, इसलिये बोधरूपसे विदित होनेके कारण वह 'प्रतिबोधविदितम्' कहलाता है उस समय—आत्मा बोधक्रियारूप शक्तिसे युक्त एक द्रव्य सिद्ध होता है, साक्षात् बोधस्वरूप ही सिद्ध नहीं होता । बोध (बुद्धिगत प्रतीति) तो उत्पन्न होता है और नष्ट भी हो जाता है । अतः जिस समय बोध उत्पन्न होता है उस समय तो वह बोधक्रियारूप विशेषणसे युक्त होता है और जब उसका नाश हो

वाक्य-भाष्य

इत्यात्मविज्ञानममृतत्वनिमित्तम् इति युक्तं हेतुवचनममृतत्वं हि विन्दत इति ।

आत्मज्ञानेन किममृतत्वमुत्पाद्यते ?

न ।

कथं तर्हि ?

आत्मना विन्दते स्वेनैव नित्यात्मस्वभावेनामृतत्वं विन्दते । नालम्बनपूर्वकम् । विन्दत इति

मृत्युका आरम्भ होता है, अतः आत्मविज्ञान अमरत्वका हेतु है; इसलिये 'अमृतत्वं हि विन्दते' यह हेतुवचन ठीक ही है ।

पूर्व०—क्या आत्मज्ञानसे अमरत्व उत्पन्न किया जाता है ?

सिद्धान्ती—नहीं ।

पूर्व०—तब कैसे ?

सिद्धान्ती—अमरत्व तो आत्मासे—अपने नित्यात्मस्वभावसे ही प्राप्त करते हैं, किसीके आश्रयसे नहीं । 'विन्दते' इससे यह समझना चाहिये कि उसकी

पद-भाष्य

तत्रैवं सति विक्रियात्मकः सावयवोऽनित्योऽशुद्ध इत्यादयो दोषा न परिहर्तुं शक्यन्ते ।

जाता है तो वह निर्विशेष द्रव्यमात्र रह जाता है । ऐसा माननेसे तो वह विकारी, सावयव, अनित्य और अशुद्ध निश्चित होता है, और उसके इन दोषोंका किसी प्रकार परिहार नहीं किया जा सकता ।

काणादमत-समीक्षा

यदपि काणादानाम् आत्ममनःसंयोगजो बोध आत्मनि समवैति; अत आत्मनि बोद्धृत्वम्, न तु विक्रियात्मक आत्मा; द्रव्यमात्रस्तु भवति घट इव रागसमवायी; अस्मिन् पक्षेऽप्यचेतनं द्रव्यमात्रं ब्रह्मेति "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"(बृ० उ० ३।९।२८)

तथा वैशेषिक मतावलम्बियोंका जो मत है कि आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला बोध आत्मामें समवाय-सम्बन्धसे रहता है, इसीसे आत्मामें बोद्धृत्व है, वस्तुतः आत्मा विकारी नहीं है, वह तो नीलपीतादि वर्णोंके समवायी घटके समान केवल द्रव्यमात्र है —सो इस पक्षमें भी ब्रह्म अचेतन द्रव्यमात्र सिद्ध होता है और "ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्दस्वरूप है"

वाक्य-भाष्य

आत्मविज्ञानापेक्षम् । यदि हि विद्योत्पाद्यममृतत्वं स्यादनित्यं भवेत्कर्मकार्यवत् । अतो न विद्योत्पाद्यम् ।

प्राप्ति आत्मविज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाली है । यदि अमृतत्व विद्यासे उत्पन्न किया जाने योग्य होता तो कर्मफलके समान अनित्य हो जाता । इसलिये वह विद्यासे उत्पाद्य नहीं है ।

यदि चात्मनैवामृतत्वं विन्दते किं पुनर्विद्यया क्रियत इत्युच्यते । अनात्मविज्ञानं निवर्तयन्ती सा

यदि कहो कि जब अमृतत्व स्वतः ही मिल जाता है तो विद्या उसमें क्या करती है, तो इसमें हमें यह कहना है कि वह अनात्मविज्ञानको निवृत्त करती हुई उसकी निवृत्तिके द्वारा

पद-भाष्य

"प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० ५ । ३) इत्याद्याः श्रुतयो बाधिताः स्युः । आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेशाभावाद् नित्यसंयुक्तत्वाच्च मनसः स्मृत्युत्पत्तिनियमानुपपत्तिरपरिहार्या स्यात् । संसर्गधर्मित्वं चात्मनः श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धं कल्पितं स्यात् । "असङ्गो न हि सज्जते" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) "असक्तं सर्वभृत्" (गीता १३ । १४) इति हि श्रुतिस्मृती । न्यायश्च—गुणवद्गुणवता संसृज्यते, नातुल्यजातीयम् । अतः निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केनचिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यत इत्येतद् न्यायविरुद्धं भवेत् तस्मात् नित्यालुप्तज्ञानस्वरूप-

"प्रज्ञान ब्रह्म है" इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जाती हैं । निरवयव होनेके कारण आत्मामें कोई देशविशेष नहीं है; और उससे मनका नित्यसंयोग है; इस कारण उसमें स्मृतिकी उत्पत्तिके नियमकी अनुपपत्ति अनिवार्य हो जाती है तथा श्रुति, स्मृति और युक्तिसे विरुद्ध आत्माके संसर्गधर्मी होनेकी कल्पना भी होती है । "असङ्ग [आत्मा] का किसीसे सङ्ग नहीं होता" "सङ्गरहित और सबका पालन करनेवाला है" ऐसी श्रुति और स्मृति प्रसिद्ध हैं । युक्तिसे भी जो वस्तु सगुण होती है उसीका गुणवान्‌से संसर्ग होता है; विजातीय वस्तुओंका संयोग कभी नहीं होता । अतः निर्गुण-निर्विशेष और सबसे विलक्षण आत्माका किसी भी विजातीय वस्तुसे संयोग होता है—ऐसा मानना न्यायविरुद्ध होगा । अतः नित्य अविनाशी ज्ञानस्वरूप प्रकाश-

वाक्य-भाष्य

तन्निवृत्त्या स्वाभाविकस्यामृतत्वस्य निमित्तमिति कल्प्यते । यत आह 'वीर्यं विद्यया विन्दते ।'

वीर्यं सामर्थ्यमनात्माध्यारोपमायास्वान्तध्वान्तानभिभाव्य-

स्वाभाविक अमृतत्वकी हेतु बनती है, क्योंकि [अगले वाक्यसे] 'विद्यासे [अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेका] सामर्थ्य प्राप्त होता है' ऐसा कहा भी है ।

विद्यासे वीर्य—सामर्थ्य यानी अनात्माके अध्यारोप तथा माया और

पद-भाष्य

ज्योतिरात्मा ब्रह्मेत्ययमर्थः सर्वबोधबोद्धृत्वे आत्मनः सिध्यति, नान्यथा । तस्मात् 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इति यथाव्याख्यात एवार्थोऽस्माभिः ।

मय आत्मा ही ब्रह्म है—यह अर्थ आत्माके सम्पूर्ण बोधोंके बोद्धा होनेपर ही सिद्ध हो सकता है, और किसी प्रकार नहीं । इसलिये 'प्रतिबोधविदितम्' इसका—हमने जैसी व्याख्या की है—वही अर्थ है ।

ब्रह्मणः स्वपरसंवेद्यताया औपाधिकत्वम्

यत्पुनः स्वसंवेद्यता प्रतिबोधविदितमित्यस्य वाक्यस्यार्थो वर्ण्यते, तत्र भवति सोपाधिकत्वे आत्मनो बुद्ध्युपाधिस्वरूपत्वेन भेदं परिकल्प्यात्मनात्मानं वेत्तीति संव्यवहारः—"आत्मन्येवात्मानं पश्यति" (बृ० उ० ४ । ४ । २३) "स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम" (गीता १० । १५) इति । न तु निरुपाधिकस्यात्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा सम्भवति । संवेदनस्वरूप-

इसके सिवा 'प्रतिबोधविदितम्' इस वाक्यका जो स्वप्रकाशता अर्थ बतलाया जाता है वहाँ आत्माको सोपाधिक मानकर उसमें बुद्धि आदि उपाधिके रूपसे भेदकी कल्पना कर 'आत्मासे आत्माको जानता है' ऐसा व्यवहार हुआ करता है, जैसा कि "आत्मामें ही आत्माको देखता है" "हे पुरुषोत्तम ! तुम स्वयं अपनेसे ही अपनेको जानते हो" इत्यादि वाक्योंद्वारा कहा गया है । किन्तु निरुपाधिक आत्माके तो एक रूप होनेके कारण उसमें स्वसंवेद्यता अथवा परसंवेद्यता सम्भव ही नहीं है । जिस प्रकार प्रकाशको किसी अन्य प्रकाशकी

वाक्य-भाष्य

लक्षणं बलं विद्यया विन्दते । तच्च किंविशिष्टम् ? अमृतमविनाशि । अविद्याजं हि वीर्यं विनाशि ।

अन्तःकरणके कारण प्राप्त हुए अज्ञानसे जिसका पराभव नहीं हो सकता ऐसा बल प्राप्त होता है । वह किस विशेषणसे युक्त है ? वह अमृत यानी अविनाशी है । अविद्यासे होनेवाला बल नाशवान्

पद-भाष्य

त्वात्संवेदनान्तरापेक्षा च न सम्भवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न सम्भवः तद्वत् ।

बौद्धपक्षे स्वसंवेद्यतायां तु क्षणभङ्गुरत्वं निरात्मकत्वं च विज्ञानस्य स्यात्; "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" (बृ० उ० ४।३।३०) "नित्यं विभुं सर्वगतम्" (मु० उ० १ । १ । ६) "स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयः" (बृ० उ० ४ । ४ । २५) इत्याद्याः श्रुतयो बाध्येरन् ।

यत्पुनः प्रतिबोधशब्देन

प्रतिबोधार्थ-विचारः

निर्निमित्तो बोधः प्रतिबोधः यथा सुप्तस्य इत्यर्थं परिकल्पयन्ति, सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे; नि-

अपेक्षा होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप होनेके कारण उसे [अपने ज्ञानके लिये] किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है ।

तथा बौद्धमतानुसार तो विज्ञानकी स्वसंवेद्यता स्वीकार करनेपर भी उसकी क्षणभङ्गुरता और निरात्मकता सिद्ध होने लगेगी । [ऐसा होनेपर] "अविनाशी होनेके कारण विज्ञाताकी विज्ञातिका लोप नहीं होता" "नित्य, विभु और सर्वगत है" "वह यह महान् अज आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभयरूप है" इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जायँगी ।

इसके सिवा जो लोग प्रतिबोधशब्दसे, जैसा कि सुषुप्त पुरुषको होता है वह निर्निमित्त बोध ही प्रतिबोध है—ऐसे अर्थकी कल्पना करते हैं अथवा जो दूसरे लोग [मुक्तिके कारणभूत] एक बार होनेवाले विज्ञानको ही प्रतिबोध

वाक्य-भाष्य

विद्ययाविद्याया बाध्यत्वात् । न तु विद्याया बाधकोऽस्तीति विद्याजममृतं वीर्यम् । अतो विद्यामृतत्वे निमित्तमात्रं भवति । "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति चाथर्वणे (मु०उ० ३ । २ । ४)

होता है, क्योंकि अविद्या विद्यासे बाधित हो जाती है । किन्तु विद्याका बाधक और कोई नहीं है, अतः विद्याजनित वीर्य अमृत होता है । इसलिये विद्या तो अमृतत्वमें केवल निमित्तमात्र होती है । आथर्वण श्रुतिमें भी कहा है—"यह आत्मा बलहीनसे प्राप्त होने योग्य नहीं है ।"

पद-भाष्य

निर्मित्तः सनिमित्तः सकृद्वासकृद्वा प्रतिबोध एव हि सः । अमृतत्वम् अमरणभावं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षं हि यस्माद् विन्दते लभते यथोक्तात् प्रतिबोधात्प्रतिबोध-विदितात्मकात्, तस्मात्प्रतिबोध-विदितमेव मतमित्यभिप्रायः। बोधस्य हि प्रत्यगात्मविषयत्वं च मतममृतत्वे हेतुः । न ह्यात्मनोऽनात्मत्वममृतत्वं भवति । आत्म-त्वादात्मनोऽमृतत्वं निर्निमित्तमेव, एवं मर्त्यत्वमात्मनो यद्-विद्यया अनात्मत्वप्रतिपत्तिः ।

समझते हैं--[वे कुछ भी माना करें] बिना निमित्तसे हो अथवा निमित्तसे तथा एक बार हो अथवा अनेक बार वह सब-का-सब प्रति-बोध ही है [इसका विशेष विवेचन करनेसे हमें कोई प्रयोजन नहीं है] । क्योंकि मुमुक्षुगण उपर्युक्त प्रतिबोध-से अर्थात् प्रत्येक बौद्ध प्रत्ययमें होनेवाले आत्मज्ञानसे ही अमृतत्व—अमरणभाव अर्थात् अपने आत्मामें स्थित होनारूप मोक्ष प्राप्त करते हैं । अतः वह (ब्रह्म) प्रत्येक बोधमें अनुभव होनेवाला ही माना गया है—ऐसा इसका अभिप्राय है । क्योंकि बोधका प्रत्यगात्मविषयक होना ही अमरत्वमें कारण माना गया है । आत्माकी अनात्मरूपता उसके अमरत्वका कारण नहीं हो सकती । आत्माका अमरत्व उसका स्वरूप-भूत होनेके कारण अहेतुक ही है । इसी प्रकार आत्माकी मृत्यु भी अविद्यावश उसमें अनात्मत्वकी उपलब्धि ही है ।

वाक्य-भाष्य

लोकेऽपि विद्याजमेव बलमभि-भवति न शरीरादिसामर्थ्यं यथा हस्त्यादेः ।

लोकमें भी विद्याजनित बल ही दूसरे बलोंका पराभव करता है, शरीर आदि-का बल नहीं; जैसे हाथी-घोड़े आदिके शारीरिक बल [मनुष्यके] विद्याजनित बलको नहीं दबा सकते ।

अथवा प्रतिबोधविदितं मत-

अथवा 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इस

पद-भाष्य

कथं पुनर्यथोक्तयात्मविद्यया- ज्ञानेनामृतत्व- मृतत्वं विन्दत इत्यत प्राप्तिप्रकारः आह—आत्मना स्वेन रूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यम् । धनसहायमन्त्रौषधि-तपोयोगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोत्यभिभवितुम् अनित्यवस्तु-कृतत्वात्; आत्मविद्याकृतं तु वीर्य-मात्मनैव विन्दते, नान्येन इत्यतो-ऽनन्यसाधनत्वादात्मविद्यावीर्यस्य तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोत्यभि-भवितुम् । यत एवमात्म-विद्याकृतं वीर्यमात्मनैव विन्दते, अतः विद्यया आत्मविषयया

तो फिर उपर्युक्त आत्मज्ञानसे किस प्रकार अमरत्व लाभ कर लेता है ? इसपर कहते हैं— [मुमुक्षु पुरुष] आत्मा अर्थात् अपने स्वरूपके ज्ञानसे वीर्य—बल यानी [अमरत्व-प्राप्तिका] सामर्थ्य प्राप्त करता है । धन, सहाय, मन्त्र, ओषधि, तप और योगसे प्राप्त होनेवाला वीर्य अनित्य वस्तुका किया हुआ होनेसे मृत्युका पराभव करनेमें समर्थ नहीं है; किन्तु आत्मविद्यासे होनेवाला वीर्य तो आत्माद्वारा ही प्राप्त किया जाता है—अन्य किसीसे नहीं । इसलिये आत्मविद्याजनित वीर्य किसी अन्य साधनसे प्राप्त होनेवाला नहीं है; अतः वही वीर्य मृत्युका पराभव कर सकता है । क्योंकि [मुमुक्षु पुरुष] इस प्रकार आत्मविद्याजनित वीर्यको आत्माद्वारा

वाक्य-भाष्य

मिति सकृदेवाशेषविपरीतनिरस्त-संस्कारेण स्वप्नप्रतिबोधवद्विदितं तदेव मतं ज्ञातं भवतीति । अथवा गुरूपदेशः प्रतिबोधस्तेन वा विदितं मतमिति । उभयत्र

वाक्यका ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि स्वप्नसे जागे हुएके समान जिसके सम्पूर्ण विपरीत संस्कारोंका एक बार ही बाध हो गया है, उसीसे जो जाना जाता है वही मत अर्थात् ज्ञात होता है । अथवा गुरु-का उपदेश ही प्रतिबोध है, उससे जाना हुआ ही मत (जाना हुआ) है । सोनेसे जागा हुआ तथा गुरुद्वारा

पद-भाष्य

विन्दतेऽमृतम् अमृतत्वम् । "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" (मु० उ० ३ । २ । ४) इत्याथर्वणे । अतः समर्थो हेतुः अमृतत्वं हि विन्दत इति ॥ ४ ॥

ही प्राप्त करता है, इसलिये आत्म-सम्बन्धिनी विद्यासे ही अमरत्व प्राप्त करता है । अथर्ववेदीय (मुण्डक) उपनिषद्में कहा है—"यह आत्मा बलहीन पुरुषको प्राप्त होने योग्य नहीं है" । अतः यह आत्मविद्यारूप हेतु [मृत्युका निवारण करनेमें] समर्थ है क्योंकि इससे अमरत्व प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

कष्टा खलु सुरनरतिर्यक्प्रेतादिषु संसारदुःखबहुलेषु प्राणिनिकायेषु जन्मजरामरणरोगादिसंप्राप्तिरज्ञानात् । अतः—

जिनमें सांसारिक दुःखोंकी बहुलता है उन देवता, मनुष्य, तिर्यक् और प्रेतादि प्राणियोंमें अज्ञानवश जन्म, जरा, मरण और रोगादिकी प्राप्ति होना निश्चय ही बड़े दुःखकी बात है । अतः—

आत्मज्ञान ही सार है

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ ५ ॥

यदि इस जन्ममें ब्रह्मको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें न जाना तब तो बड़ी भारी हानि है । बुद्धिमान् लोग उसे समस्त प्राणियोंमें उपलब्ध करके इस लोकसे जाकर (मरकर) अमर हो जाते हैं ॥ ५ ॥

वाक्य-भाष्य

प्रतिबोधशब्दप्रयोगोऽस्ति सुप्तप्रतिबुद्धो गुरुणा प्रतिबोधित इति । पूर्वं तु यथार्थम् ॥ ४ ॥

प्रतिबोधित—दोनों ही जगह 'प्रतिबोध' शब्दका प्रयोग होता है । परन्तु इन तीनोंमें सबसे पहला अर्थ ही ठीक है ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

इह एव चेत् मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन् यदि अवेदीद् आत्मानं यथोक्तलक्षणं विदितवान् यथोक्तेन प्रकारेण, अथ तदा अस्ति सत्यं मनुष्यजन्मन्यस्मिन्नविनाशोऽर्थवत्ता वा सद्भावो वा परमार्थता वा सत्यं विद्यते । न चेदिहावेदीदिति, न चेद् इह जीवंश्चेद् अधिकृतः अवेदीत् न विदितवान्ः तदा महती दीर्घा अनन्ता विनष्टिः विनाशनं जन्मजरामरणादिप्रबन्धाविच्छेदलक्षणा संसारगतिः ।

यदि किसी अधिकारी पुरुषने सामर्थ्य लाभ कर इस लोकमें ही उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त आत्माको पूर्वोक्त प्रकारसे जान लिया, तब तो उसके इस मनुष्यजन्ममें सत्य—अविनाशिता—सार्थकता—सद्भाव अथवा परमार्थता विद्यमान है । और यदि न जाना अर्थात् इस लोकमें जीवित रहते हुए ही उस अधिकारीने आत्मज्ञान प्राप्त न किया तो उसे महान्—दीर्घ यानी अनन्त विनाश अर्थात् जन्म, जरा और मरण आदिकी परम्पराका विच्छेद न होनारूप संसारगतिकी ही प्राप्ति होती है ।

वाक्य-भाष्य

इह चेदवेदीत् इत्यवश्यकर्तव्यतोक्तिर्विपर्यये विनाशश्रुतेः । इह मनुष्यजन्मनि सत्यवश्यमात्मा वेदितव्य इत्येतद्विधीयते । कथमिह चेदवेदीद्विदितवान्, अथ सत्यं परमार्थतत्त्वमस्त्यवाप्तं तस्य जन्म सफलमित्यभिप्रायः । न चेदिहावेदीन्न विदितवान्

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति' यह श्रुति आत्मसाक्षात्कारकी अवश्य-कर्तव्यता बतलानेवाली है, क्योंकि इसकी विपरीत अवस्थामें श्रुतिने विनाश बतलाया है । इह अर्थात् इस मनुष्य-जन्मके रहते हुए आत्माको अवश्य जान लेना चाहिये—ऐसा विधान किया जाता है । किस प्रकार कि यदि इस जन्ममें आत्माको जान लिया तो ठीक है, उसे परमार्थतत्त्व प्राप्त हो गया; अभिप्राय यह कि उसका जन्म सफल हो गया । और यदि उसे इस जन्ममें न जाना—न

पद-भाष्य

तस्मादेवं गुणदोषौ विजानन्तो ब्राह्मणाः भूतेषु भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च एकमात्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य विज्ञाय साक्षात्कृत्य धीराः धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य ममाहंभावलक्षणादविद्यारूपादस्माल्लोकाद् उपरम्य सर्वात्मैकभावमद्वैतमापन्नाः सन्तः

अतः इस प्रकार गुण और दोषको जाननेवाले धीर—बुद्धिमान् ब्राह्मण-लोग प्राणी-प्राणीमें अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जीवोंमें एक ब्रह्मरूप आत्मतत्त्वको 'विचित्य'—जानकर अर्थात् साक्षात् कर यहाँसे लौटनेपर अर्थात् ममता-अहंतारूप इस अविद्यात्मक लोकसे उपरत होकर सबमें आत्मैकत्वरूप अद्वैतभावको प्राप्त होकर अमर अर्थात् ब्रह्म ही

वाक्य-भाष्य

वृथैव जन्म। अपि च महती विनष्टिर्महान्विनाशो जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदप्राप्तिलक्षणः स्यादतस्तस्मादवश्यं तद्विच्छेदाय ज्ञेय आत्मा।

समझो तो उनका जन्म वृथा ही गया। यही नहीं, जन्म-मरण-परम्पराकी अविच्छिन्नतारूप बड़ी भारी हानि भी है। अतः उस परम्पराके विच्छेदके लिये आत्माको अवश्य जान लेना चाहिये।

ज्ञानेन तु किं स्यादित्युच्यते भूतेषु भूतेषु चराचरेषु सर्वेषु इत्यर्थः। विचित्य पृथङ्निष्कृष्य एकमात्मतत्त्वं संसारधर्मैरस्पृष्टमात्मभावेनोपलभ्येत्यर्थः अनेकार्थत्वाद्धातूनां न पुनश्चित्वेति सम्भवति विरोधात्। धीराः धीमन्तो विवेकिनो विनिवृत्त-

आत्मज्ञानसे होगा क्या सो [भूतेषु भूतेषु आदि वाक्यसे] बतलाते हैं। भूत-भूतमें अर्थात् सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंमें आत्माका शोधनकर—उसे उनसे अलग निकालकर यानी संसार-धर्मोंसे अस्पृष्ट एकमात्र आत्मतत्त्वको आत्मभावसे उपलब्ध कर धीर—बुद्धिमान् अर्थात् विवेकी पुरुष—जिनकी बाह्य विषयोंकी अभिलाषा निवृत्त हो गयी है—मरकर अर्थात् इस शरीरादि अनात्मस्वरूप लोकसे जिनका ममत्व और अहंकार निवृत्त हो गया है ऐसे होकर अमृत—अमरण-

पद-भाष्य

अमृता भवन्ति ब्रह्मैव भवन्तीत्यर्थः । "स यो ह वै तत्परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३ । २ । ९) इति श्रुतेः ॥५॥

हो जाते हैं, जैसा कि "जो पुरुष निश्चयपूर्वक उस परब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

यक्षोपाख्यान

वाक्य-भाष्य

बाह्यविषयाभिलाषाः प्रेत्य मृत्वास्माल्लोकाच्छरीराद्यनात्मलक्षणात् व्यावृत्तममत्वाहंकाराः सन्त इत्यर्थः, अमृता अमरणधर्माणो नित्यविज्ञानामृतत्वस्वभावा एव भवन्ति ॥ ५ ॥

धर्मा यानी नित्यविज्ञानामृतस्वभाववाले ही हो जाते हैं। धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं [इसीलिये यहाँ 'विचित्य' क्रियाका उपर्युक्त अर्थ ठीक है] यहाँ इसका 'चयन करके' ऐसा अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि आत्माके सम्बन्धमें ऐसा अर्थ करनेसे विरोध आता है ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

वाक्य-भाष्य

यक्षोपाख्यानस्य प्रयोजने विकल्पाः

ब्रह्म ह देवेभ्य इति ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोक्तिर्यत्नाधिक्यार्था । समाप्ता ब्रह्मविद्या यदधीनः पुरुषार्थः । अत ऊर्ध्वमर्थवादेन ब्रह्मणो दुर्विज्ञेय-

'ब्रह्म ह देवेभ्यः' इत्यादि वाक्यसे [आरम्भ होनेवाली आख्यायिकाके द्वारा] जो ब्रह्मकी दुर्विज्ञेयता बतलायी गयी है वह, ब्रह्मप्राप्तिके लिये अधिक यत्न करना चाहिये—इस प्रयोजनके लिये है। जिसके अधीन पुरुषार्थ है वह ब्रह्मविद्या तो समाप्त हो गयी।

वाक्य-भाष्य

तोच्यते । तद्विज्ञाने कथं नु नाम यत्नमधिकं कुर्यादिति ।

अब आगे अर्थवादद्वारा ब्रह्मकी दुर्विज्ञेयता बतलायी जाती है, जिससे कि उसे प्राप्त करनेके लिये मनुष्य किसी-न-किसी तरह अधिक यत्न करे ।

शमाद्यर्थो वाम्नायोऽभिमानशातनात् । शमादि वा ब्रह्मविद्यासाधनं विधित्सितं तदर्थोऽयमर्थवादाम्नायः । न हि शमादिसाधनरहितस्याभिमानरागद्वेषादियुक्तस्य ब्रह्मविज्ञाने सामर्थ्यमस्ति, व्यावृत्तबाह्यमिथ्याप्रत्ययग्राह्यत्वाद्ब्रह्मणः । यस्माच्चाग्न्यादीनां जयाभिमानं शातयति ततश्च ब्रह्मविज्ञानं दर्शयत्यभिमानोपशमे । तस्माच्छमादिसाधनविधानार्थोऽयमर्थवाद इत्यवसीयते ।

अथवा यह श्रुतिभाग अभिमानका नाश करनेवाला होनेसे शमादिकी प्राप्तिके लिये हो सकता है । या शमादिको ब्रह्मविद्याका साधन बतलाना इष्ट है, अतः उसीके लिये यह अर्थवाद-श्रुति है । जो पुरुष शमादि साधनसे रहित तथा अभिमान और राग-द्वेषादिसे युक्त है उसका ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें सामर्थ्य नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म बाह्य मिथ्या प्रतीतियोंके निरसनद्वारा ही ग्रहण किया जाने योग्य है । क्योंकि यह आख्यायिका अग्नि आदिके विजय-सम्बन्धी अभिमानको नष्ट करती है, इसलिये अभिमानके शान्त होनेपर ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति दिखलाती है । अतः इसका सारांश यह हुआ कि यह अर्थवाद शमादि साधनोंका विधान करनेके लिये ही है ।

सगुणोपासनार्थो वापोदितत्वात् । नेदं यदिदमुपासत इत्युपास्यत्वं ब्रह्मणोऽपोदितमपोदितत्वादनुपास्यत्वे प्राप्ते तस्यैव ब्रह्मणः सगुणत्वेनाधिदैवमध्यात्मं चोपासनं विधातव्यमित्येवमर्थो वा । इत्यधिदैवतं तद्वनमित्युपासितव्यमिति हि वक्ष्यति ।

अथवा यह सगुणोपासनाका विधान करनेके लिये भी हो सकता है, क्योंकि पहले ब्रह्मके उपास्यत्वका निषेध कर चुके हैं । पहले 'नेदं यदिदमुपासते' इस श्रुतिसे ब्रह्मके उपास्यत्वका निषेध हो चुका है; इस प्रकार निषिद्ध हो जानेसे ब्रह्मकी अनुपास्यता प्राप्त होनेपर उसी ब्रह्मकी सगुणभावसे अधिदैव या अध्यात्म उपासना करनी चाहिये, इसीको बतलानेके लिये यह अर्थवाद हो सकता है, जैसा कि आगे चलकर 'तद्वनमित्युपासितव्यम्' इस [४ । ६ मन्त्र] से उसके अधिदैवरूपके उपास्यत्वका वर्णन करेंगे ।

वाक्य-भाष्य

ब्रह्मेति परो लिङ्गात् । न ह्यन्यत्र परादीश्वरात् नित्यसर्वज्ञात् परिभूयाग्न्यादींस्तृणं वज्रीकर्तुं सामर्थ्यमस्ति तन्न शशाक दग्धुमित्यादिलिङ्गाद्ब्रह्मशब्दवाच्य ईश्वर इत्यवसीयते। न ह्यन्यथाग्निस्तृणं दग्धुं नोत्सहते वायुर्वादातुम् । ईश्वरेच्छया तृणमपि वज्रीभवतीत्युपपद्यते । तत्सिद्धिर्जगतो नियतप्रवृत्तेः।

ब्रह्मपदाभिप्रायः

'ब्रह्म' इस शब्दसे यहाँ परमात्मा (ईश्वर) समझना चाहिये, क्योंकि यहाँ उसीकी सूचना देनेवाले लिङ्ग (चिह्न) देखे जाते हैं । नित्यसर्वज्ञ परमेश्वरको छोड़कर और किसीमें अग्नि आदि देवताओंका पराभव करके तृणको वज्र बना देनेकी शक्ति नहीं हो सकती । अतः 'तन्न शशाक दग्धुम्' (उसे अग्नि नहीं जला सका) इत्यादि लिङ्गसे ब्रह्मशब्दका वाच्य ईश्वर ही है—ऐसा निश्चित होता है । इसके सिवा और किसी कारणसे अग्नि तृणको जलानेमें और वायु उसे उड़ानेमें असमर्थ नहीं हो सकते थे । हाँ, यह ठीक है कि ईश्वरकी इच्छासे तो तृण भी वज्र हो जाता है । उस ईश्वरकी सिद्धि संसारकी नियमित प्रवृत्तिसे होती है ।

श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभिर्नित्यसर्वविज्ञान ईश्वरे सर्वात्मनि सर्वशक्तौ सिद्धेऽपि शास्त्रार्थनिश्चयार्थमुच्यते। तस्येश्वरस्य सद्भावसिद्धिः कुतो भवतीत्युच्यते ।

यद्यपि नित्यसर्वविज्ञानस्वरूप, सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् ईश्वर श्रुति, स्मृति और प्रसिद्धिसे सिद्ध भी है तो भी शास्त्रके अर्थको निश्चय करनेके लिये यहाँ यह [अनुमान] कहा जाता है । उस ईश्वरके सद्भावकी सिद्धि किस प्रकार होती है ? इसपर कहते हैं—

ईश्वरस्य जगन्नियन्तृत्वनिरूपणम्

यदिदं जगद्देवगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं द्युवियत्पृथिव्यादित्यचन्द्रग्रहनक्षत्रविचित्रं विविधप्राण्युपभोगयोग्यस्थानसाधनसम्बन्धि तदत्यन्तकुशलशिल्पि-

स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्रोंके कारण विचित्र दीखनेवाला तथा नाना प्रकारके प्राणियोंके उपभोगयोग्य स्थान और साधनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला यह जितना देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और पिशाचादिरूप जगत् है वह अत्यन्त कुशल शिल्पियोंद्वारा भी बनाया जाना कठिन

वाक्य-भाष्य

भिरपि दुर्निर्माणं देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रममेतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति; कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात्। गृहप्रासादरथशयनासनादिवत् । विपक्ष आत्मादिवत्।

कर्मणामस्वातन्त्र्यम्

कर्मण एवेति चेत्? न परतन्त्रस्य निमित्तमात्रत्वात्। यदिदमुपभोगवैचित्र्यं प्राणिनां तत्साधनवैचित्र्यं च देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं च तन्न नित्यसर्वज्ञकर्तृकम् किं तर्हि? कर्मण एव तस्याचिन्त्यप्रभावत्वात् सर्वैश्च फलहेतुत्वाभ्युपगमात्। सति कर्मणः फलहेतुत्वे किमीश्वराधिककल्पनयेति न नित्यस्येश्वरस्य नित्यसर्वज्ञशक्तेः फलहेतुत्वं चेति चेत्।

है। अतः यह देश, काल और निमित्तके अनुरूप नियमित प्रवृत्ति-निवृत्तिके क्रमवाला जगत् भोक्ता और कर्मके विभागको जाननेवाले किसी चेतनके प्रयत्नपूर्वक ही हो सकता है, क्योंकि कार्यरूप होनेके कारण यह उपर्युक्त लक्षणोंवाला है। जैसे कि गृह, प्रासाद, रथ, शय्या और आसन आदि [सभी कार्यरूप अनित्य पदार्थ देखे जाते हैं]; तथा इसके विपरीत [व्यतिरेकी दृष्टान्तस्वरूप] आत्मा, आकाश आदि [नित्य पदार्थ हैं]।

यदि कहो कि जगत्की उत्पत्ति कर्मसे ही है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्म परतन्त्र होनेके कारण केवल उसका निमित्त हो सकता है। [मीमांसककी युक्तिको स्पष्ट करके दिखलाते हैं] यह जो प्राणियोंके उपभोगकी विचित्रता है तथा उनके साधनोंकी विभिन्नता और देश, काल तथा निमित्तके अनुरूप प्रवृत्ति-निवृत्तिका नियमित क्रम है वह किसी नित्य सर्वज्ञका रचा हुआ नहीं है। तो किसका रचा हुआ है? [इसपर कहते हैं—] यह केवल कर्मका ही फल है क्योंकि वह अचिन्त्य प्रभाववाला है तथा सभीने उसे फलके हेतुरूपसे स्वीकार किया है। इस प्रकार फलके हेतुरूपसे कर्मके रहते हुए ईश्वरकी अधिक कल्पना करनेसे क्या लाभ है? अतः नित्य, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें फलका हेतुत्व नहीं।

वाक्य-भाष्य

न कर्मण एवोपभोगवैचित्र्याद्युपपद्यते । कस्मात् ? कर्तृतन्त्रत्वात्कर्मणः । चितिमत्प्रयत्ननिर्वृत्तं हि कर्म तत्प्रयत्नोपरमाद् उपरतं सद्देशान्तरे कालान्तरे वा नियतनिमित्तविशेषापेक्षं कर्तुः फलं जनयिष्यतीति न युक्तमनपेक्ष्यान्यदात्मनः प्रयोक्तृ । कर्तैव फलकाले प्रयोक्तेति चेन्मया निर्वर्तितोऽसि त्वां प्रयोक्ष्ये फलाय यदात्मानरूपं फलमिति ।

सिद्धान्ती—केवल कर्मसे ही उपभोग आदिकी विचित्रता सम्भव नहीं है । किस कारणसे ? क्योंकि कर्म कर्ताके अधीन है । चेतन पुरुषके यत्नसे निष्पन्न होनेवाला कर्म उसके प्रयत्नके निवृत्त होनेसे निवृत्त होकर देशान्तर या कालान्तरमें किसी नियत निमित्तविशेषकी अपेक्षासे ही कर्ताको फलकी प्राप्ति करावेगा—ऐसी व्यवस्था होनेके कारण यह कहना उचित नहीं कि वह अपने किसी दूसरे प्रवर्तककी अपेक्षा न करके ही फल दे देता है । यदि कर्म करनेवाले जीवको ही फलकालमें उसका प्रवर्तक माना जाय तो [उस समय वह कर्मसे कहेगा—] 'अरे कर्म ! मैंने तुझे किया था, अब मैं ही तुझे फल देनेके लिये प्रवृत्त करता हूँ, अतः मुझे अपने अनुरूप फल दे ।'

न, देशकालनिमित्तविशेषानभिज्ञत्वात् । यदि हि कर्ता देशविशेषाभिज्ञः सन्स्वातन्त्र्येण कर्म नियुञ्ज्यात्ततोऽनिष्टफलस्याप्रयोक्ता स्यात् । न च निर्निमित्तं तदनिच्छयात्मसमवेतं तच्चर्मवद्विकरोति कर्म ।

किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि जीव देश, काल और निमित्तविशेषसे अनभिज्ञ है । यदि कर्ता ही देशादि विशेषका ज्ञाता होकर स्वतन्त्रतापूर्वक कर्मको प्रवृत्त करता तो अनिष्ट फलके लिये तो उसे प्रेरित ही न किया करता । इसके सिवा, किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा न रखकर कर्ताकी इच्छाके बिना ही, आत्माके साथ नित्यसम्बद्ध हुआ कर्म अपने-आप ही चमड़ेके समान विकारको प्राप्त नहीं होता ।

न चात्मकृतमकर्तृसमवेतमयस्कान्तमणिवदाकष्टृ भवति

[क्षणिक-विज्ञानरूप] आत्माका किया हुआ कर्म कर्तासे नित्य सम्बद्ध न होकर चुम्बक-पत्थरके समान अपने-आप ही

वाक्य-भाष्य

प्रधानकर्तृसमवेतत्वात्कर्मणः । भूताश्रयमिति चेन्न साधनत्वात् । कर्तृक्रियायाः साधनभूतानि भूतानि क्रियाकालेऽनुभूतव्यापाराणि समाप्तौ च हलादिवत्कर्त्रा परित्यक्तानि न फलं कालान्तरे कर्तुमुत्सहन्ते न हि हलं क्षेत्राद् व्रीहीन्गृहं प्रवेशयति । भूतकर्मणोश्चाचेतनत्वात्स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । वायुवदिति चेन्नासिद्धत्वात् । न हि वायोरचितिमतः स्वतःप्रवृत्तिः सिद्धा रथादिष्वदर्शनात् ।

फलका आकर्षण नहीं कर सकता, क्योंकि कर्मका प्रधान कर्तासे नित्यसम्बन्ध है। यदि कहो कि कर्म भूतोंके आश्रयसे रहता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वे तो केवल उसके साधन हैं। कर्ताकी क्रियाके साधनरूप भूत, जो केवल क्रियाकालमें उसके व्यापारका अनुभव करते हैं और व्यापारके समाप्त हो जानेपर हल आदिके समान कर्ताद्वारा त्याग दिये जाते हैं, कालान्तरमें उसका फल देनेमें समर्थ नहीं हो सकते। हल धान्योंको खेतसे ले जाकर घरमें नहीं पहुँचा सकता। अतः अचेतन होनेके कारण भूत और कर्मोंकी स्वतः प्रवृत्ति असम्भव है। यदि कहो कि [अचेतन होनेपर भी] वायुके समान इनकी स्वतः प्रवृत्ति हो सकती है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह असिद्ध है। अचेतन वायुकी स्वतः प्रवृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि रथादि अन्य अचेतन पदार्थोंमें वह देखी नहीं जाती।

शास्त्रात्कर्मण एवेति चेच्छास्त्रं हि क्रियातः फलसिद्धिमाह नेश्वरादेः स्वर्गकामो यजेतेत्यादि । न च प्रमाणाधिगतत्वादानर्थक्यं युक्तम् । न चेश्वरास्तित्वे प्रमाणान्तरमस्तीति चेत् ।

मीमांसक—किन्तु शास्त्रानुसार तो कर्मसे ही फल मिलता है ! 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि शास्त्र तो कर्मसे ही फलकी सिद्धि बतलाता है, ईश्वरादिसे नहीं। इस प्रकार जो बात प्रमाणसिद्ध है उसको व्यर्थ बतलाना भी ठीक नहीं है, और ईश्वरकी सत्तामें भी [अर्थापत्तिको छोड़कर] और कोई प्रमाण नहीं है।

न, दृष्टन्यायहानानुपपत्तेः ।

क्रियाभेदनिरूपणम्

क्रिया हि द्विविधा दृष्टफलादृष्टफला च, दृष्टफलापि द्विविधानन्तर-

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि दृष्ट न्यायको त्यागना उचित नहीं है। क्रिया दो प्रकारकी है—दृष्टफला और अदृष्टफला। दृष्ट-

वाक्य-भाष्य

फलागामिफला च, अनन्तरफला गतिभुजिलक्षणा। कालान्तरफला च कृषिसेवादिलक्षणा तत्रानन्तरफला फलापवर्गिण्येव कालान्तरफला तूत्पन्नप्रध्वंसिनी।

आत्मसेव्याद्यधीनं हि कृषिसेवादेः फलं यतः। न चोभयन्यायव्यतिरेकेण स्वतन्त्रं कर्म ततो वा फलं दृष्टम्। तथा च कर्मफलप्राप्तौ न दृष्टन्यायहानमुपपद्यते। तस्मादुच्छान्ते यागादिकर्मणि नित्यः कर्तृकर्मफलविभागज्ञ ईश्वरः सेव्यादिवद्यागाद्यनुरूपफलदातोपपद्यते। स चात्मभूतः सर्वस्य सर्वक्रियाफलप्रत्ययसाक्षी नित्यविज्ञानस्वभावः संसारधर्मैरसंस्पृष्टः।

ईश्वरासित्व-साधनम्

श्रुतेश्च। "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (क० उ० २। २। ११) "जरां मृत्युमत्येति" (बृ० उ० ३। ५। १) "विजरो विमृत्युः" (छा० उ० ८। ७। १) "सत्यकामः सत्य-

फलाके भी दो भेद हैं—अनन्तरफला[1] और आगामिफला[2]। गमन और भोजन इत्यादि क्रियाएँ अनन्तरफला हैं तथा कृषि और सेवा आदि कालान्तरफला हैं। उनमें जो अनन्तरफला हैं वे फलोदयके समय ही नष्ट हो जाती हैं तथा कालान्तरफला उत्पन्न होकर [फल देनेसे पूर्व ही] नष्ट हो जानेवाली हैं।

क्योंकि कृषिका फल अपने अधीन है और सेवा आदिका फल अपने सेव्यके अधीन है। इस दो प्रकारके न्यायको छोड़कर कर्म या उससे प्राप्त होनेवाला फल स्वतन्त्र देखा भी नहीं जाता; तथा कर्मफलकी प्राप्तिमें इस स्पष्ट दीखनेवाले न्यायको छोड़ना उचित भी नहीं है, इसलिये यागादि कर्मोंके समाप्त हो जानेपर उन यागादिके अनुरूप फल देनेवाला तथा कर्ता, कर्म और फलके विभागको जाननेवाला ईश्वर सेव्य आदिके समान होना ही चाहिये, और वह सबका अन्तरात्मा, सम्पूर्ण कर्मफल और प्रतीतियोंका साक्षी, नित्यविज्ञानस्वरूप तथा सांसारिक धर्मोंसे अछूता होना चाहिये।

यही बात श्रुतिसे भी सिद्ध होती है। "सम्पूर्ण लोकोंसे विलक्षण परमात्मा लोकके दुःखसे लिप्त नहीं होता" "वह जरा और मृत्युको पार किये हुए है" "जरा और मृत्युसे रहित है" "वह

१. तत्काल फल देनेवाली। २. भविष्यमें फल देनेवाली।

वाक्य-भाष्य

सङ्कल्पः" (छा० उ० ८ । ७ । १) "एष सर्वेश्वरः" (मा० उ० ६) "साधु कर्म कारयति" (कौपी० उ० ३ । ९) "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (श्वे० उ० ४ । ६) "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" (बृ० उ० ३ । ८ । ९) इत्याद्या असंसारिण एकस्यात्मनो नित्यमुक्तस्य सिद्धौ श्रुतयः । स्मृतयश्च सहस्रशो विद्यन्ते । न चार्थवादाः शक्यन्ते कल्पयितुम् । अनन्ययोगित्वे सति विज्ञानोत्पादकत्वात् । न चोत्पन्नं विज्ञानं बाध्यते ।

अप्रतिषेधाच्च । न चेश्वरो नास्तीति निषेधोऽस्ति । प्राप्त्यभावादिति चेन्नोक्तत्वात् । न हिंस्यादितिवत्प्राप्त्यभावात्प्रतिषेधो नारभ्यत इति चेन्न । ईश्वरसद्भावे न्यायस्योक्तत्वात् । अथवाप्रतिषेधादिति कर्मणः फलदान ईश्वरकालादीनां न प्रतिषेधोऽस्ति । न च निमित्तान्तर-

सत्यकाम सत्यसङ्कल्प है" "यह सर्वेश्वर है" "वह शुभ कर्म कराता है" "दूसरा [पक्षी] कर्मफलको न भोगता हुआ केवल उसे देखता है" "इस अक्षर-ब्रह्मकी आज्ञामें [सूर्य और चन्द्रमा स्थित हैं]" इत्यादि श्रुतियाँ संसार-धर्मोंसे रहित एक नित्यमुक्त आत्माकी सिद्धिमें ही प्रमाणभूत हैं । इसी प्रकार सहस्रों स्मृतियाँ भी मौजूद हैं । ये सब अर्थवाद हैं—ऐसी भी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि वे किसी अन्य विधिके शेषभूत न होनेके कारण स्वतन्त्र ज्ञान उत्पन्न करनेवाले हैं और उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान [किसी प्रमाणान्तरसे] बाधित भी नहीं होता ।

[ईश्वरका] निषेध न होनेके कारण भी [पूर्वोक्त श्रुतियाँ अर्थवाद नहीं हैं] । ईश्वर नहीं है—ऐसा निषेध कहीं भी नहीं मिलता । यदि कहो कि ईश्वरकी प्राप्ति (सिद्धि) न होनेके कारण निषेध नहीं है, तो ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि उसके विषयमें कहा जा चुका है । अर्थात् यदि ऐसा कहो कि [शास्त्रमें] ईश्वरका कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता, इसीलिये 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इस वाक्यके समान ईश्वरके निषेधका भी आरम्भ नहीं किया गया, तो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी सत्तामें उपर्युक्त न्याय कहा गया है । अथवा 'अप्रतिषेधात्' इस हेतुका यह तात्पर्य समझना चाहिये कि कर्मका फल देनेमें ईश्वर और काल आदिका प्रतिषेध नहीं किया गया है । कर्मको,

वाक्य-भाष्य

निरपेक्षं केवलेन कर्त्रैव प्रयुक्तं फलदं दृष्टम् । न विनष्टोऽपि यागः कालान्तरे फलदो भवति ।

सेव्यबुद्धिवत्सेवकेन सर्वज्ञेश्वरबुद्धौ तु संस्कृतायां यागादिकर्मणा विनष्टेऽपि कर्मणि सेव्यादिव ईश्वरात्फलं कर्तुर्भवतीति युक्तम् । न तु पुनः पदार्था वाक्यशतेनापि देशान्तरे कालान्तरे वा स्वं स्वं स्वभावं जहति । न हि देशकालान्तरेषु चाग्निरनुष्णो भवति । एवं कर्मणोऽपि कालान्तरे फलं द्विप्रकारमेवोपलभ्यते ।

कर्मफलप्रदाने ईश्वरस्य प्राधान्यम्

बीजक्षेत्रसंस्कारपरिरक्षाविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलं कृष्यादि विज्ञानवत्सेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलं च सेवादि । यागादेः कर्मणस्तथाविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलत्वानुपपत्तौ कालान्तरफलत्वात्कर्मदेशकालनिमित्तविपाकविभागबुद्धिसंस्कारापेक्षं फलं भवितुमर्हति; सेवादिकर्मानुरूपफलप्र-

किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा न करके केवल कर्तासे ही प्रेरित होकर फल देते देखा भी नहीं है। सर्वथा नष्ट हुआ याग कालान्तरमें फल देनेवाला कभी नहीं होता।

जिस प्रकार सेवककी सेवासे सेव्य (स्वामी) की बुद्धिपर संस्कार पड़ जाता है उसी प्रकार यागादि कर्मसे सर्वज्ञ ईश्वरकी बुद्धिके संस्कारयुक्त हो जानेगे, फिर उस कर्मके नष्ट हो जानेपर भी, जैसे सेवकको स्वामीसे वैसे ही कर्ताको ईश्वरसे फल मिल जाता है—ऐसा विचार ही ठीक है। पदार्थ तो, सैकड़ों प्रमाणभूत वाक्य होनेपर भी, देशान्तर या कालान्तरमें अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। अग्नि किसी भी देश या कालान्तरमें शीतल नहीं हो सकता। इस प्रकार कर्मोंका भी कालान्तरमें दो ही प्रकार फल मिलता देखा जाता है।

कृषि आदि कर्म ऐसे कर्ताकी अपेक्षासे फल देनेवाले हैं जिसे बीज, क्षेत्रसंस्कार तथा खेतीकी रक्षा आदिका ज्ञान हो, और सेवा आदि कर्म विज्ञानवान् सेव्यकी बुद्धिके संस्कारकी अपेक्षासे फलदायक हैं। यागादि कर्म कालान्तरमें फल देनेवाले हैं इसलिये उनकी फलप्राप्तिको अज्ञानी कर्ताकी अपेक्षासे मानना तो ठीक नहीं है; अतः उनका फल कर्म, देश, काल, निमित्त और कर्मविपाकके विभागको जाननेवाले किसी चेतनकी बुद्धिके संस्कारकी अपेक्षासे ही हो सकता है, जैसे कि सेवा आदि कर्मोंका

पद-भाष्य

वक्ष्यमाणाख्यायिकायाः प्रयोजनम्

'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इत्यादिश्रवणाद् यदस्ति तद्विज्ञातं प्रमाणैः यन्नास्ति तदविज्ञातं शशविषाणकल्पमत्य-

'ब्रह्म जाननेवालोंके लिये अविज्ञात है और न जाननेवालोंके लिये ज्ञात है' इस श्रुतिसे मन्दबुद्धि पुरुषोंको ऐसा भ्रम न हो जाय कि 'जो वस्तु है वह तो प्रमाणोंसे जान ही ली जाती है और जो

वाक्य-भाष्य

सेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलस्येव । तस्मात्सिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः सर्वजन्तुबुद्धिकर्मफलविभागसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा । "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ० उ० ३ । ४ । १) इति श्रुतेः ।

ईश्वरस्य सार्वात्म्यस्थापनम्

स एव चात्रात्मा जन्तूनां नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" (बृ० उ० ३ । ८ । ११) इत्याद्यात्मान्तरप्रतिषेधश्रुतेः । "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८-१६) इति चात्मत्वोपदेशात् । न हि मृत्पिण्डः काञ्चनात्मत्वेनोपदिश्यते ।

ज्ञानशक्तिकर्मोपास्योपासकशुद्धाशुद्धमुक्तामुक्तभेदादात्मभेद एवेति चेन्न, भेददृष्ट्यपवादात् ।

फल उसके अनुरूप फलको जाननेवाले सेव्यकी बुद्धिपर हुए संस्कारकी अपेक्षासे मिलता है । इससे सम्पूर्ण जीवोंकी बुद्धि कर्म और फलके विभागका साक्षी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध हुआ । "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सर्वान्तर आत्मा है" इस श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है ।

और वही इस दृष्टिमें जीवोंका आत्मा है । उससे भिन्न और कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता अथवा विज्ञाता नहीं है, जैसा कि "इससे भिन्न और कोई विज्ञाता नहीं है" इत्यादि भिन्न आत्माका प्रतिषेध करनेवाली श्रुतिसे, तथा "तत्त्वमसि" इस महावाक्यद्वारा ब्रह्मका आत्मत्व उपदेश करनेसे सिद्ध होता है । मिट्टीके ढेलेका सुवर्णरूपसे कभी उपदेश नहीं किया जाता ।

यदि कहो कि ज्ञान, शक्ति, कर्म, उपास्य-उपासक, शुद्ध-अशुद्ध तथा मुक्त-अमुक्त इत्यादि भेदोंके कारण आत्माका भेद ही है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ भेददृष्टि अपवादस्वरूप है ।

पद-भाष्य

न्तमेवासद्दृष्टम्; तथेदं ब्रह्माविज्ञातत्वादसदेवेति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो मा भूदिति तदर्थेयमाख्यायिका आरभ्यते ।

नहीं है वह अविज्ञात वस्तु तो खरगोशके सींगके समान अत्यन्त अभावरूप ही देखी गयी है, अतः यह ब्रह्म भी अविज्ञात होनेके कारण असत् ही है' इसीलिये यह आख्यायिका आरम्भ की जाती है ।

तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृ देवानामपि परो देवः;

वह ब्रह्म ही सब प्रकारसे शासन करनेवाला, देवताओंका भी परम देव, ईश्वरोंका भी परम ईश्वर, दुर्विज्ञेय

वाक्य-भाष्य

यदुक्तं संसारिण ईश्वरादनन्या इति तन्न ।

किं तर्हि ?

भेद एव संसार्यात्मनाम् ।

कस्मात् ?

लक्षणभेदादश्वमहिषवत् । कथं लक्षणभेद इत्युच्यते—ईश्वरस्य तावन्नित्यं सर्वविषयं ज्ञानं सवितृप्रकाशवत् । तद्विपरीतं संसारिणां खद्योतस्येव । तथैव शक्तिभेदोऽपि । नित्या सर्वविषया चेश्वरशक्तिर्विपरीतेतरस्य । कर्म च चित्स्वरूपात्म-

पूर्व०—तुमने जो कहा कि संसारी जीवोंका ईश्वरसे अभेद है सो ठीक नहीं ।

सिद्धान्ती—तो फिर क्या बात है ?

पूर्व०—संसारी जीव और परमात्माका तो परस्पर भेद ही है ।

सिद्धान्ती—क्यों ?

पूर्व०—घोड़े और भैंसके समान उनके लक्षणोंमें भेद होनेके कारण; और यदि कहो कि उनके लक्षणोंमें किस प्रकार भेद है तो बतलाते हैं [सुनो,] सूर्यके प्रकाशके समान ईश्वरको सब विषयोंका सर्वदा ज्ञान रहता है, उसके विपरीत संसारी जीवोंको खद्योत (जुगनू) के समान अल्पज्ञान है । इसी प्रकार दोनोंकी शक्तियोंमें भी भेद है । ईश्वरकी शक्ति नित्य और सर्वतोमुखी है तथा जीवकी इसके विपरीत है । ईश्वरका कर्म भी उसके चित्स्वरूपकी सत्तामात्रसे ही

पद-भाष्य

ईश्वराणामपि परमेश्वरः, दुर्विज्ञेयः देवानां जयहेतुः, असुराणां पराजयहेतुः; तत्कथं नास्तीत्येत-

तथा देवताओंकी जयका कारण और असुरोंकी पराजयका हेतु है। तब वह है किस प्रकार नहीं? [अर्थात् अवश्य ही है]। इस अर्थके

वाक्य-भाष्य

सत्तामात्रनिमित्तमीश्वरस्य औष्ण्यस्वरूपद्रव्यसत्तामात्रनिमित्तदहनकर्मवत्। राजायस्कान्तप्रकाशकर्मवच्च स्वात्माविक्रियारूपम्। विपरीतमितरस्य। उपासीतेति वचनादुपास्य ईश्वरो गुरुराजवत्। उपासकश्चेतरः शिष्यभृत्यवत्। अपहतपाप्मादिश्रवणान्नित्यशुद्ध ईश्वरः। पुण्यो वै पुण्येनेति वचनाद्विपरीत इतरः।

होनेवाला है जैसे कि उष्णतारूप [सूर्यकान्तमणि आदि] द्रव्योंकी सत्तामात्रसे दहनकार्य निष्पन्न हो जाता है, अथवा जैसे राजा, चुम्बक और प्रकाशसे होनेवाले कार्य [उनकी सन्निधिमात्रसे] होते हैं उसी प्रकार ईश्वरके कर्म उसके स्वरूपमें विकार उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं, किन्तु जीवके कर्म इससे विपरीत हैं। "उपासीत" इस श्रुतिके अनुसार ईश्वर गुरु एवं राजाके समान उपासनीय है तथा जीव शिष्य और सेवकके समान उपासक है। "अपहतपाप्मा" आदि श्रुतियोंके अनुसार ईश्वर नित्यशुद्ध है तथा "पुण्यो वै पुण्येन" आदि श्रुतिवाक्योंसे जीव इसके विपरीत स्वभाववाला है।

अत एव नित्यमुक्त एवेश्वरो नित्याशुद्धियोगात्संसारीतरः। अपि च यत्र ज्ञानादिलक्षणभेदः अस्ति तत्र भेदो दृष्टः; यथाश्वमहिषयोः। तथा ज्ञानादिलक्षणभेदादीश्वरादात्मनां भेदोऽस्तीति चेत्।

अतः ईश्वर तो नित्यमुक्त ही है, किन्तु जीव नित्य अशुद्धिके योगके कारण संसारी है। तथा जहाँ ज्ञानादि लक्षणोंमें भेद रहता है वहाँ सर्वदा भेद ही देखा गया है; जैसे घोड़े और भैंसमें। अतः इसी प्रकार ज्ञानादि लक्षणोंमें भेद रहनेके कारण ईश्वर और जीवोंमें भेद ही है।

न।

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है।

कस्मात्?

पू०—कैसे?

पद-भाष्य

स्यार्थस्यानुकूलानि ह्युत्तराणि वचांसि दृश्यन्ते ।

अनुकूल ही इस खण्डके आगेके वाक्य देखे जाते हैं ।

अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये । कथम् ? ब्रह्मविज्ञानाद्धि अग्न्या-

अथवा इस (आख्यायिका) का आरम्भ ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिये है । किस प्रकार ? क्योंकि

वाक्य-भाष्य

"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (बृ० उ० १ । ४ । १०) "ते क्षय्यलोका भवन्ति" (छा० उ० ७ । २५ । २) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" (क० उ० २।१।१०) इति भेददृष्टिर्ह्यपोह्यते । एकत्व-प्रतिपादिन्यश्च श्रुतयः सहस्रशो विद्यन्ते ।

सिद्धान्ती—क्योंकि "यह (ब्रह्म) अन्य है और मैं अन्य हूँ—ऐसा जो जानता है वह [ब्रह्मके यथार्थ स्वरूप-को] नहीं जानता" "वे नाशवान् लोकोंको प्राप्त होते हैं" "वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है" इत्यादि वाक्योंसे भेददृष्टिका निषेध किया जाता है और एकत्वका प्रतिपादन करने-वाली तो सहस्रों श्रुतियाँ विद्यमान हैं ।

ज्ञानादिभेदस्य औपाधिकत्वम्

यदुक्तं ज्ञानादिलक्षणभेदादि-त्यत्रोच्यते—न अनभ्युपगमात् । बुद्ध्यादिभ्यो व्यतिरिक्ता विलक्षणाश्चेश्वराद्भिन्न-लक्षणा आत्मनो न सन्ति । एक एवेश्वरश्चात्मा सर्वभूतानां नित्यमुक्तोऽभ्युपगम्यते । बाह्य-श्चक्षुर्बुद्ध्यादिसमाहारसन्तानाहं-कारममत्वादिविपरीतप्रत्ययप्र-बन्धाविच्छेदलक्षणो नित्यशुद्ध-

तथा तुमने जो कहा कि ज्ञानादि लक्षणोंमें भेद होनेके कारण जीव और ईश्वरका भेद ही है, सो इस विषयमें मेरा यह कथन है कि उनमें कुछ भी भेद नहीं है, क्योंकि हमें उनके ज्ञानादि-का भेद मान्य नहीं है । बुद्धि आदि उपाधियोंसे व्यतिरिक्त और विलक्षण ऐसे कोई जीव नहीं हैं जो ईश्वरसे भिन्न लक्षणवाले हों । एक ही नित्यमुक्त ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा माना जाता है; क्योंकि चक्षु और बुद्धि आदि संघातकी परम्परासे प्राप्त हुए अहंकार और ममतारूप विपरीत ज्ञानका विच्छेद न होना ही जिसका लक्षण है, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त विज्ञानस्वरूप ईश्वर ही जिसका

पद-भाष्य

दयो देवा देवानां श्रेष्ठत्वं जग्मुः। ततोऽप्यतितरामिन्द्र इति।

अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत् प्रदर्श्यते—येनाग्न्यादयोऽति-

ब्रह्मज्ञानसे ही अग्नि आदि देवगण देवताओंमें श्रेष्ठत्वको प्राप्त हुए थे और उनमें भी इन्द्र सबसे बढ़कर हुआ।

अथवा इससे यह दिखलाया गया है कि ब्रह्म दुर्विज्ञेय है, क्योंकि अग्नि आदि परम तेजस्वी होनेपर

वाक्य-भाष्य

बुद्धमुक्तविज्ञानात्मेश्वरगर्भो नित्यविज्ञानाभासश्चित्तचैत्यबीजबीजिस्वभावः कल्पितोऽनित्यविज्ञान ईश्वरलक्षणविपरीतोऽभ्युपगम्यते; यस्याविच्छेदे संसारव्यवहारः विच्छेदे च मोक्षव्यवहारः।

अन्यश्च मृत्प्रलेपवत्प्रत्यक्षप्रध्वंसो देवपितृमनुष्यादिलक्षणो भूतविशेषसमाहारो न पुनश्चतुर्थोऽन्यो भिन्नलक्षण ईश्वरादभ्युपगम्यते।

बुद्ध्यादिकल्पितात्मव्यतिरेकाभिप्रायेण तु लक्षणभेदात्

अन्तर्यामी है, जो स्वयं नित्यविज्ञानका अवभास (प्रतिबिम्ब) चित्त, चैत्य (सुखादि विषय), बीज (अविद्यादि) और बीजी (शरीरादि) से तादात्म्यको प्राप्त होकर तद्रूप हो गया है तथा जो कल्पित, अनित्य विज्ञानवान् और ईश्वरके लक्षणसे विपरीत है वही बाह्य जीव माना गया है; जिसके इस औपाधिक स्वरूपका विच्छेद न होनेसे संसारका व्यवहार होता है तथा विच्छेद हो जानेपर मोक्षव्यवहार होता है।

इसमें जो देव, पितृ और मनुष्यरूप भूतोंका संघातविशेष है वह मृत्तिकाके लेपके समान प्रत्यक्ष नष्ट हो जानेवाला और [चेतन आत्मासे] सर्वथा भिन्न है; किन्तु जो [स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों प्रकारके शरीरोंसे] विलक्षण चौथा आत्मा है वह ईश्वरसे भिन्न लक्षणोंवाला नहीं माना जा सकता।

यदि कहो कि बुद्धि आदि कल्पित आत्मासे [निरुपाधिक चेतनस्वरूप] आत्मा भिन्न है इस अभिप्रायसे हमने 'लक्षणभेद होनेके कारण' ऐसा हेतु दिया है, तो तुम्हारा यह हेतु

पद-भाष्य

तेजसोऽपि क्लेशेनैव ब्रह्म विदितवन्तस्तथेन्द्रो देवानामीश्वरोऽपि सन्निति ।

भी कठिनतासे ही ब्रह्मको जान सके थे तथा देवताओंका स्वामी होनेपर भी इन्द्रने उसे बड़ी कठिनतासे पहचाना था ।

वाक्य-भाष्य

इत्याश्रयासिद्धो हेतुः ईश्वराद् अन्यस्यात्मनोऽसत्त्वात् ।

ईश्वरस्यैव विरुद्धलक्षणत्वमयुक्तमिति चेत्सुखदुःखादियोगश्च ।

न । निमित्तत्वे सति लोकविपर्ययाध्यारोपणात्सवितृवत् । यथा हि सविता नित्यप्रकाशरूपत्वाल्लोकाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिनिमित्तत्वे सति लोकदृष्टिविपर्ययेणोदयास्तमयाहोरात्रादिकर्तृत्वाध्यारोपभाग्भवत्येवमीश्वरे नित्यविज्ञानशक्तिरूपे लोकज्ञानापोहसुखदुःखस्मृत्यादिनिमित्तत्वे सति लोकविपरीतबुद्ध्याध्यारोपितं विपरीतलक्षणत्वं सुखदुःखाश्रयश्च न स्वतः ।

आश्रयासिद्ध* है, क्योंकि ईश्वरसे भिन्न और किसी आत्माकी सत्ता नहीं है ।

पूर्व०—[यदि ईश्वरसे भिन्न और कोई आत्मा नहीं है तो] ईश्वरमें ही विरुद्धलक्षणत्व तथा सुख-दुःख आदिका योग होना तो ठीक नहीं है ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है क्योंकि आत्मा सूर्यके समान केवल निमित्तमात्र है; लोकोंकी उसमें जो विपरीत बुद्धि है वह केवल आरोपके कारण है । जिस प्रकार सूर्य नित्यप्रकाशस्वरूप होनेके कारण लौकिक पदार्थोंकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिका निमित्तमात्र होता है तथापि लोकोंकी दृष्टिमें विपरीत भाव आ जानेके कारण इस अध्यारोपका पात्र बनता है कि वह उदय-अस्त और दिन-रात्रि आदिका कर्ता है, उसी प्रकार नित्यविज्ञानशक्तिस्वरूप ईश्वरमें भी लोकोंके ज्ञानका विनाश तथा सुख, दुःख और स्मृति आदिकी निमित्तता उपस्थित होनेपर लोकोंकी विपरीत बुद्धिसे विपरीतलक्षणत्व तथा सुख-दुःखाश्रयत्वका आरोप कर लिया जाता है, उसमें स्वतः ऐसा कोई भाव नहीं है ।

* जहाँ पक्षमें पक्षतावच्छेदकालका अभाव होता है वहाँ आश्रयासिद्ध हेत्वाभास माना जाता है; जैसे—'आकाशकुसुम सुगन्धिमान् है कुसुम होनेके कारण, अन्यकुसुमवत् । इस अनुमानमें 'आकाशकुसुम' जो पक्ष है उसमें पक्षतावच्छेदकाल यानी कुसुमत्वका अभाव है, क्योंकि आकाशकुसुम कभी किसीने नहीं देखा । इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये ।

पद-भाष्य

वक्ष्यमाणोपनिषद्विधिपरं वा सर्वं ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण प्राणिनां कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्या

अथवा आगे कही जानेवाली समस्त उपनिषद् विधिपरक है। और ब्रह्मविद्यासे अतिरिक्त प्राणियोंका जो कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिका अभि-

वाक्य-भाष्य

आत्मदृष्ट्यनुरूपाध्यारोपाच्च । यथा घनादिविप्रकीर्णेऽम्बरे येनैव सवितृप्रकाशो न दृश्यते स आत्मदृष्ट्यनुरूपमेवाध्यस्यति सवितेदानीमिह न प्रकाशयतीति सत्येव प्रकाशेऽन्यत्र भ्रान्त्या । एवमिह बौद्धादिवृत्त्युद्भवाभिभवाकुलभ्रान्त्याध्यारोपितः सुखदुःखादियोग उपपद्यते ।

इसके सिवा सभी लोग अपनी-अपनी दृष्टिके अनुरूप ही उसमें आरोप करते हैं [इसलिये भी वह उन सब आरोपोंसे अछूता है]। जिस प्रकार आकाशके मेघ आदिसे आच्छादित हो जानेपर जिस-जिसको सूर्यका प्रकाश दिखलायी नहीं देता वही-वही अन्यत्र प्रकाश रहनेपर भी भ्रान्तिवश अपनी दृष्टिके अनुसार ऐसा आरोप करता है कि 'इस समय यहाँ सूर्य प्रकाशमान नहीं है।' इसी प्रकार इस आत्मतत्त्वमें भी बुद्धि आदिकी वृत्तियोंके उदय और अस्तसे बेचैनीको प्राप्त हुई भ्रान्तिसे आरोपित सुख-दुःखादिका योग हो सकता है।

तत्स्मरणाच्च । तस्यैवेश्वरस्यैव हि स्मरणम्—"मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" (गीता १५ । १५) "नादत्ते कस्यचित्पापम्" (गीता ५ । १५) इत्यादि । अतो नित्यमुक्त एकस्मिन्सवितरीव लोकाविद्याध्यारोपितमीश्वरे संसारित्वम् । शास्त्रादिप्रामाण्यादभ्युपगतमसंसारित्वमित्यविरोध इति ।

इस विषयमें उसीकी स्मृति भी है अर्थात् उस ईश्वरके ही स्मृतिवाक्य भी हैं; जैसे—"मुझहीसे प्राणियोंको स्मृति, ज्ञान और अज्ञान प्राप्त होते हैं" "ईश्वर किसीके पापको स्वीकार नहीं करता" इत्यादि। अतः सूर्यके समान एक ही नित्यमुक्त ईश्वरमें लोकने अविद्यावश संसारित्वका आरोप कर रखा है, तथा शास्त्रादि प्रमाणोंसे उसका असंसारित्व जाना गया है; इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं है।

पद-भाष्य

इत्येतद्दर्शनार्थं वा आख्यायिका, यथा देवानां जयाद्यभिमानः तद्वदिति ।	मान है वह देवताओंके जय आदिके अभिमानके समान मिथ्या है—यह बात दिखानेके लिये ही प्रस्तुत आख्यायिका है ।

देवताओंका गर्व

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ॥ १ ॥

यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्मने देवताओंके लिये विजय प्राप्त की। कहते हैं, उस ब्रह्मकी विजयमें देवताओंने गौरव प्राप्त किया ॥ १ ॥

पद-भाष्य

ब्रह्म यथोक्तलक्षणं परं ह किल देवेभ्योऽर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवत् देवानामसुराणां च	यह प्रसिद्ध है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाले परब्रह्मने देवताओंके लिये जय प्राप्त की। अर्थात् देवता और असुरोंके संग्राममें संसारके

वाक्य-भाष्य

एतेन प्रत्येकं ज्ञानादिभेदः प्रत्युक्तः सौक्ष्म्यचैतन्यसर्वगतत्वाद्यविशेषे च भेदहेत्वभावात् । विक्रियावत्त्वे चानित्यत्वात् । मोक्षे च विशेषानभ्युपगमादभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसङ्गात् । अविद्यावदुपलभ्यत्वाच्च भेदस्य । तत्क्षयेऽनुपपत्तिरिति सिद्धम् एकत्वम् ।	इससे प्रत्येक जीवके ज्ञानादि भेदका प्रत्याख्यान हो गया, क्योंकि उन सभीमें सूक्ष्मता, चैतन्य और सर्वगतत्वादि धर्म समानरूपसे रहनेके कारण भेदके हेतुका अभाव है। यदि उन्हें विकारी माना जाय तो वे अनित्य हो जायँगे। इसके सिवा मुक्तावस्थामें किसीने भी आत्माका कोई विशेष भाव नहीं माना, यदि कोई मानेगा तो अनित्यत्वका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। तथा भेद तो केवल अविद्यावान्‌को ही उपलब्ध होता है, अविद्याका क्षय होनेपर उसकी सिद्धि नहीं होती। अतः [जीव और ईश्वरका] एकत्व ही सिद्ध होता है।

पद-भाष्य

संग्रामेऽसुराञ्जित्वा जगदरातीनीश्वरसेतुभेत्तॄन् देवेभ्यो जयं तत्फलं च प्रायच्छज्जगतः स्थेम्ने। तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवाः अग्न्यादयः असहीयन्त महिमानं प्राप्तवन्तः ॥ १ ॥

शत्रु तथा ईश्वरकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले असुरोंको जीतकर जगत्की स्थितिके लिये वह जय और उसका फल देवताओंको दे दिया। कहते हैं, ब्रह्मकी उस विजयमें अग्नि आदि देवगण महिमाको प्राप्त हुए॥१॥

यक्षका प्रादुर्भाव

त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

उन्होंने सोचा हमारी ही यह विजय है, और हमारी ही यह महिमा है। कहते हैं, वह ब्रह्म देवताओंके अभिप्रायको जान गया और उनके सामने प्रादुर्भूत हुआ। तब देवतालोग [यक्षरूपमें प्रकट हुए] उस ब्रह्मको 'यह यक्ष कौन है ?' ऐसा न जान सके ॥ २ ॥

वाक्य-भाष्य

बन्धमोक्ष-व्यवस्था

तस्माच्छरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासन्तानस्य अहङ्कारसम्बन्धादज्ञानबीजस्य नित्यविज्ञानान्यनिमित्तस्यात्मतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानाद्विनिवृत्तावज्ञानबीजस्य विच्छेद आत्मनो मोक्षसंज्ञा; विपर्यये च बन्धसंज्ञा, स्वरूपापेक्षत्वादुभयोः।

अतः अहंकारके सम्बन्धसे अज्ञानके बीजभूत शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और इन्द्रियज्ञानके प्रवाहकी, जो नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मासे भिन्न किसी अन्य निमित्तसे स्थित है, आत्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञानसे निवृत्ति हो जानेपर जो अज्ञानके बीजका उच्छेद हो जाना है वही आत्माका मोक्ष कहलाता है और उससे विपरीतका नाम बन्ध है, क्योंकि वे [बन्ध और मोक्ष] दोनों ही [बुद्ध्यादि उपाधिविशिष्ट] स्वरूपकी अपेक्षासे हैं।

पद-भाष्य

तदा आत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफलसंयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेः जगतः स्थितिं चिकीर्षोः अयं जयो महिमा चेत्यजानन्तः ते देवाः ऐक्षन्त ईक्षितवन्तः अग्न्यादि-

तब, अन्तःकरणमें स्थित, प्रत्यगात्मा, सर्वज्ञ, प्राणियोंके सम्पूर्ण कर्मफलोंका संयोग करानेवाले, सर्वशक्तिमान् एवं जगत्की रक्षा करनेके इच्छुक ईश्वरकी ही यह सम्पूर्ण जय और महिमा है यह न जानते हुए आत्माको अग्नि आदि रूपोंसे परिच्छिन्न माननेवाले

वाक्य-भाष्य

ब्रह्म ह इत्यैतिह्यार्थः। पुरा किल देवासुरसंग्रामे जगत्स्थितिपरिपिपालयिषयात्मानुशासनानुवर्तिभ्यो देवेभ्योऽर्थिभ्योऽर्थाय विजिग्येऽजैषीदसुरान्। ब्रह्मण इच्छानिमित्तो विजयो देवानां बभूवेत्यर्थः। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। यज्ञादिलोकस्थित्यपहारिष्वसुरेषु पराजितेषु देवा वृद्धिं पूजां वा प्राप्तवन्तः॥ १॥

'ब्रह्म ह' इसमें 'ह' ऐतिह्य (इतिहास) का द्योतक है। कहते हैं, पूर्वकालमें देवासुरसंग्राममें ब्रह्मने जगत्-स्थिति (लोक-मर्यादा) की रक्षाके लिये अपनी आज्ञामें चलनेवाले विजयार्थी देवताओंके लिये असुरोंको जीत लिया। अर्थात् ब्रह्मकी इच्छारूप निमित्तसे देवताओंकी विजय हो गयी। ब्रह्मकी उस विजयमें देवताओंको महत्ता प्राप्त हुई। लोककी स्थितिके हेतुभूत यज्ञादिको नष्ट करनेवाले असुरोंके पराजित हो जानेपर देवताओंने वृद्धि अथवा खूब सत्कार प्राप्त किया॥ १॥

त ऐक्षन्त इति मिथ्याप्रत्ययत्वाद्धेयत्वख्यापनार्थमाम्नायः।

'त ऐक्षन्त' इत्यादि शास्त्रवाक्य, मिथ्याप्रत्ययरूप होनेके कारण [अभिमानका] हेयत्व प्रतिपादन करनेके लिये है।

ईश्वरनिमित्ते विजये स्वसाम-

जो विजय ईश्वरके निमित्तसे प्राप्त

पद-भाष्य

स्वरूपपरिच्छिन्नात्मकृतोऽस्माकमेवायं विजयः अस्माकमेवायं महिमा अग्निवाय्विन्द्रत्वादिलक्षणो जयफलभूतोऽस्माभिरनुभूयते; नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृत इति।

देवता सोचने लगे कि—हमलोगोंकी ही यह विजय हुई है, और इस विजयकी फलभूत अग्नित्व, वायुत्व एवं इन्द्रत्वरूप यह महिमा भी हमारी ही है; अतः हमारे द्वारा ही इसका अनुभव किया जाता है; यह विजय अथवा महिमा हमारे अन्तरात्मभूत ईश्वरकी की हुई नहीं है।

एवं मिथ्याभिमानेक्षणवतां तत् ह किल एषां मिथ्येक्षणं विजज्ञौ विज्ञातवद्ब्रह्म। सर्वेक्षितृ हि तत् सर्वभूतकरणप्रयोक्तृत्वात्। देवानां च मिथ्याज्ञानमुपलभ्य मैवासुरवद्देवा मिथ्या-

इस प्रकार मिथ्या अभिमानसे विचार करनेवाले उन देवताओंके इस मिथ्या विचारको ब्रह्मने जान लिया, क्योंकि समस्त जीवोंके अन्तःकरणोंका प्रेरक होनेके कारण वह सबका साक्षी है। देवताओंके इस मिथ्या ज्ञानको जानकर 'इस मिथ्या ज्ञानसे असुरोंकी ही भाँति

वाक्य-भाष्य

ऽर्थनिमित्तोऽस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेत्यात्मनो जयादि श्रेयोनिमित्तं सर्वात्मानमात्मस्थं सर्वकल्याणास्पदमीश्वरमेवात्मत्वेनाबुद्ध्वा पिण्डमात्राभिमानाः सन्तो यं मिथ्याप्रत्ययं चक्रुस्तस्य पिण्डमात्रविषय-

हुई थी उसमें 'यह हमारी सामर्थ्यसे प्राप्त हुई हमारी ही विजय है, हमारी ही महिमा है' इस प्रकार [अभिमान करके] अपनी विजय आदि कल्याणके हेतुभूत सर्वात्मा सर्वकल्याणास्पद आत्मस्थ ईश्वरको ही आत्मभावसे न जानकर पिण्डमात्रके अभिमानी होकर उन्होंने जो मिथ्या प्रत्यय कर लिया था वह केवल पिण्डमात्रसे सम्बन्ध रखनेवाला होनेसे मिथ्या ज्ञानस्वरूप था। अतः सर्वात्मा ईश्वरके यथार्थ स्वरूपके

पद-भाष्य

भिमानात्पराभवेयुरिति तदनुकम्पया देवान्मिथ्याभिमानापनोदनेनानुगृह्णीयामिति तेभ्यः देवेभ्यः ह किलार्थाय प्रादुर्बभूव स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानामिन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव प्रादुर्भूतवत् । तत् प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तः

देवताओंका भी पराभव न हो जाय' इस प्रकार उनपर अनुकम्पा करते हुए यह सोचकर कि 'देवताओंके मिथ्याज्ञानको निवृत्त करके मैं उन्हें अनुगृहीत करूँ' वह उन देवताओंके लिये प्रादुर्भूत हुआ अर्थात् अपनी योगमायाके प्रभावसे सबको विस्मित करनेवाले अति अद्भुतरूपसे देवताओंकी इन्द्रियोंका विषय होकर प्रादुर्भूत अर्थात् प्रकट हुआ । उस प्रकट हुए ब्रह्मको देवतालोग यह

वाक्य-भाष्य

त्वेन मिथ्याप्रत्ययत्वात्सर्वात्मेश्वरयाथात्म्यावबोधेन हातव्यताख्यापनार्थस्तद्धैषामित्याद्याख्यायिकाम्नायः ।

बोधसे उसका हेयत्व प्रकट करनेके लिये ही यह 'तद्धैषाम्' (वह ब्रह्म उन देवताओंके अभिप्रायको जान गया) आदि आख्यायिकारूप आम्नाय (शास्त्र) है ।

तद्ब्रह्म ह किलैषां देवानामभिप्रायं मिथ्याहङ्काररूपं विजज्ञौ विज्ञातवत् । ज्ञात्वा च मिथ्याभिमानशातनेन तदनुजिघृक्षया देवेभ्योऽर्थाय तेषामेवेन्द्रियगोचरे नातिदूरे प्रादुर्बभूव । महेश्वरशक्तिमायोपात्तेनात्यन्ताद्भुतेन प्रादुर्भूतं किल केनचिद्रूपविशेषेण । तत्किलोपलभमाना अपि देवा न व्यजानत न विज्ञातवन्तः किमिदं यदेतद्यक्षं पूज्यमिति ॥२॥

कहते हैं, वह ब्रह्म इन देवताओंके मिथ्या अहंकाररूप अभिप्रायको समझ गया—उसे इसका ज्ञान हो गया । उसे जानकर उस मिथ्याभिमानके छेदनद्वारा देवताओंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे वह देवताओंके ही लिये उनकी इन्द्रियोंका विषय होकर उनसे थोड़ी ही दूरपर प्रकट हुआ । वह महेश्वरकी मायाशक्तिसे ग्रहण किये हुए किसी बड़े ही विचित्र रूपविशेषसे प्रकट हुआ, जिसे देखकर भी देवता लोग यह न जान सके—न पहचान सके कि यह यक्ष अर्थात् पूज्य कौन है ? ॥ २ ॥

पद-भाष्य

देवाः किमिदं यक्षं पूज्यं महद्भूतमिति ॥ २ ॥	न जान सके कि यह यक्ष अर्थात् पूजनीय महान् प्राणी कौन है ? ॥२॥

अग्निकी परीक्षा

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

उन्होंने अग्निसे कहा—'हे अग्ने ! इस बातको मालूम करो कि यह यक्ष कौन है ? उसने कहा—'बहुत अच्छा' ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयास्तद्विजिज्ञासवः अग्निम् अग्रगामिनं जातवेदसं सर्वज्ञकल्पम् अब्रुवन् उक्तवन्तः । हे जातवेदः एतत् अस्मद्गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्व त्वं नस्तेजस्वी किमेतद्यक्षमिति ॥ ३ ॥	उसे न जाननेवाले देवताओंने भीतरसे डरते-डरते उसे जाननेकी इच्छासे सबसे आगे चलनेवाले सर्वज्ञकल्प जातवेदा अग्निसे कहा—'हे जातवेदः ! हमारे नेत्रोंके सम्मुख स्थित इस यक्षको जानो—विशेषरूपसे मालूम करो कि यह यक्ष कौन है; क्योंकि तुम हम सबमें तेजस्वी हो' ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ ४ ॥

अग्नि उस यक्षके पास गया । उसने अग्निसे पूछा 'तू कौन है ?' उसने कहा, 'मैं अग्नि हूँ, मैं निश्चय जातवेदा ही हूँ' ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

तथा अस्तु इति तद् यक्षम् अभि अद्रवत् तत्प्रति गतवा-	तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर अग्नि उस यक्षकी ओर अभिद्रुत

पद-भाष्य

नग्निः । तं च गतवन्तं पिपृच्छिषुं तत्समीपेऽप्रगल्भत्वा-त्तूष्णींभूतं तद्यक्षम् अभ्यवदद् अग्निं प्रति अभाषत कोऽसीति । एवं ब्रह्मणा पृष्टोऽग्निः अब्रवीत्—अग्निर्वा अग्निनामाहं प्रसिद्धो जात-वेदा इति च नामद्वयेन प्रसिद्ध-तयात्मानं श्लाघयन्निति ॥ ४ ॥

हुआ अर्थात् उसके पास गया। इस प्रकार गये हुए और धृष्ट न होनेके कारण अपने समीप चुपचाप खड़े हुए प्रश्न करनेकी इच्छावाले उस अग्निसे यक्षने कहा—'तू कौन है ?' ब्रह्मके इस प्रकार पूछनेपर—'मैं अग्नि हूँ—मैं अग्नि नामसे प्रसिद्ध जातवेदा हूँ'—इस प्रकार अग्निने दो नामसे प्रसिद्ध होनेके कारण अपनी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ ४ ॥

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥

[फिर यक्षने पूछा—] 'उस [जातवेदारूप] तुझमें सामर्थ्य क्या है ?' [अग्निने कहा—] 'पृथिवीमें यह जो कुछ है उस सभीको जला सकता हूँ' ॥ ५ ॥

पद-भाष्य

एवमुक्तवन्तं ब्रह्मावोचत् तस्मिन् एवं प्रसिद्धगुणनामवति त्वयि किं वीर्यं सामर्थ्यम् इति । सोऽब्रवीद् इदं जगत् सर्वं दहेयं भस्मीकुर्यां यद् इदं स्थावरादि पृथिव्याम् इति । पृथिव्यामि-त्युपलक्षणार्थम्, यतोऽन्तरिक्षस्थ-मपि दह्यत एवाग्निना ॥ ५ ॥

इस प्रकार बोलते हुए उस अग्निसे ब्रह्मने कहा—'ऐसे प्रसिद्ध गुण और नामवाले तुझमें क्या वीर्य—सामर्थ्य है ?' वह बोला—'पृथिवीपर जो यह चराचररूप जगत् है इस सबको जला सकता हूँ—भस्म कर सकता हूँ।' 'पृथिवीमें' यह केवल उपलक्षणके लिये है, क्योंकि जो वस्तु आकाशमें रहती है वह भी अग्निसे जल ही जाती है ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

तब यक्षने उस अग्निके लिये एक तिनका रख दिया और कहा—'इसे जला'। अग्नि उस तृणके समीप गया, परन्तु अपने सारे वेगसे भी उसे जलानेमें समर्थ नहीं हुआ। वह उसके पाससे ही लौट आया और बोला, 'यह यक्ष कौन है—इस बातको मैं नहीं जान सका' ॥ ६ ॥

पद-भाष्य

तस्मै एवमभिमानवते ब्रह्म तृणं निदधौ पुराग्नेः स्थापितवत् ब्रह्मणा 'एतत् तृणमात्रं ममाग्रतः दह; न चेदसि दग्धुं समर्थः, मुञ्च दग्धृत्वाभिमानं सर्वत्र' इत्युक्तः तत् तृणम् उपप्रेयाय तृणसमीपं गतवान् सर्वजवेन सर्वोत्साहकृतेन वेगेन । गत्वा तत् न शशाक नाशकद्दग्धुम् ।

स जातवेदाः तृणं दग्धुमशक्तो व्रीडितो हतप्रतिज्ञः तत एव यक्षादेव तूष्णीं देवान्प्रति निववृते निवृत्तः प्रतिगतवान् न एतद् यक्षम् अशकं शक्तवानहं विज्ञातुं विशेषतः यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

इस प्रकार अभिमान करनेवाले उस अग्निके लिये ब्रह्मने एक तृण रक्खा अर्थात् उसके आगे तृण डाल दिया। ब्रह्मके ऐसा कहनेपर कि 'तू मेरे सामने इस तिनकेको जला; यदि तू इसे जलानेमें समर्थ नहीं है तो सर्वत्र जलानेवाला होनेका अभिमान छोड़ दे' वह अपने सारे बल अर्थात् उत्साहकृत सम्पूर्ण वेगसे उस तृणके पास गया। किन्तु वह वहाँ जाकर भी उसे जलानेमें समर्थ न हुआ।

इस प्रकार उस तिनकेको जलानेमें असमर्थ वह अग्नि हतप्रतिज्ञ होनेके कारण लज्जित होकर उस यक्षके पाससे चुपचाप देवताओंके प्रति निवृत्त हुआ—अर्थात् उनके पास लौट आया [और बोला—] 'इस यक्षको मैं विशेषरूपसे ऐसा नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है?' ॥ ६ ॥

वायुकी परीक्षा

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ७ ॥

तदनन्तर, उन देवताओंने वायुसे कहा—हे वायो ! इस बातको मालूम करो कि यह यक्ष कौन है ?' उसने कहा—'बहुत अच्छा' ॥७॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ ८ ॥

वायु उस यक्षके पास गया, उसने वायुसे पूछा—'तू कौन है ?' उसने कहा—'मैं वायु हूँ—मैं निश्चय मातरिश्वा ही हूँ' ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

[तब यक्षने पूछा—] 'उस [मातरिश्वारूप] तुझमें क्या सामर्थ्य है ?' [वायुने कहा—] 'पृथिवीमें यह जो कुछ है उस सभीको ग्रहण कर सकता हूँ' ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ १० ॥

तब यक्षने उस वायुके लिये एक तिनका रक्खा और कहा—'इसे ग्रहण कर'। वायु उस तृणके समीप गया। परन्तु अपने सारे वेगसे भी वह उसे ग्रहण करनेमें समर्थ न हुआ। तब वह उसके पाससे लौट आया और बोला—'यह यक्ष कौन है—इस बातको मैं नहीं जान सका' ॥ १० ॥

पद-भाष्य

अथ अनन्तरं वायुमब्रुवन् हे वायो एतद्विजानीहीत्यादि	तदनन्तर उन्होंने वायुसे कहा—'हे वायो ! इसे जानो' इत्यादि

पद-भाष्य

समानार्थं पूर्वेण । वानाद्गमना-द्गन्धनाद्वा वायुः । मातर्यन्त-रिक्षे श्वयतीति मातरिश्वा । इदं सर्वमपि आददीय गृह्णीयां यदिदं पृथिव्यामित्यादि समान-मेव ॥ १० ॥

सब अर्थ पहलेहीके समान है । [वायुको] वान अर्थात् गमन या गन्धग्रहण करनेके कारण 'वायु' कहा जाता है । 'मातरि' अर्थात् अन्तरिक्षमें श्वयन (विचरण) करनेके कारण वह 'मातरिश्वा' है । पृथिवीमें जो कुछ है मैं इस सभीको ग्रहण कर सकता हूँ-- इत्यादि शेष अर्थ पहलेहीके समान है ॥१०॥

इन्द्रकी *नियुक्ति*

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥ ११ ॥

तदनन्तर देवताओंने इन्द्रसे कहा—'मघवन् ! यह यक्ष कौन है—इस बातको मालूम करो ।' तब इन्द्र 'बहुत अच्छा' कह उस यक्षके पास गया, किन्तु वह इन्द्रके सामनेसे अन्तर्धान हो गया ॥११॥

वाक्य-भाष्य

तद्विज्ञानायाग्निमब्रुवन् । तृण-निधानेऽयमभिप्रायोऽत्यन्तसम्भा-वितयोरग्निमारुतयोस्तृणदहनादा-नाशक्त्यात्मसम्भावना शातिता भवेदिति ॥ ३—१० ॥

देवताओंने उसे जाननेके लिये अग्निसे कहा । अग्नि और वायुके सामने तृण रखनेमें ब्रह्मका यह अभिप्राय था कि एक तिनकेको जलाने और ग्रहण करनेमें असमर्थ होनेसे इन अत्यन्त प्रतिष्ठित अग्नि और वायुका आत्माभिमान क्षीण हो जाय ॥३-१०॥

पद-भाष्य

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहीत्यादि पूर्ववत् । इन्द्रः परमेश्वरो मघवा बलवत्त्वात् तथेति तदभ्यद्रवत् । तस्मात् इन्द्रादात्मसमीपं गतात् तद्ब्रह्म तिरोदधे तिरोभूतम् । इन्द्रस्येन्द्रत्वाभिमानोऽतितरां निराकर्तव्य इत्यतः संवादमात्रमपि नादाद्ब्रह्मेन्द्राय ॥ ११ ॥

फिर देवताओंने इन्द्रसे 'हे मघवन् ! इसे जानो' इत्यादि पूर्ववत् कहा । इन्द्र अर्थात् परमेश्वर, जो बलवान् होनेके कारण 'मघवा' कहा गया है, बहुत अच्छा—ऐसा कहकर उसकी ओर चला । अपने समीप आये हुए उस इन्द्रके सामनेसे वह ब्रह्म अन्तर्धान हो गया । इन्द्रका सबसे बढ़ा हुआ इन्द्रत्वका अभिमान तोड़ना चाहिये—इसलिये इन्द्रको ब्रह्मने संवादमात्रका भी अवसर नहीं दिया ॥ ११ ॥

उमाका प्रादुर्भाव

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाꣳहैमवतीं ताꣳहोवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ १२ ॥

वह इन्द्र उसी आकाशमें [जिसमें कि यक्ष अन्तर्धान हुआ था] एक अत्यन्त शोभामयी स्त्रीके पास आया और उस सुवर्णाभूषणभूषिता [अथवा हिमालयकी पुत्री] उमा (पार्वतीरूपिणी ब्रह्मविद्या) से बोला—'यह यक्ष कौन है ?' ॥ १२ ॥

वाक्य-भाष्य

इन्द्र आदित्यो वज्रभृद्वा; अविरोधात् । इन्द्रोपसर्पणे ब्रह्म तिरोदध इत्यत्रायमभिप्रायः—इन्द्रोऽहमित्यधिकतमोऽभिमानोऽस्य सोऽहमग्न्यादिभिः प्राप्तं

इन्द्र आदित्य अथवा वज्रधारी देवराजका नाम है, क्योंकि दोनों ही अर्थोंमें कोई विरोध नहीं है । ब्रह्म जो इन्द्रके समीप आते ही अन्तर्धान हो गया इसमें यह अभिप्राय था कि [ब्रह्मने देखा—] इसे 'मैं इन्द्र (देवराज) हूँ' ऐसा सोचकर सबसे अधिक अभिमान है, अतः मेरे साथ अग्नि आदिको जो वाणीका सम्भाषण-

पद-भाष्य

तद्यक्षं यस्मिन्नाकाशे आकाशप्रदेशे आत्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतमिन्द्रश्च ब्रह्मणस्तिरोधानकाले यस्मिन्नाकाशे आसीत्, स इन्द्रः तस्मिन्नेव आकाशे तस्थौ किं तद्यक्षमिति ध्यायन्; न निववृतेऽग्न्यादिवत् ।

वह यक्ष जिस आकाशमें—आकाशके जिस भागमें अपना दर्शन देकर तिरोहित हुआ था और उसके तिरोहित होनेके समय इन्द्र जिस आकाशमें था, वह इन्द्र यह सोचता हुआ कि 'यह यक्ष कौन है ?' उसी आकाशमें खड़ा रहा । अग्नि आदिके समान पीछे नहीं लौटा ।

तस्येन्द्रस्य यक्षे भक्तिं बुद्ध्वा विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत्स्त्रीरूपा । स इन्द्रः ताम् उमां बहुशोभमानाम्—सर्वेषां हि

उस इन्द्रकी यक्षमें भक्ति जानकर स्त्रीवेषधारिणी उमारूपा विद्यादेवी प्रकट हुई । वह इन्द्र उस अत्यन्त शोभामयी हैमवती उमाके पास गया । समस्त शोभायमानोंमें

वाक्य-भाष्य

वाक्सम्भाषणमात्रमप्यनेन न प्राप्तोऽस्मीत्यभिमानं कथं न नाम जह्यादिति तदनुग्रहायैवान्तर्हितं तद्ब्रह्म बभूव ॥ ११ ॥

मात्र भी प्राप्त हो गया था उसके लिये भी मैं इसे प्राप्त न हो सका—ऐसा सोचकर यह किसी तरह अपना अभिमान छोड़ दे । अतः उसपर कृपा करनेके लिये ही ब्रह्म अन्तर्धान हो गया ॥११॥

स शान्ताभिमान इन्द्रोऽत्यर्थं ब्रह्म विजिज्ञासुर्यस्मिन्नाकाशे ब्रह्मणः प्रादुर्भाव आसीत्तिरोधानं च तस्मिन्नेव स्त्रियमतिरूपिणीं विद्यामाजगाम । अभिप्रायोद्बोधहेतुत्वाद्रुद्रपत्न्युमा हैमवतीव सा

इस प्रकार अभिमान शान्त हो जानेपर इन्द्र ब्रह्मका अत्यन्त जिज्ञासु होकर उसी आकाशमें, जिसमें कि ब्रह्मका आविर्भाव एवं तिरोभाव हुआ था, एक अत्यन्त रूपवती स्त्री—विद्यादेवीके पास आया । ब्रह्मके गुप्त हो जानेके अभिप्रायको प्रकट करनेकी

पद-भाष्य

शोभमानानां शोभनतमा विद्या, तदा बहुशोभमानेति विशेषणमुपपन्नं भवति; हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव बहुशोभमानामित्यर्थः; अथवा उमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेनेश्वरेण सह वर्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा ताम्—उपजगाम इन्द्रस्तां ह उमां किल उवाच पप्रच्छ—ब्रूहि किमेतद्दर्शयित्वा तिरोभूतं यक्षमिति ॥१२॥

विद्या ही सबसे अधिक शोभामयी है; इसलिये उसके लिये 'बहुशोभमाना' यह विशेषण उचित ही है। हैमवती अर्थात् हेम (सुवर्ण) निर्मित आभूषणोंवालीके समान अत्यन्त शोभामयी। अथवा हिमवान्की कन्या होनेसे उमा (पार्वती) ही हैमवती है। वह सर्वदा उस सर्वज्ञ ईश्वरके साथ वर्तमान रहती है; अतः उसे जाननेमें समर्थ होगी—यह सोचकर इन्द्र उसके पास गया, और उससे पूछा—'बतलाइये, इस प्रकार दर्शन देकर छिप जानेवाला यह यक्ष कौन है?' ॥ १२ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥३॥

चतुर्थ खण्ड

उमाका उपदेश

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ १ ॥

उस विद्यादेवीने स्पष्टतया कहा—'यह ब्रह्म है' तुम ब्रह्मके ही विजयमें इस प्रकार महिमान्वित हुए हो'। कहते हैं, तभीसे इन्द्रने यह जाना कि यह ब्रह्म है ॥ १ ॥

वाक्य-भाष्य

शोभमाना विद्यैव। विरूपोऽपि विद्यावान्बहु शोभते ॥ १२ ॥

कारण होनेसे वह रुद्रपत्नी हिमालयपुत्री पार्वतीके समान शोभामयी ब्रह्मविद्या ही थी, क्योंकि विद्यावान् पुरुष रूपहीन होनेपर भी बहुत शोभा पाता है ॥१२॥

इति तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

सा ब्रह्मेति होवाच ह किल ब्रह्मणो वै ईश्वरस्यैव विजये—ईश्वरेणैव जिता असुराः; यूयं तत्र निमित्तमात्रम्; तस्यैव विजये—यूयं महीयध्वं महिमानं प्राप्नुथ। एतदिति क्रियाविशेषणार्थम्। मिथ्याभिमानस्तु युष्माकम्—अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। ततः तस्मादुमावाक्याद् ह एव विदांचकार ब्रह्मेति इन्द्रः; अवधार-

उसने 'यह ब्रह्म है' ऐसा कहा। 'निस्सन्देह ब्रह्म—ईश्वरके विजयमें ही [तुम महिमाको प्राप्त हुए हो]। असुरोंको ईश्वरने ही जीता था; तुम तो उसमें निमित्तमात्र थे। अतः उसके ही विजयमें तुम्हें यह महिमा मिली है।' मूलमें 'एतत्' यह क्रियाविशेषणके लिये है। 'यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है' यह तो तुम्हारा मिथ्या अभिमान ही है। तब उमादेवीके उस वाक्यसे ही इन्द्रने जाना कि 'यह ब्रह्म है'। 'ततः' पदके साथ 'ह' और 'एव' ये अव्यय निश्चय करानेके लिये ही प्रयुक्त हुए हैं। [अर्थात् उमा-

वाक्य-भाष्य

तां च पृष्ट्वा तस्या एव वचनाद् विदाञ्चकार विदितवान्। अत इन्द्रस्य बोधहेतुत्वाद्विद्यैवोमा। विद्यासहायवानीश्वर इति स्मृतिः। यस्मादिन्द्रविज्ञानपूर्वकम् अग्निवाय्विन्द्रास्ते ह्येनन्नेदिष्ठमतिसमीपं ब्रह्मविद्यया ब्रह्म प्राप्ताः सन्तः पस्पृशुः स्पृष्टवन्तः—ते हि प्रथमः प्रथमं विदाञ्चकार विदाञ्चक्रुरित्येतत्—तस्मादतितराम्

इन्द्रने उस उमासे पूछकर उसीके वचनसे [ब्रह्मको] जाना था; अतः इन्द्रके बोधकी हेतुभूता होनेसे उमा विद्या ही है। 'ईश्वर विद्यासहायवान् है' ऐसी स्मृति भी है। क्योंकि इन्द्रके विज्ञानपूर्वक अग्नि, वायु और इन्द्र इन देवताओंने ही ब्रह्मका, उसके नेदिष्ठ अर्थात् अत्यन्त समीप पहुँचकर ब्रह्मविद्याद्वारा स्पर्श किया था—उन्होंने प्रथम यानी पहले-पहल उसे जाना था इसलिये वे अन्य देवताओंसे बढ़े हुए हैं—उनसे अधिक देदीप्यमान होते हैं;

पद-भाष्य

णात् ततो हैव इति, न स्वातन्त्र्येण ॥ १ ॥

देवीके वाक्यसे ही इन्द्रने ब्रह्मको जाना] स्वतन्त्रतासे नहीं ॥ १ ॥

यस्मादग्निवाय्विन्द्रा एते देवा ब्रह्मणः संवाददर्शनादिना सामीप्यमुपगताः—

क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र— ये देवता ही ब्रह्मके साथ संवाद और दर्शनादि करनेके कारण उसकी समीपताको प्राप्त हुए थे—

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २ ॥

क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र—इन देवताओंने ही इस समीपस्थ ब्रह्मका स्पर्श किया था और उन्होंने ही उसे पहले-पहल 'यह ब्रह्म है' ऐसा जाना था, अतः वे अन्य देवताओंसे बढ़कर हुए ॥ २ ॥

पद-भाष्य

तस्मात् स्वैर्गुणैः अतितरामिव शक्तिगुणादिमहाभाग्यैः अन्यान् देवान् अतितराम् अतिशेरत इव एते देवाः । इव शब्दोऽनर्थकोऽवधारणार्थो वा । यद् अग्निः वायुः इन्द्रः ते हि देवा यस्माद् एनद् ब्रह्म नेदिष्ठम् अन्तिकतमं प्रियतमं पस्पर्शुः स्पृष्टवन्तो यथोक्तैर्ब्रह्मणः संवादादिप्रकारैः, ते हि यस्माच्च

इसलिये निश्चय ही ये देवगण अपने शक्ति एवं गुण आदि महान् सौभाग्योंके कारण अन्य देवताओंसे बढ़कर हुए । 'इव' शब्द निरर्थक अथवा निश्चयार्थक है । क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र—इन देवताओंने इस ब्रह्मका पूर्वोक्त संवाद आदि प्रकारोंसे नेदिष्ठ अर्थात् अत्यन्त निकटवर्ती एवं प्रियतम भावसे स्पर्श किया था

वाक्य-भाष्य

अतीत्यान्यानतिशयेन दीप्यन्ते । उनमें भी इन्द्र सबसे अधिक

पद-भाष्य

हेतोः एतद् ब्रह्म प्रथमः प्रथमाः प्रधानाःसन्त इत्येतत्, विदाञ्चकार विदाञ्चक्रुरित्येतद्ब्रह्मेति ॥२॥	और उन्होंने ही इस ब्रह्मको प्रथम अर्थात् प्रधानरूपसे 'यह ब्रह्म है' ऐसा जाना था ॥ २ ॥

यस्मादग्निवायू अपि इन्द्र-वाक्यादेव विदाञ्चक्रतुः,इन्द्रेण हि उमावाक्यात्प्रथमं श्रुतं ब्रह्मेति—	क्योंकि अग्नि और वायुने भी इन्द्रके वाक्यसे ही उसे जाना था, कारण कि उमाके वाक्यसे तो इन्द्रने ही पहले सुना था कि 'यह ब्रह्म है'—

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

इसलिये इन्द्र अन्य सब देवताओंसे बढ़कर हुआ; क्योंकि उसने ही इस समीपस्थ ब्रह्मका स्पर्श किया था—उसने ही पहले-पहल 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार इसे जाना था ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

तस्माद्वै इन्द्रः अतितरामिव अतिशेरत इव अन्यान् देवान् । स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श यस्मात्	अतः इन्द्र इन अन्य देवताओंकी अपेक्षा भी बढ़कर हुआ, क्योंकि उसीने इसका सबसे समीपसे स्पर्श किया था—उसीने इसे सबसे पहले

वाक्य-भाष्य

अन्यान्देवांस्ततोऽपीन्द्रोऽतितरां दीप्यते। आदौ ब्रह्मविज्ञानात् ॥ १-३॥	दीप्तिमान् है, क्योंकि सबसे पहले उसे ही ब्रह्मका ज्ञान हुआ था ॥ १-३ ॥

पद-भाष्य

स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेत्युक्तार्थं वाक्यम् ॥ ३ ॥

जाना था कि 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार इस वाक्यका अर्थ पहले ही कहा जा चुका है ॥ ३ ॥

ब्रह्मविषयक अधिदैव आदेश

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥ ४ ॥

उस ब्रह्मका यह [उपासना-सम्बन्धी] आदेश है। जो बिजलीके चमकनेके समान तथा पलक मारनेके समान प्रादुर्भूत हुआ वह उस ब्रह्मका अधिदैवत रूप है ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एष आदेश उपमोपदेशः। निरुपमस्य ब्रह्मणो येनोपमानेनोपदेशः सोऽयमादेश इत्युच्यते। किं तत् ? यदेतत्प्रसिद्धं लोके विद्युतो व्यद्युतद् विद्योतनं कृतवदित्येतदनुपपन्नमिति विद्युतो विद्योत-

उस प्रस्तावित ब्रह्मके विषयमें यह आदेश यानी उपमोपदेश है। जिस उपमासे उस निरुपम ब्रह्मका उपदेश किया जाता है वह 'आदेश' कहा जाता है। वह आदेश क्या है ? यह जो लोकमें प्रसिद्ध बिजलीका चमकना है। यहाँ 'व्यद्युतत्' शब्दका 'प्रकाश किया' ऐसा अर्थ अनुपपन्न होनेके कारण 'विद्युतो विद्योतनम्—विद्युत्-

वाक्य-भाष्य

तस्यैष आदेशः। तस्य ब्रह्मण एष वक्ष्यमाण आदेश उपासनोपदेश इत्यर्थः। यस्माद्देवेभ्यो

उसका यह आदेश है। अर्थात् उस ब्रह्मका यह आगे कहा जानेवाला आदेश—उपासनासम्बन्धी उपदेश है। क्योंकि ब्रह्म देवताओंके सामने विद्युत्-

पद-भाष्य

नमिति कल्प्यते । आ ३ इत्युपमार्थः । विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः, "यथा सकृद्विद्युतम्" इति श्रुत्यन्तरे च दर्शनात् । विद्युदिव हि सकृदात्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतं ब्रह्म देवेभ्यः ।

अथवा विद्युतः 'तेजः' इत्यध्याहार्यम् । व्यद्युतद् विद्योतितवत् आ ३ इव । विद्युतस्तेजः सकृद्विद्योतितवदिवेत्यभिप्रायः । इतिशब्द आदेशप्रतिनिर्देशार्थः—

का चमकना' ऐसा अर्थ माना जाता है । 'आ' यह अव्यय उपमाके लिये है । अर्थात् बिजली चमकनेके समान [ऐसा तात्पर्य है] । जैसा कि "यथा सकृद्विद्युतम्" इस अन्य श्रुतिसे भी देखा जाता है, क्योंकि ब्रह्म विद्युत्के समान ही अपनेको एक बार प्रकाशित करके देवताओंके सामनेसे तिरोभूत हो गया था ।

अथवा 'विद्युतः' इस पदके आगे 'तेजः' पदका अध्याहार करना चाहिये । 'व्यद्युतत्'का अर्थ है 'प्रकाशित हुआ' तथा 'आ' का अर्थ 'समान' है । अतः इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'जो बिजलीके तेजके समान एक बार प्रकाशित हुआ ।'

वाक्य-भाष्य

विद्युदिव सहसैव प्रादुर्भूतं ब्रह्म द्युतिमत्तस्माद्विद्युतो विद्योतनं यथा यदेतद्ब्रह्म व्यद्युतद्विद्योतितवत् । आ इवेत्युपमार्थ आशब्दः । यथा घनान्धकारं विदार्य विद्युत्सर्वतः प्रकाशत एवं तद्ब्रह्म देवानां पुरतः सर्वतः प्रकाशवद्व्यक्तीभूतमतो

के समान सहसा (अकस्मात्) ही प्रकट हो गया था, इसलिये जो यह ब्रह्म प्रकाशमय है वह विद्युत्के प्रकाशके समान प्रकाशित हुआ । 'आ' का अर्थ 'इव' है; यह 'आ' शब्द उपमाके लिये है । जिस प्रकार बिजली सघन अन्धकारको विदीर्ण करके सब ओर प्रकाशित होती है उसी प्रकार वह ब्रह्म देवताओंके सामने सब ओर प्रकाशयुक्त होकर व्यक्त हुआ; इसलिये 'वह

पद-भाष्य

इत्ययमादेश इति । इच्छब्दः समुच्चयार्थः ।

'इति' शब्द आदेशका संकेत करनेके लिये है अर्थात् 'यह आदेश है' ऐसा बतलानेके लिये है, और 'इत्' शब्द समुच्चयार्थक है ।

अयं चापरस्तस्यादेशः । कोऽसौ ? न्यमीमिषद् यथा चक्षुः न्यमीमिषद् निमेषं कृतवत् । स्वार्थे णिच् । उपमार्थ एव आकारः । चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाशतिरोभाव इव चेत्यर्थः । इति अधिदैवतं देवताविषयं ब्रह्मण उपमानदर्शनम् ॥ ४ ॥

इसके सिवा एक दूसरा आदेश यह भी है । वह क्या है ? [सुनो—] जिस प्रकार नेत्र निमेष करता है, उसी प्रकार उसने भी निमेष किया । यहाँ स्वार्थमें 'णिच्' प्रत्यय हुआ है । 'आ' उपमाके ही लिये है । इस प्रकार 'नेत्रके विषयसे प्रकाशके छिप जानेके समान' ऐसा अर्थ हुआ । इस तरह यह ब्रह्मकी अधिदैवत—देवताविषयक उपमा दिखलायी गयी ॥ ४ ॥

वाक्य-भाष्य

व्यद्युतदिवेत्युपास्यम् । यथा सकृद्विद्युतमिति च वाजसनेयके ।

विजलीकी चमकके समान है' इस प्रकार उपासना करनेयोग्य है । जैसा कि वाजसनेयक श्रुतिमें भी 'यथा सकृद्विद्युतम्' ऐसा कहा है ।

यस्माच्चेन्द्रोपसर्पणकाले न्यमीमिषत् । यथा कश्चिच्चक्षुर्निमेषणं कृतवानिति । इतीदित्यनर्थकौ निपातौ । निमिषितवद्विव तिरोभूतम् । इति एवमधिदैवतं देवताया अधि यद्दर्शनमधिदैवतं तत् ॥ ४ ॥

क्योंकि इन्द्रके समीप जानेके समय ब्रह्म इस प्रकार संकुचित हो गया था, मानो किसीने नेत्र मूँद लिये हों; अतः वह नेत्र मूँदनेके समान तिरोहित हुआ । इस प्रकार वह अधिदैवत ब्रह्मदर्शन है । जो दर्शन देवतासम्बन्धी होता है वह अधिदैवत कहलाता है । 'इति' और 'इत्' इन दोनों निपातोंका यहाँ कुछ अर्थ नहीं है ॥ ४ ॥



ब्रह्मविषयक अध्यात्म आदेश

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुप-स्मरत्यभीक्ष्णꣳ सङ्कल्पः ॥ ५ ॥

इसके अनन्तर अध्यात्म-उपासनाका उपदेश कहते हैं—यह मन जो जाता हुआ-सा कहा जाता है वह ब्रह्म है—इस प्रकार उपासना करनी चाहिये, क्योंकि इससे ही यह ब्रह्मका स्मरण करता है और निरन्तर संकल्प किया करता है ॥ ५ ॥

पद-भाष्य

अथ अनन्तरम् अध्यात्मं प्रत्यगात्मविषय आदेश उच्यते। यदेतद् गच्छतीव च मनः। एतद्ब्रह्म ढौकत इव विषयीकरोतीव। यच्च अनेन मनसा एतद् ब्रह्म उपस्मरति समीपतः स्मरति साधकः अभीक्ष्णं भृशम्। संक-

इसके पश्चात् अब अध्यात्म अर्थात् प्रत्यगात्मा-सम्बन्धी आदेश कहा जाता है। यह जो मन जाता हुआ-सा मालूम होता है, सो वह मानो ब्रह्मको ही विषय करता है। और साधक पुरुष इस मनसे जो ब्रह्मका वारम्वार उपस्मरण—समीपसे स्मरण करता है [वह उसका अध्यात्म आदेश है]।

वाक्य-भाष्य

अथ अनन्तरमध्यात्ममात्मविषयमध्यात्ममुच्यत इति वाक्यशेषः। यदेतद्यथोक्तलक्षणं ब्रह्म गच्छतीव प्राप्नोतीव विषयीकरोतीवेत्यर्थः। न पुनर्विषयीकरोति

अब आगे अध्यात्म—आत्मविषयक उपासना कही जाती है—इस प्रकार इस वाक्यमें 'उच्यते' यह क्रियापद शेष है। जो यह मन उपर्युक्त लक्षणोंवाले ब्रह्मके प्रति मानो जाता—प्राप्त होता अर्थात् विषय करता है [वह ब्रह्म है—इस प्रकार उपासना करनी चाहिये]। मन वस्तुतः ब्रह्मको विषय नहीं करता, क्योंकि ब्रह्म तो

पद-भाष्य

ल्पश्च मनसो ब्रह्मविषयः । मन-उपाधिकत्वाद्धि मनसः संकल्प-स्मृत्यादिप्रत्ययैरभिव्यज्यते ब्रह्म, विषयीक्रियमाणमिव । अतः स एष ब्रह्मणोऽध्यात्ममादेशः ।

विद्युन्निमेषणवदधिदैवतं द्रुत-प्रकाशनधर्मि, अध्यात्मं च मनः-प्रत्ययसमकालाभिव्यक्तिधर्मि— इत्येष आदेशः । एवमादिश्यमानं हि ब्रह्म मन्दबुद्धिगम्यं भवतीति

मनका सङ्कल्प भी ब्रह्मको ही विषय करनेवाला है । ब्रह्म मनरूप उपाधिवाला है; इसलिये मनकी सङ्कल्प एवं स्मृति आदि प्रतीतियोंसे मानो विषय किया जाता हुआ ब्रह्म ही अभिव्यक्त होता है । अतः यह उस ब्रह्मका अध्यात्म आदेश है ।

विद्युत् और निमेषोन्मेषके समान ब्रह्म शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है—यह अधिदैवत आदेश कहा गया और वह मनकी प्रतीतिके समकालमें अभिव्यक्त होनेवाला है—यह उसका अध्यात्म आदेश है । इस प्रकार उपदेश किया हुआ ब्रह्म मन्दबुद्धियोंकी भी समझमें आ जाता है—इसलिये यह [सोपाधिक]

वाक्य-भाष्य

मनसोऽविषयत्वाद्ब्रह्मणोऽतो मनो न गच्छति । येनाहुर्मनो मतमिति हि चोक्तम् । तु गच्छतीवेति मनसोऽपि मनस्त्वात् ।

आत्मभूतत्वाच्च ब्रह्मणस्तत्स-मीपे मनो वर्तत इति । उपसरत्य-नेन मनसैव तद्ब्रह्म विद्वान्यस्मा-त्तस्माद्ब्रह्म गच्छतीवेत्युच्यते ।

मनका अविषय है; इसलिये वह उसतक नहीं पहुँच सकता, जैसा कि पहले कह चुके हैं कि 'जिससे मन मनन किया कहा जाता है ।' अतः मनका भी मन होनेके कारण 'गच्छतीव' (मानो जाता है) ऐसा कहा गया है ।

अर्थात् ब्रह्मका स्वरूपभूत होनेके कारण मन उसके समीप रहता है । क्योंकि विद्वान् इस मनसे ही उस ब्रह्मका स्मरण करता है इसलिये [मन] ब्रह्मके समीप मानो जाता है, ऐसा

पद-भाष्य

ब्रह्मण आदेशोपदेशः । न हि निरुपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकलयितुं शक्यम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मका उपदेश है, क्योंकि मन्दबुद्धि पुरुषोंद्वारा निरुपाधिक ब्रह्मका ही ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥ ५ ॥

वन-संज्ञक ब्रह्मकी उपासनाका फल

किं च— । तथा—

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनꣳ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

वह यह ब्रह्म ही वन (सम्भजनीय) है । उसकी 'वन'—इस नामसे उपासना करनी चाहिये । जो उसे इस प्रकार जानता है उसे सभी भूत अच्छी तरह चाहने लगते हैं ॥ ६ ॥

पद-भाष्य

तद् ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तस्य वनं तद्वनं तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वाद्वनं वननीयं संभजनीयम् । अतः तद्वनं नाम; प्रख्यातं ब्रह्म तद्वनमिति यतः,

वह ब्रह्म निश्चय ही 'तद्वन' नामवाला है । 'तस्य वनं तद्वनम्' [इस प्रकार यहाँ षष्ठीतत्पुरुष समास है] । अर्थात् यह उस प्राणिसमूहका प्रत्यगात्मस्वरूप होनेके कारण वन—वननीय अर्थात् भजनीय है । इसलिये इसका नाम 'तद्वन' है । क्योंकि ब्रह्म 'तद्वन'

वाक्य-भाष्य

अभीक्ष्णं पुनः पुनश्च सङ्कल्पो ब्रह्मप्रेषितस्य मनसः । अत उपस्मरणसङ्कल्पादिभिर्लिङ्गैर्ब्रह्ममनोऽध्यात्मभूतमुपास्यमित्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

कहा जाता है । ब्रह्मद्वारा प्रेरित मनका ही बारम्बार सङ्कल्प होता है । अतः तात्पर्य यह है कि स्मरण और सङ्कल्प आदि लिङ्गोंसे मनकी अध्यात्म ब्रह्मस्वरूपसे उपासना करनी चाहिये ॥५॥

पद-भाष्य

तस्मात् तद्वनमिति अनेनैव गुणाभिधानेन उपासितव्यं चिन्तनीयम् ।

अनेन नाम्नोपासनस्य फलमाह स यः कश्चिद् एतद् यथोक्तं ब्रह्म एवं यथोक्तगुणं वेद उपास्ते अभि ह एनम् उपासकं सर्वाणि

इस नामसे प्रसिद्ध है, इसलिये उसकी 'तद्वन' इस गुणव्यञ्जक नामसे ही उपासना—चिन्तन करना चाहिये ।

इस नामसे की हुई उपासनाका फल वतलाते हैं—'जो कोई इस पूर्वोक्त ब्रह्मको उपर्युक्त गुणोंसे युक्त जानता अर्थात् उपासना करता है । उस उपासकसे समस्त प्राणी इसी प्रकार अपने सम्पूर्ण अभीष्ट

वाक्य-भाष्य

तस्य चाध्यात्ममुपासने गुणो विधीयते—

तद्ध तद्वनम् तदेतद्ब्रह्म तच्च तद्वनं च तत्परोक्षं वनं सम्भजनीयम् । वनतेस्तत्कर्मणस्तस्मात्तद्वनं नाम । ब्रह्मणो गौणं हीदं नाम । तस्मादनेन गुणेन तद्वनमित्युपासितव्यम् । स यः कश्चिदेतद्यथोक्तमेवं यथोक्तेन गुणेन वनमित्यनेन नाम्नाभिधेयं ब्रह्म वेदोपास्ते तस्यैतत्फलमुच्यते । सर्वाणि भूतान्येनमुपासकमभिसंवाञ्छ-

उस ब्रह्मकी अध्यात्म-उपासनामें गुणका विधान किया जाता है—

'यह ब्रह्म तद्वन' है, यानी ह ब्रह्म तत् अर्थात् परोक्ष और वन—अच्छी तरह भजन करने योग्य है । [वन धातुका अर्थ अच्छी प्रकार भजन करना है] तत् शब्द जिसका कर्मभूत है ऐसे वन धातुसे तद्वन शब्द सिद्ध होता है; अतः उसका 'तद्वन' नाम है । ब्रह्मका यह नाम गुणविशेषके कारण है । अतः इस गुणके कारण वह 'वन है' इस प्रकार उपासना करने योग्य है । वह, जो कोई उपर्युक्त गुणके कारण पहले कहे हुए 'वन' इस नामसे इसके अभिधेय ब्रह्मको जानता अर्थात् उपासना करता है उसके लिये यह फल बतलाया जाता है । इस उपासककी सभी भूत इच्छा करते हैं

पद-भाष्य

भूतानि अभि संवाञ्छन्ति ह प्रार्थयन्त एव यथा ब्रह्म ॥ ६ ॥	फलोंकी इच्छा यानी प्रार्थना करने लगते हैं, जैसे कि ब्रह्मसे ॥ ६ ॥

एवमनुशिष्टः शिष्य आचार्य-मुवाच—	इस प्रकार उपदेश पाकर शिष्यने आचार्यसे कहा—

उपसंहार

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्ब्राह्मी वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७ ॥

[शिष्यके यह कहनेपर कि] हे गुरो ! उपनिषद् कहिये [गुरुने कहा] 'हमने तुझसे उपनिषद् कह दी । अब हम तेरे प्रति ब्राह्मण-जातिसम्बन्धिनी उपनिषद् कहेंगे' ॥ ७ ॥

पद-भाष्य

उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं भो भगवन् ब्रूहि इति ।	हे भगवन् ! जो चिन्तनीय उपनिषद् यानी रहस्य है वह मुझसे कहिये ।
एवमुक्तवति शिष्ये आहाचार्यः—उक्ता अभिहिता ते तव	शिष्यके ऐसा कहनेपर आचार्यने कहा, 'तुझसे उपनिषद् तो कह दी गयी ।' वह उपनिषद् क्या है ?

वाक्य-भाष्य

न्तीहाभिसम्भजन्ते सेवन्ते स्मेत्यर्थः । यथागुणोपासनं हि फलम् ॥ ६ ॥	अर्थात् सभी उसका भजन यानी सेवा करते हैं । यह प्रसिद्ध ही है कि जैसे गुणवालेकी उपासना की जाती है वैसा ही फल होता है ॥ ६ ॥
उपनिषदं भो ब्रूहि इत्युक्तायामप्युपनिषदि शिष्येणोक्त	इस प्रकार उपनिषद् कह चुकनेपर भी जब शिष्यने कहा कि 'उपनिषद् कहिये' तब आचार्य बोले—'मैंने

पद-भाष्य

उपनिषत् । का पुनः सेत्याह—ब्राह्मीं ब्रह्मणः परमात्मन इयं ब्राह्मी ताम्, परमात्मविषयत्वादतीतविज्ञानस्य, बाव एव ते उपनिषदमब्रूमेति उक्तामेव परमात्मविषयामुपनिषदमब्रूमेत्यवधारयत्युत्तरार्थम् ।

सो बतलाते हैं—हमने तेरे प्रति ब्राह्मी—ब्रह्म यानी परमात्मसम्बन्धिनी उपनिषद् ही कही है, क्योंकि पूर्वकथित विज्ञान परमात्मसम्बन्धी ही था। 'वाव'—निश्चय ही 'ते उपनिषदमब्रूम' इस वाक्यके द्वारा पहले कही हुई उपनिषद्को ही लक्ष्य करके 'मैंने तुमसे परमात्मसम्बन्धिनी उपनिषद् ही कही है' इस प्रकार* अगले ग्रन्थका विषय स्पष्ट करनेके लिये निश्चय करते हैं।

परमात्मविषयामुपनिषदं श्रुतवतः उपनिषदं भो ब्रूहीति पृच्छतः शिष्यस्य कोऽभिप्रायः? यदि तावच्छ्रुतस्यार्थस्य प्रश्नः कृतः, ततः पिष्टपेषणवत्पुनरुक्तोऽनर्थकः प्रश्नः स्यात् । अथ सावशेषोक्तोपनिषत्स्यात्, ततस्त-

यहाँ परमात्मविषयिणी उपनिषद्को सुन चुकनेवाले शिष्यका 'उपनिषद् कहिये' इस प्रकार प्रश्न करनेमें क्या अभिप्राय है? यदि उसने सुनी हुई बातके विषयमें ही पुनः प्रश्न किया है तो उसका पुनः कहना पिष्टपेषण (पिसे हुएको पीसने) के समान निरर्थक ही है। और यदि पहले कही हुई उपनिषद् असम्पूर्ण होती तो "इस लोकसे

वाक्य-भाष्य

आचार्य आह—उक्ता कथिता ते तुभ्यमुपनिषदात्मोपासनं च अधुना ब्राह्मीं वाव ते तुभ्यं

तुझसे उपनिषद् और आत्माकी उपासना कह दी' । अब हम तुझे ब्राह्मी—ब्रह्मकी—ब्राह्मण-जातिकी उपनिषद् सुनाते हैं । यह उपनिषद्

* उपनिषद्के जिज्ञासु शिष्यसे आचार्य पूर्वमें ही उपनिषद्का कथन कर यह स्पष्ट करते हैं कि उत्तर ग्रन्थमें उपनिषद्का वर्णन नहीं है।

पद-भाष्य

स्याः फलवचनेनोपसंहारो न युक्तः "प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" (के० उ० २ । ५) इति । तस्मादुक्तोपनिषच्छेषविषयोऽपि प्रश्नोऽनुपपन्न एव, अनवशेषितत्वात् । कस्तर्ह्यभिप्रायः प्रष्टुरित्युच्यते—

किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तरापेक्षा, अथ निरपेक्षैव ? सापेक्षा चेदपेक्षितविषयामुपनिषदं ब्रूहि । अथ निरपेक्षा चेदवधारय पिप्पलादवन्नातः परमस्तीत्येवमभिप्रायः ।

प्रयाण करनेके अनन्तर वे अमर हो जाते हैं" इस प्रकार फल बतलाते हुए उसका उपसंहार करना उचित न होता । अतः पूर्वोक्त उपनिषद्के अवशिष्ट (कहनेसे बचे हुए) अंशके सम्बन्धमें प्रश्न करना भी अयुक्त ही है, क्योंकि उसमें कोई बात कहनेसे छोड़ी नहीं गयी । तो फिर प्रश्नकर्ताका क्या अभिप्राय हो सकता है ? इसपर कहा जाता है—

पहले जो उपनिषद् कही गयी है उसके अवशेषरूपसे किन्हीं अन्य सहकारी साधनोंकी अपेक्षा है अथवा वह सर्वथा निरपेक्षा ही कही गयी है ? यदि वह सापेक्षा है तो अपेक्षित विषयसम्बन्धिनी उपनिषद् कहिये और यदि उसे किसीकी अपेक्षा नहीं है तो पिप्पलादके समान* इससे पर और कुछ नहीं है—इस प्रकार निर्धारण कीजिये—

वाक्य-भाष्य

ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेरुपनिषदमब्रूम वक्ष्याम इत्यर्थः । वक्ष्यति हि । ब्राह्मी नोक्ता उक्ता त्वात्मोपनिषत् । तस्मान्न भूताभिप्रायोऽब्रूमेत्ययं शब्दः ॥ ७ ॥

आगे कही जायगी । अबतक ब्राह्मी उपनिषद् नहीं कही गयी, आत्मासम्बन्धिनी उपनिषद् ही कही गयी है । अतः 'अब्रूम' इस शब्दसे भूतकालका अभिप्राय नहीं है ॥ ७ ॥

* देखिये प्रश्नोपनिषद् ६ । ७

पद-भाष्य

एतदुपपन्नमाचार्यस्यावधारण-वचनम् 'उक्ता त उपनिषत्' इति ।

ननु नावधारणमिदम्, यतोऽन्यद्वक्तव्यमाह 'तस्यै तपो दमः' इत्यादि ।

तपःप्रभृतीनां ब्रह्मविद्याया अशेषत्वप्रतिपादनम्

सत्यम्, वक्तव्यमुच्यते आचार्येण न तूक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तराभिप्रायेण वा; किं तु ब्रह्मविद्याप्राप्त्युपायाभिप्रायेण वेदैस्तदङ्गैश्च सहपाठेन समीकरणात्तपःप्रभृतीनाम् । न हि वेदानां शिक्षाद्यङ्गानां च साक्षाद्ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्वं वा सम्भवति ।

सहपठितानामपि यथायोगं विभज्य विनियोगः स्यादिति चेत्; यथा सूक्तवाकानुमन्त्रणमन्त्राणां यथादैवतं विभागः;

यह शिष्यके प्रश्नका अभिप्राय है, अतः आचार्यका 'तुझसे उपनिषद् कह दी गयी' यह अवधारणवाक्य ठीक ही है।

शङ्का—यह अवधारणवाक्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'तस्यै तपो दमः' इत्यादि आगामी वाक्यद्वारा कुछ और कहने योग्य बात कही गयी है।

समाधान—ठीक है, आचार्यने एक दूसरे कथनीय विषयको तो कहा है; तथापि उसे पूर्वोक्त उपनिषद्के अवशेषरूप अथवा अन्य सहकारी साधनरूपसे नहीं कहा। बल्कि ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके उपाय बतलानेके ही अभिप्रायसे कहा है, क्योंकि मन्त्रमें वेद और उनके अङ्गोंके साथ तप आदिका पाठ करके उनसे इनकी समानता प्रकट की गयी है; क्योंकि वेद और शिक्षादि वेदाङ्ग ब्रह्मविद्याके साक्षात् शेषभूत अथवा उसके सहकारी साधन नहीं हो सकते। [अतः इनके साथ पाठ होनेसे तप आदि भी विद्याके अङ्ग या साधन सिद्ध नहीं होते]।

शङ्का—किन्तु [वेद-वेदाङ्गोंके] साथ-साथ पढ़े हुए होनेपर भी तप आदिका भी सम्बन्धके अनुसार विभाग करके प्रयोग किया जा सकता है। अर्थात् जिस प्रकार सूक्तवाकरूप अनुमन्त्रण मन्त्रोंका उनके देवताओं-

पद-भाष्य

तथा तपोदमकर्मसत्यादीनामपि ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्वं वेति कल्प्यते । वेदानां तदङ्गानां चार्थप्रकाशकत्वेन कर्मात्मज्ञानोपायत्वमित्येवं ह्ययं विभागो युज्यते अर्थसम्बन्धोपपत्तिसामर्थ्यादिति चेत् ।

न; अयुक्तेः । न ह्ययं विभागो घटनां प्राञ्चति । न हि सर्वक्रियाकारकफलभेदबुद्धितिरस्कारिण्या ब्रह्मविद्यायाः शेषापेक्षा सहकारिसाधनसम्बन्धो वा युज्यते । सर्वविषयव्यावृत्तप्रत्यगात्मविषयनिष्ठत्वाच्च ब्रह्मविद्यायास्तत्फलस्य च निःश्रेय-

के अनुसार विभाग किया जाता है* उसी प्रकार तप, दम, कर्म और सत्यादिको भी ब्रह्मविद्याका शेषभूत अथवा सहकारी साधन माना जा सकता है । वेद और उनके अङ्ग अर्थके प्रकाशक होनेसे कर्म और आत्मज्ञानके साधन हैं——इस प्रकार अर्थके सम्बन्धकी उपपत्तिके सामर्थ्यसे उनका ऐसा विभाग उचित ही है । ऐसा मानें तो ?

समाधान—युक्तिसङ्गत न होनेके कारण ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा विभाग प्रस्तुत प्रसंगके अनुकूल नहीं हैं । सब प्रकारकी क्रिया कारक फल और भेदबुद्धिका तिरस्कार करनेवाली ब्रह्मविद्यामें किसी प्रकारके शेषकी अपेक्षा अथवा उचित सहकारी साधनका सम्बन्ध मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मविद्या और उसका फल निःश्रेयस——ये सब प्रकारके विषयोंसे निवृत्त होकर प्रत्यगात्मा-रूप विषयमें स्थित होनेवाले हैं । [कहा भी है—] "मोक्षकी इच्छा करनेवाला पुरुष

* अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत ।
अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राताम् ॥

इत्यादि सूक्तवाकसे ही समस्त यज्ञोंकी समाप्तिपर देवताओंका अनुमन्त्रण किया जाता है । यद्यपि इस सूक्तवाकमें बहुतसे देवताओंका निर्देश किया गया है, तो भी जिस यज्ञमें जिस देवताका आवाहन किया जाता है उसीके विसर्जनमें समर्थ होनेके कारण जिस प्रकार इस सूक्तवाकका विनियोग होता है उसी प्रकार तप आदिका भी विद्याके शेषरूपसे विनियोग हो जायगा ।

पद-भाष्य

सस्य । "मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम् । त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्" तस्मात्कर्मणां सहकारित्वं कर्मशेषापेक्षा वा न ज्ञानस्योपपद्यते । ततोऽसदेव सूक्तवाकानुमन्त्रणवद्यथायोगं विभाग इति । तस्मादवधारणार्थतैव प्रश्नप्रतिवचनस्योपपद्यते । एतावत्येवेयम् उपनिषदुक्तान्यनिरपेक्षा अमृतत्वाय ॥ ७ ॥

सर्वदा साधनसहित कर्मोंको त्याग दे । त्याग करनेसे ही त्यागीको अपने प्रत्यगात्मरूप परमपदका ज्ञान हो सकता है" अतः कर्मको ज्ञानकी सहकारिता अथवा ज्ञानको कर्मका शेष होनेकी अपेक्षा सम्भव नहीं है । अतः सूक्तवाकरूप अनुमन्त्रणके समान इन तप आदिका भी सम्बन्धके अनुसार विभाग हो सकता है—ऐसा विचार मिथ्या ही है । अतः [शिष्यके उपर्युक्त] प्रश्नका जो उत्तर है वह [उपदेशकी समाप्तिका] अवधारण करनेके लिये है—ऐसा मानना ही ठीक है । अर्थात् अमरत्व-प्राप्तिके लिये किसी अन्य साधनकी अपेक्षासे रहित इतनी ही उपनिषद् कही गयी है ॥ ७ ॥

विद्याप्राप्तिके साधन

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥

उस (ब्राह्मी उपनिषद्) की तप, दम, कर्म तथा वेद और सम्पूर्ण वेदाङ्ग—ये प्रतिष्ठा हैं एवं सत्य आयतन है ॥ ८ ॥

वाक्य-भाष्य

तस्या वक्ष्यमाणाया उपनिषदः तपो ब्रह्मचर्यादि दम उपशमः कर्म अग्निहोत्रादीत्येतानि प्रतिष्ठाश्रयः । एतेषु हि सत्सु ब्राह्म्युपनिषत् प्रतिष्ठिता भवति । वेदाश्चत्वारोऽङ्गानि च सर्वाणि । प्रतिष्ठेत्यनु-

उस आगे कही जानेवाली उपनिषद्की तप—ब्रह्मचर्यादि, दम—इन्द्रिय-निग्रह तथा अग्निहोत्रादि कर्म—ये सब प्रतिष्ठा—आश्रय हैं । इनके होनेपर ही ब्राह्मी उपनिषद् प्रतिष्ठित हुआ करती है । चारों वेद तथा सम्पूर्ण वेदाङ्ग भी प्रतिष्ठा ही हैं । इस प्रकार ['वेदाः सर्वाङ्गानि' के आगे] 'प्रतिष्ठा' पदकी अनुवृत्ति की जाती है । क्योंकि

पद-भाष्य

यामिमां ब्राह्मीमुपनिषदं तवाग्रेऽब्रूमेति तस्यै तस्या उक्ताया उपनिषदः प्राप्त्युपायभूतानि तपआदीनि । तपः कायेन्द्रियमनसां समाधानम् । दमः उपशमः । कर्म अग्निहोत्रादि । एतैर्हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्दृष्टा । दृष्टा ह्यमृदितकल्मषस्योक्तेऽपि ब्रह्मण्यप्रतिपत्तिर्विपरीतप्रतिपत्तिश्च, यथेन्द्रविरोचनप्रभृतीनाम् ।

तस्मादिह वातीतेषु वा बहुषु जन्मान्तरेषु तपआदिभिः कृतसत्त्वशुद्धेर्ज्ञानं समुत्पद्यते यथाश्रुतम्; "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा

तुम्हारे सामने जिस ब्राह्मी उपनिषद्का वर्णन किया है उस पूर्वकथित उपनिषद्की प्राप्तिके उपायभूत तप आदि हैं । शरीर, इन्द्रिय और मनके समाधानका नाम तप है । दम उपशम (विषयोंसे निवृत्त होने) को कहते हैं । और कर्म अग्निहोत्रादि हैं । इनके द्वारा संस्कारयुक्त हुए पुरुषोंको ही चित्तशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति होती देखी गयी है । जिनका मनोमल निवृत्त नहीं हुआ है उन पुरुषोंको तो उपदेश दिया जानेपर भी ब्रह्मके विषयमें अज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान होता देखा गया है, जैसे इन्द्र और विरोचन आदिको ।

अतः इस जन्ममें अथवा बीते हुए अनेकों जन्मोंमें जिनका चित्त तप आदिसे शुद्ध हो गया है उन्हें ही श्रुत्युक्त ज्ञान उत्पन्न होता है । "जिसकी भगवान्में अत्यन्त भक्ति

वाक्य-भाष्य

वर्तते । ब्रह्माश्रया हि विद्या । सत्यं यथाभूतवचनमपीडाकरम् आयतनं निवासः सत्यवत्सु हि सर्वं यथोक्तमायतन इवावस्थितम् ॥ ८ ॥

विद्या ब्रह्म (वेद) के ही आश्रय रहनेवाली है । सत्य अर्थात् दूसरेको पीडा न पहुँचानेवाला यथार्थ वचन आयतन—निवासस्थान है, क्योंकि सत्यवान् पुरुषोंमें ही उपर्युक्त साधन आयतनके समान स्थित हैं ॥ ८ ॥

पद-भाष्य

देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" (श्वे० उ० ६। २३) इति मन्त्र-वर्णात्। "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" (महा० शा० २०४। ८) इति स्मृतेश्च।

है और जैसी भगवान्‌में है वैसी ही गुरुमें भी है उस महात्माको ही ये पूर्वोक्त विषय प्रकाशित होते हैं" इस मन्त्रवर्णसे तथा "पापकर्मोंके क्षीण होनेपर पुरुषोंको ज्ञान उत्पन्न होता है" इस स्मृतिसे भी यही प्रमाणित होता है।

इतिशब्दः उपलक्षणत्वप्रदर्शनार्थः। इति एवमाद्यन्यदपि ज्ञानोत्पत्तेरुपकारकम् "अमानित्वमदम्भित्वम्" (गीता १३। ७) इत्याद्युपदर्शितं भवति। प्रतिष्ठा पादौ पादाविवास्याः, तेषु हि सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या प्रवर्तते, पद्भ्यामिव पुरुषः। वेदाश्चत्वारः सर्वाणि चाङ्गानि शिक्षादीनि षट् कर्मज्ञानप्रकाशकत्वाद्वेदानां तद्रक्षणार्थत्वाद् अङ्गानां प्रतिष्ठात्वम्।

[मूल मन्त्रमें] 'इति' शब्द [अन्य साधनोंका] उपलक्षणत्व प्रदर्शित करनेके लिये है। अर्थात् इसी प्रकार ज्ञानकी उत्पत्ति करनेवाले "अमानित्व अदम्भित्व" आदि अन्य साधन भी प्रदर्शित हो जाते हैं। 'प्रतिष्ठा' चरणोंको कहते हैं अर्थात् ये चरणोंके समान इसके आधारभूत हैं। जिस प्रकार पुरुष अपने चरणोंपर स्थित होकर व्यापार करता है उसी प्रकार इन साधनोंके रहते हुए ही ब्रह्मविद्या स्थित और प्रवृत्त होती है। ऋक् आदि चार वेद और शिक्षा आदि छः अङ्ग [भी प्रतिष्ठा] हैं। कर्म और ज्ञानके प्रकाशक होनेके कारण वेदोंको और उनकी रक्षाके कारणभूत होनेसे वेदाङ्गोंको ब्रह्मविद्याकी प्रतिष्ठा कहा गया है।

अथवा, प्रतिष्ठाशब्दस्य पादरूपकल्पनार्थत्वाद्वेदास्त्वितराणि सर्वाङ्गानि शिरआदीनि।

अथवा 'प्रतिष्ठा' शब्दकी चरणरूपसे कल्पना की गयी है; इसलिये वेद उस ब्रह्मविद्याके शिर आदि अन्य सम्पूर्ण अङ्ग हैं। इस पक्षमें

पद-भाष्य

अस्मिन् पक्षे शिक्षादीनां वेदग्रहणेनैव ग्रहणं कृतं प्रत्येतव्यम्। अङ्गिनि हि गृहीतेऽङ्गानि गृहीतानि एव भवन्ति, तदायत्तत्वादङ्गानाम्।

सत्यम् आयतनं यत्र तिष्ठत्युपनिषत् तदायतनम्। सत्यमिति अमायिता अकौटिल्यं वाङ्मनःकायानाम्। तेषु ह्याश्रयति विद्या ये अमायाविनः साधवः, नासुरप्रकृतिषु मायाविषु; "न येषु जिह्ममनृतं न माया च" (प्र० उ० १। १६) इति श्रुतेः। तस्मात्सत्यमायतनमिति कल्प्यते। तपआदिषु एव प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनरायतनत्वेन ग्रहणं साधनातिशयत्वज्ञापनार्थम्। "अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते" (विष्णुस्मृ० ८) इति स्मृतेः॥ ८॥

शिक्षा आदिका वेदका ग्रहण करनेसे ही ग्रहण किया समझ लेना चाहिये। क्योंकि अङ्गीके अधीन ही अङ्ग होते हैं इसलिये अङ्गीके गृहीत होनेपर उसके अङ्ग भी गृहीत हो ही जाते हैं।

सत्य आयतन है। जहाँ वह उपनिषद् स्थित होती है वही उसका आयतन है। वाणी, मन और शरीरकी अमायिकता यानी अकुटिलताका नाम 'सत्य' है। जो लोग अमायावी और साधु (शुद्धस्वभाव) होते हैं उन्हींमें ब्रह्मविद्या आश्रय लेती है, आसुरी प्रकृतिवाले मायावियोंमें नहीं, जैसा कि "जिनमें कुटिलता, मिथ्या और माया नहीं है" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है। अतः सत्य उसका आयतन है—ऐसी कल्पना की जाती है। तप आदिमें ही प्रतिष्ठारूपसे प्राप्त हुए सत्यको फिर आयतनरूपसे ग्रहण करना उसका अतिशय साधनत्व प्रदर्शित करनेके लिये है। "सहस्र अश्वमेध और सत्य तराजूमें रखे जानेपर सहस्र अश्वमेधोंकी अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है" इस स्मृतिसे भी यही प्रमाणित होता है॥ ८॥

ग्रन्थावगाहनका फल

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ९ ॥

जो निश्चयपूर्वक इस उपनिषद्को इस प्रकार जानता है वह पापको क्षीण करके अनन्त और महान् स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है, प्रतिष्ठित होता है ॥ ९ ॥

पद-भाष्य

यो वै एतां ब्रह्मविद्याम् 'केनेषितम्' इत्यादिना यथोक्ताम् एवं महाभागाम् 'ब्रह्म ह देवेभ्यः' इत्यादिना स्तुतां सर्वविद्याप्रतिष्ठां वेद 'अमृतत्वं हि विन्दते' इत्युक्तमपि ब्रह्मविद्याफलमन्ते निगमयति—

'केनेषितम्' इत्यादि वाक्यद्वारा कही हुई तथा 'ब्रह्म ह देवेभ्यः' आदि आख्यायिकाद्वारा स्तुत इस महाभागा और सम्पूर्ण विद्याओंकी आश्रयभूता ब्रह्मविद्याको जो पुरुष जानता है वह पापको छोड़कर अर्थात् अविद्या, कामना और कर्मरूप संसारके बीजको त्यागकर अनन्त—जिसका कोई पार नहीं है उस स्वर्गलोकमें अर्थात् सुखस्वरूप

वाक्य-भाष्य

तामेतां तपआद्यङ्गां तत्प्रतिष्ठां ब्राह्मीमुपनिषदं सायतनामात्मज्ञानहेतुभूतामेवं यथावद्यो वेद अनुवर्ततेऽनुतिष्ठति; तस्यैतत्फलम् आह—अपहत्य पाप्मानम् अपक्षीय धर्माधर्मावित्यर्थः अनन्तेऽपारेऽविद्यमानान्ते स्वर्गे लोके सुखप्राये निर्दुःखात्मनि

तप आदि अङ्गोंवाली और उन्हींपर प्रतिष्ठित इस ब्राह्मी उपनिषद्को, जो कि आत्मज्ञानकी हेतुभूत है, जो उसके आयतनके सहित इस प्रकार यथावत् जानता है—जो उसका अनुवर्तन यानी अनुष्ठान करता है उसके लिये यह फल बतलाया गया है। वह पापको क्षीण करके अर्थात् धर्म और अधर्मका क्षय करके जिसका अन्त न हो उस स्वर्गलोकमें अर्थात् दुःखरहित आनन्दप्राय और अनन्त—अपार अर्थात्

पद-भाष्य

अपहत्य पाप्मानम् अविद्याकामकर्मलक्षणं संसारबीजं विधूय अनन्ते अपर्यन्ते स्वर्गे लोके सुखात्मके ब्रह्मणीत्येतत्। अनन्ते इति विशेषणान्न त्रिविष्टपे अनन्तशब्द औपचारिकोऽपि स्याद् इत्यत आह—ज्येये इति। ज्येये ज्यायसि सर्वमहत्तरे स्वात्मनि मुख्ये एव प्रतितिष्ठति। न पुनः संसारमापद्यत इत्यभिप्रायः ॥९॥

ब्रह्ममें, जो ज्येय—बड़ा अर्थात् सबसे महान् है उस अपने मुख्य आत्मामें स्थित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वह फिर संसारको प्राप्त नहीं होता। 'अमृतत्वं हि विन्दते' इस वाक्यद्वारा पहले ब्रह्मविद्याका फल कह भी दिया है, तो भी इस वाक्यद्वारा उसका अन्तमें फिर उपसंहार करते हैं। 'अनन्त' ऐसा विशेषण होनेके कारण 'स्वर्गे लोके' से देवलोक नहीं समझना चाहिये; क्योंकि उसमें भी उपचारसे 'अनन्त' शब्दकी प्रवृत्ति हो सकती है इसलिये 'ज्येये' यह विशेषण दिया गया है ॥ ९ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

केनोपनिषत्पदभाष्यम्

सम्पूर्णम्

वाक्य-भाष्य

परे ब्रह्मणि ज्येये महति सर्वमहत्तरे प्रतितिष्ठति सर्ववेदान्तवेद्यं ब्रह्मात्मत्वेनावगम्य तदेव ब्रह्म प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

ज्येष्ठ—महान् यानी सबसे बड़े परब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो जाता है। अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंसे वेद्य ब्रह्मको आत्मभावसे जानकर उसी ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

केनोपनिषद्वाक्यभाष्यम्

सम्पूर्णम्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥



श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका



ॐ

कठोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९२ से १९९७ तक १०, २५०
सं० १९९९ चतुर्थ संस्करण ३०००
सं० २००२ पञ्चम संस्करण ३०००

मूल्य ॥-) नौ आना

प्राक्कथन

कठोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदकी कठशाखाके अन्तर्गत है। इसमें यम और नचिकेताके संवादरूपसे ब्रह्मविद्याका बड़ा विशद वर्णन किया गया है। इसकी वर्णनशैली बड़ी ही सुबोध और सरल है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी इसके कई मन्त्रोंका कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः उल्लेख है। इसमें, अन्य उपनिषदोंकी भाँति जहाँ तत्त्वज्ञानका गम्भीर विवेचन है वहाँ नचिकेताका चरित्र पाठकोंके सामने एक अनुपम आदर्श भी उपस्थित करता है। जब वे देखते हैं कि पिताजी जीर्ण-शीर्ण गौएँ तो ब्राह्मणोंको दान कर रहे हैं और दूध देनेवाली पुष्ट गायें मेरे लिये रख छोड़ी हैं तो बाल्यावस्था होनेपर भी उनकी पितृभक्ति उन्हें चुप नहीं रहने देती और वे बालसुलभ चापल्य प्रदर्शित करते हुए वाजश्रवासे पूछ बैठते हैं—'तत कस्मै मां दास्यसि' (पिताजी ! आप मुझे किसको देंगे ?) उनका यह प्रश्न ठीक ही था; क्योंकि विश्वजित् यागमें सर्वस्वदान किया जाता है, और ऐसे सत्पुत्रका दान किये बिना वह पूर्ण नहीं हो सकता था। वस्तुतः सर्वस्वदान तो तभी हो सकता है जब कोई वस्तु 'अपनी' न रहे और यहाँ अपने पुत्रके मोहसे ही ब्राह्मणोंको निकम्मी और निरर्थक गौएँ दी जा रही थीं; अतः इस मोहसे पिताका उद्धार करना उनके लिये उचित ही था।

इसी तरह कई बार पूछनेपर जब वाजश्रवाने खीझकर कहा कि मैं तुझे मृत्युको दूँगा, तो उन्होंने यह जानकर भी कि पिताजी क्रोधवश ऐसा कह गये हैं, उनके कथनकी उपेक्षा नहीं की। महाराज! दशरथने वस्तुस्थितिको बिना समझे ही कैकेयीको वचन दिये थे; किन्तु भगवान् रामने उनकी गम्भीरताका निर्णय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी। जिस समय द्रौपदीके स्वयंवरमें अर्जुनने मत्स्यवेध किया और पाण्डवलोग द्रौपदीको लेकर अपने निवास-स्थानपर आये उस समय माता कुन्तीने बिना जाने-बूझे घरके भीतरसे ही कह दिया था कि 'सब भाई मिलकर भोगो'। माताकी यह उक्ति सर्वथा लोकविरुद्ध और भ्रान्तिजनित थी, परन्तु मातृभक्त पाण्डवोंको उसका अक्षरशः पालन ही अभीष्ट हुआ। ऐसा ही प्रसङ्ग नचिकेताके सामने उपस्थित हुआ और उन्होंने भी अपने पिताके वचनकी रक्षाके लिये उनके मोहजनित वात्सल्य और अपने ऐहिक जीवनको सत्यकी वेदीपर निछावर कर दिया।

हमारे बहुत-से भाइयोंको इस प्रकारके अनभिप्रेत और अनर्गल कथनकी मर्यादा रखनेके लिये इतना सरदर्द मोल लेना कोरी भूल और भोलापन ही जान पड़ेगा। किन्तु उन्हें इसका रहस्य समझनेके लिये कुछ गम्भीर विचारकी आवश्यकता है। योगदर्शनके साधन-पादमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच यमोंका नाम-निर्देश करनेके अनन्तर ही कहा है—'जातिदेशकाल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' (यो० सू० २।३१) अर्थात् जाति, देश, काल और कर्त्तव्यानुरोधकी अपेक्षा न करते हुए इनका सर्वथा पालन करना महाव्रत है तथा जाति, देश और कालादिकी अपेक्षासे पालन करना अल्पव्रत कहलाता है। इनमें अल्पव्रतमें ही लोकाचार, सुविधा और हानि-लाभ आदिके विचारकी गुंजाइश है। उसे हम व्यावहारिक धर्म कह सकते हैं। वह किसी विशेष सिद्धिका कारण नहीं हो सकता; सिद्धियोंकी प्राप्ति तो महाव्रतसे ही होती है। योगदर्शनमें इससे आगे जो भिन्न-भिन्न यम-नियमादिकी प्रतिष्ठासे भिन्न-भिन्न सिद्धियोंकी प्राप्ति बतलायी है वह महाव्रतीको ही हो सकती है। इस प्रकारका महाव्रत, व्यवहारी लोगोंकी दृष्टिमें

भले ही व्यर्थ आग्रह और मानसिक सङ्कीर्णता जान पड़े तथापि वह परिणाममें सर्वदा मङ्गलमय ही होता है। भगवान् रामका वनवास, परशुरामजीका मातृवध, पूरुका यौवनदान तथा पाँच पाण्डवोंका एक ही द्रौपदीके साथ पाणिग्रहण करना—ये सब प्रसङ्ग इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। ऐसा ही नचिकेताके साथ भी हुआ। उनका यमलोक-गमन उन्हींके लिये नहीं उनके पिताके लिये और सारे संसारके लिये भी कल्याणकर ही हुआ।

यमलोकमें पहुँचनेपर भी जबतक यमराजसे उनकी भेंट नहीं हुई तबतक उन्होंने अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं किया। इससे भी उनकी प्रौढ सत्यनिष्ठाका पता लगता है। उनका शरीर यमराजको दान दिया जा चुका था, अतः अब उसपर यमराजका ही पूर्ण अधिकार था; उनका तो सबसे पहला कर्तव्य यही था कि वे उसे धर्मराजको सौंप दें। इसीसे वे भोजनाच्छादनादिकी चिन्ता छोड़कर यमराजके द्वारपर ही पड़े रहे। तीन दिन पश्चात् जब यमराज आये तो उन्होंने उन्हें एक-एक दिनके उपवासके लिये एक-एक वर दिया। इससे अतिथिसत्कारका महत्त्व प्रकट होता है। अतिथिकी उपेक्षा करनेसे कितनी हानि होती है—यह बात यहाँ (अ० १ व० १ मं० ७, ८ में) स्पष्टतया बतलायी गयी है।

इसपर नचिकेताने यमराजसे जो तीन वर माँगे हैं उनके क्रममें भी एक अद्भुत रहस्य है। उनका पहला वर था पितृपरितोष। वे पिताके सत्यकी रक्षाके लिये उनकी इच्छाके विरुद्ध यमलोकको चले आये थे। इससे उनके पिता स्वभावतः बहुत खिन्न थे। इसलिये उन्हें सबसे पहले यही आवश्यक जान पड़ा कि उन्हें शान्ति मिलनी चाहिये। यह नियम है कि यदि हमारे कारण किसी व्यक्तिको खेद हो तो, जबतक हम उसका खेद निवृत्त न कर देंगे, हमें भी शान्ति नहीं मिल सकती। यह नियम मनुष्यमात्रके लिये समान है; और यहाँ तो स्वयं उनके पूज्य पिताको ही खेद था; इसलिये सबसे पहले उनकी शान्ति अभीष्ट होनी ही चाहिये थी। यह पितृपरितोष उनकी इष्ट शान्तिका कारण था, इसलिये सबसे पहले उन्होंने यही वर माँगा।

लौकिक शान्तिके पश्चात् मनुष्यको स्वभावसे ही पारलौकिक सुखकी इच्छा होती है; यहाँतक कि जब वह अधिक प्रबल हो जाती है तो वह ऐहिक सुखकी कुछ भी परवा नहीं करता। इसीलिये नचिकेताने भी दूसरे वरसे पारलौकिक सुख यानी स्वर्गलोककी प्राप्तिका साधनभूत अग्निविज्ञान माँगा; किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे स्वर्गसुखके इच्छुक थे। जिस प्रकार उनके पहले वरमें पिताकी शान्तिकामना थी उसी प्रकार इसमें मनुष्यमात्र-की हितचिन्ता थी। सबके हितमें उनका भी हित था ही। वे स्वयं स्वर्गसुखके लिये लालायित नहीं थे। यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है जब यमराजके यह कहनेपर कि—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥
(१ । १ । २५)

वे कहते हैं—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥
(अ० १ व० १)

उपर्युक्त उद्धरणोंसे उनकी तीव्र जिज्ञासा और आत्मदर्शनकी अनवरत पिपासा स्पष्ट प्रतीत होती है। इसीसे प्रेरित होकर उन्होंने

तृतीय वर माँगा था। यमराजने उनकी जिज्ञासाकी परीक्षाके लिये उन्हें तरह-तरहके प्रलोभन दिये और बड़े-बड़े मनोमोहक सब्ज़बाग दिखलाये परन्तु आत्मामृतके लिये लालायित नचिकेताने उनपर कोई दृष्टि न देकर यही कहा 'वरस्तु मे वरणीयः स एव' 'नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते' इत्यादि।

इस प्रकार, जब यमराजने देखा कि वे लौकिक और पारलौकिक भोगोंसे सर्वथा उदासीन हैं, उनमें पूर्ण विवेक विद्यमान है, वे शम-दमादि साधनोंसे सर्वथा सम्पन्न हैं और उनमें तीव्र मुमुक्षाकी प्रच्छन्न अग्नि तेज़ीसे धधक रही है तो उन्हें उनकी शान्तिके लिये ज्ञानामृतकी वर्षा करनी पड़ी। वह ज्ञानवर्षा ही सम्पूर्ण लोकोंका कल्याण करनेके लिये आज भी कठोपनिषद्के रूपमें विद्यमान है। परन्तु उससे विशुद्ध बोधरूप अंकुर तो उसी हृदयमें प्रस्फुटित हो सकता है जो नचिकेताके समान साधनचतुष्टयसम्पन्न है। परम उदार पयोधर जल तो सभी जगह बरसाते हैं परन्तु उससे परिणाम भिन्न-भिन्न भूमियोंके योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न होता है। ठीक यही बात शास्त्रोपदेशके विषयमें भी है। शास्त्रकृपा और ईश्वरकृपा तो सभीपर समान है परन्तु आत्मकृपाकी न्यूनाधिकताके कारण उससे होनेवाले परिणामोंमें अन्तर रहता है।

हम उस अनुपम अमृतका पानकर अमर जीवन प्राप्त कर सकें—ऐसी तीव्र आकांक्षासे हमें उससे लाभान्वित होनेकी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये; क्योंकि 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' (के० उ० २। ५) इस श्रुतिके अनुसार इस मानवजीवनका परमलाभ आत्मामृतकी प्राप्ति ही है। इसलिये इसकी प्राप्ति ही हमारा प्रथम कर्तव्य है। भगवान्से प्रार्थना है कि वे हमें उसकी प्राप्तिकी योग्यता प्रदान करें। —अनुवादक



श्रीहरिः

विषय-सूची



द्वितीय अध्याय



यम और नचिकेता

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

कठोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
सर्वभावपदातीतं स्वात्मानं तं स्मराम्यहम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य) दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करें । हम दोनोंका साथ-साथ पालन करें । हम साथ-साथ विद्या-सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें । हम दोनोंका पढ़ा हुआ तेजस्वी हो । हम द्वेष न करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।



सम्बन्ध-भाष्य

ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च ।

ॐ ब्रह्मविद्याके आचार्य सूर्य-पुत्र भगवान् यम और नचिकेताको नमस्कार है ।

अथ काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थम् अल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते ।

अब कठोपनिषद्की वल्लियोंको सुगमतासे समझानेके लिये इस संक्षिप्त वृत्तिका आरम्भ किया जाता है।

उपनिषच्छब्दार्थ-निरुक्तिः

सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति । उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते । केन पुनरर्थयोगेन उपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते ।

विशरण (नाश), गति और अवसादन (शिथिल करना)—इन तीन अर्थोंवाली तथा 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक एवं 'क्विप्' प्रत्ययान्त 'सद्' धातुका 'उपनिषद्' यह रूप बनता है । उपनिषद् शब्दसे, जिस ग्रन्थकी हम व्याख्या करना चाहते हैं उसके प्रतिपाद्य और वेद्य ब्रह्मविषयक विद्याका प्रतिपादन किया जाता है । किस अर्थका योग होनेके कारण उपनिषद् शब्दसे विद्याका कथन होता है, सो बतलाते हैं ।

ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः

जो मोक्षकामी पुरुष लौकिक और पारलौकिक विषयोंसे विरक्त होकर उपनिषद् शब्दकी वाच्य तथा आगे कहे जानेवाले लक्षणोंसे युक्त विद्याके समीप जाकर अर्थात् उसे प्राप्त कर उसीकी निष्ठासे निश्चय-पूर्वक उसका परिशीलन करते हैं

संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद् विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्या उपनिषदित्युच्यते । तथा च वक्ष्यति—"निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" (क० उ० १ । ३ । १५) इति ।

उनके अविद्या आदि संसारके बीजका विशरण—हिंसन अर्थात् विनाश करनेके कारण इस अर्थके योगसे ही 'उपनिषद्' शब्दसे वह विद्या कही जाती है। ऐसा ही आगे श्रुति कहेगी भी कि "उसे साक्षात् जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है।"

पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषद् । तथा च वक्ष्यति—"ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः" (क० उ० २ । ३ । १८) इति ।

अथवा पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त मुमुक्षुओंको ब्रह्मविद्या परब्रह्मके पास पहुँचा देती है—इस प्रकार ब्रह्मके पास पहुँचानेवाली होनेके कारण इस अर्थके योगसे भी ब्रह्मविद्या 'उपनिषद्' है। ऐसा ही "ब्रह्मको प्राप्त हुआ पुरुष विरज (शुद्ध) और विमृत्यु (अमर) हो गया" इस वाक्यसे श्रुति आगे कहेगी भी ।

लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थ-

जो अग्नि भूः, भुवः आदि लोकोंसे पूर्वसिद्ध, ब्रह्मासे उत्पन्न और ज्ञाता है उससे सम्बन्ध रखनेवाली विद्या, जो कि दूसरे वरसे माँगी गयी है, और स्वर्गलोकरूप फलकी प्राप्तिके कारणरूपसे लोकान्तरोंमें पुनः-पुनः प्राप्त होनेवाले गर्भवास, जन्म और वृद्धावस्था आदि उपद्रवसमूहका अवसादन अर्थात् शैथिल्य करनेवाली है, अतः वह अग्निविद्या भी 'सद्' धातुके

योगादग्निविद्याप्युपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—"स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते" (क० उ० १।१।१३) इत्यादि।

ननु चोपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति। उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च।

एवं नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसम्भवाद्विद्यायां च सम्भवात्। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः, आयुर्वै घृतमित्यादिवत्। तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति।

एवमुपनिषन्निर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायामुक्तः। विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं

अर्थके योगसे 'उपनिषद्' कही जाती है। "स्वर्गलोकको प्राप्त होनेवाले पुरुष अमरत्व प्राप्त करते हैं" ऐसा आगे कहेंगे भी।

शङ्का—किन्तु अध्ययन करनेवाले तो 'उपनिषद्' शब्दसे ग्रन्थका भी उल्लेख करते हैं, जैसे—'हम उपनिषद् पढ़ते हैं अथवा पढ़ाते हैं' इत्यादि।

समाधान—ऐसा कहना भी दोषयुक्त नहीं है। संसारके हेतुभूत अविद्या आदिके विशरण आदि जो कि 'सद्' धातुके अर्थ हैं, ग्रन्थमात्रमें तो सम्भव नहीं हैं किन्तु विद्यामें सम्भव हो सकते हैं। ग्रन्थ भी विद्याके ही लिये है; इसलिये वह भी उस शब्दसे कहा जा सकता है; जैसे [आयुवृद्धिमें उपयोगी होनेके कारण] 'घृत आयु ही है' ऐसा कहा जाता है। इसलिये 'उपनिषद्' शब्द विद्यामें मुख्य वृत्तिसे प्रयुक्त होता है तथा ग्रन्थमें गौणी वृत्तिसे।

इस प्रकार 'उपनिषद्' शब्दका निर्वचन करनेसे ही विद्याका विशिष्ट अधिकारी बतला दिया गया। तथा विद्याका प्रत्यगात्मस्वरूप पर-

ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम् । प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा सम्बन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः । अतो यथोक्ताधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत् प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धा एता वल्ल्यो भवन्ति इत्यतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे ।

ब्रह्मरूप विशिष्टविषय भी कह दिया । इसी प्रकार इस उपनिषद्का संसारकी आत्यन्तिक निवृत्ति और ब्रह्मप्राप्तिरूप प्रयोजन तथा इस प्रकारके प्रयोजनसे इसका [साध्य-साधनरूप] सम्बन्ध भी बतला दिया । अतः उपर्युक्त अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्धवाली विद्याको करामलकवत् प्रकाशित करनेवाली होनेसे ये कठोपनिषद्की वल्लियाँ विशिष्ट अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्धवाली हैं, सो हम उनकी यथामति व्याख्या करते हैं ।



प्रथम अध्याय

प्रथमा वल्ली

वाजश्रवसका दान

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

प्रसिद्ध है कि यज्ञफलके इच्छुक वाजश्रवाके पुत्रने [विश्वजित् यज्ञमें] अपना सारा धन दे दिया। उसका नचिकेता नामक एक प्रसिद्ध पुत्र था ॥ १ ॥

तत्राख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था। उशन्कामयमानः, ह वा इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ निपातौ। वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य स वाजश्रवा रूढितो वा। तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः। स तस्मिन्क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान्।

यहाँ जो आख्यायिका है वह विद्याकी स्तुतिके लिये है। उशन् अर्थात् कामनावाला। 'ह' और 'वै' ये निपात पहले बीते हुए वृत्तान्तको स्मरण करानेके लिये हैं। 'वाज' अन्नको कहते हैं; उसके दानादिके कारण जिसका श्रव यानी यश हो उसे वाजश्रवा कहते हैं; अथवा रूढिसे भी यह उसका नाम हो सकता है। उस वाजश्रवाके पुत्र वाजश्रवसने, जिसमें सर्वस्व समर्पण किया जाता है उस विश्वजित् यज्ञद्वारा उसके फलकी इच्छासे यजन किया। उस यज्ञमें उसने सर्ववेदस् यानी अपना

तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किलास बभूव ॥ १ ॥

सारा धन दे डाला। कहते हैं, उस यजमानका नचिकेता नामक पुत्र था ॥ १ ॥

तꣳह कुमारꣳसन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा-
विवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

जिस समय दक्षिणाएँ (दक्षिणास्वरूप गौएँ) ले जायी जा रही थीं, उसमें—यद्यपि अभी वह कुमार ही था—श्रद्धा (आस्तिक्यबुद्धि) का आवेश हुआ। वह सोचने लगा ॥ २ ॥

तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तजननशक्तिं बालमेव श्रद्धास्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ताविवेश प्रविष्टवती। कस्मिन्काल इत्याह—ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्टश्रद्धो नचिकेता अमन्यत ॥ २ ॥

जो कुमार अर्थात् प्रथम अवस्थामें ही स्थित है और जिसे पुत्रोत्पादनकी शक्ति प्राप्त नहीं हुई, उस बालक नचिकेतामें श्रद्धाका अर्थात् पिताकी हितकामनासे प्रयुक्त आस्तिक्यबुद्धिका आवेश—प्रवेश हुआ। किस समय प्रवेश हुआ? इसपर कहते हैं—जिस समय ऋत्विक् और सदस्योंके लिये दक्षिणाएँ लायी जा रही थीं अर्थात् दक्षिणाके लिये विभाग करके गौएँ लायी जा रही थीं, उस समय नचिकेताने श्रद्धाविष्ट होकर विचार किया ॥२॥

कथमित्युच्यते—

किस प्रकार विचार किया सो बतलाते हैं—

नचिकेताकी शङ्का

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥३॥

जो जल पी चुकी हैं, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमें प्रजननशक्तिका भी अभाव हो गया है उन गौओंका दान करनेसे वह दाता, जो अनन्द (आनन्दशून्य) लोक हैं उन्हींको जाता है ॥ ३ ॥

दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते पीतमुदकं याभिस्ताः पीतोदकाः, जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः, दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः, निरिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः । यास्ता एवंभूता गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्ध्या ददत्प्रयच्छन्ननन्दा अनानन्दा असुखा नामेत्येतद्ये ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति ॥ ३ ॥

दक्षिणाके लिये लायी हुई गौओंका विशेषण बतलाते हैं; जिन्होंने जल पी लिया है, वे पीतोदका कहलाती हैं, जो तृण (घास) खा चुकी हैं [अर्थात् जिनमें और घास खानेकी शक्ति नहीं रही है] वे जग्धतृणा हैं, जिनका क्षीर नामक दोह दुहा जा चुका है वे दुग्धदोहा हैं तथा निरिन्द्रिया—जो सन्तान उत्पन्न करनेमें असमर्था अर्थात् बूढ़ी और निष्फल गौएँ हैं उन इस प्रकारकी गौओंको दक्षिणा-बुद्धिसे देनेवाला यजमान जो अनन्द अर्थात् सुखहीन लोक हैं उन्हींको जाता है ॥ ३ ॥

पिता-पुत्र-संवाद

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयं तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

तब वह अपने पितासे बोला—'हे तात! आप मुझे किसको देंगे?' इसी प्रकार उसने दुबारा-तिबारा भी कहा। तब पिताने उससे 'मैं तुझे मृत्युको दूँगा' ऐसा कहा ॥ ४ ॥

तदेवं क्रत्वसम्पत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयमात्मप्रदानेनापि क्रतुसम्पत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरम् उपगम्य स होवाच पितरं हे तत तात कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि प्रयच्छसीत्येतत्। एवमुक्तेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति। नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन्पिता तं ह पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥४॥

तब इस प्रकार यज्ञकी पूर्णता न होनेके कारण पिताको प्राप्त होनेवाला अनिष्ट फल मुझ-जैसे सत्पुत्रको आत्मबलिदान करके भी निवृत्त करना चाहिये—ऐसा मानकर वह पिताके समीप जाकर बोला—'हे तात! आप मुझे किस ऋत्विग्विशेषको दक्षिणामें देंगे?' इस प्रकार कहनेपर पिताद्वारा बारम्बार उपेक्षा किये जानेपर भी उसने दूसरे-तीसरे बार भी यही बात कही कि 'मुझे किसको देंगे? मुझे किसको देंगे?' तब पिता यह सोचकर कि यह बालकोंके-से स्वभाववाला नहीं है, क्रोधित हो गया और उस पुत्रसे बोला—'मैं तुझे सूर्यके पुत्र मृत्युको देता हूँ' ॥४॥

स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयाञ्चकार। कथम्? इत्युच्यते—

पिताद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर वह पुत्र एकान्तमें अनुताप करने लगा, किस प्रकार? सो बतलाते हैं—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किᳬंस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

मैं बहुत-से [शिष्य या पुत्रों] में तो प्रथम (मुख्य वृत्तिसे) चलता हूँ और बहुतोंमें मध्यम (मध्यम वृत्तिसे) जाता हूँ । यमका ऐसा क्या कार्य है जिसे पिता आज मेरेद्वारा सिद्ध करेंगे ॥ ५ ॥

बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः । मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्यैमि । नाधमया कदाचिदपि । तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्तवान् पिता । स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रत्तेन करिष्यति यत्कर्तव्यमद्य ? नूनं प्रयोजनम् अनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान् पिता । तथापि तत्पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ॥५॥

मैं बहुत-से शिष्य अथवा पुत्रोंमें तो प्रथम अर्थात् आगे रहकर मुख्य शिष्यादि वृत्तिसे चलता हूँ तथा बहुत-से मध्यम शिष्यादिमें मध्यम रहकर मध्यम वृत्तिसे वर्तता हूँ । अधम वृत्तिसे मैं कभी नहीं रहता । उस ऐसे विशिष्ट-गुणसम्पन्न पुत्रको भी पिताने 'मैं तुझे मृत्युको देता हूँ' ऐसा कहा । परन्तु यमका ऐसा कौन-सा कर्तव्य—प्रयोजन इन्हें पूर्ण करना है जिसे ये इस प्रकार दिये हुए मेरेद्वारा सिद्ध करेंगे ? अवश्य किसी प्रयोजनकी अपेक्षा न करके ही पिताने क्रोधवश ऐसा कहा है । तथापि 'पिताका वचन मिथ्या न हो' ऐसा विचारकर उसने अपने पितासे, जो यह सोचकर कि 'मैंने क्या कह डाला ?' शोकातुर हो रहे थे, खेदपूर्वक कहा ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

जिस प्रकार पूर्वपुरुष व्यवहार करते थे उसका विचार कीजिये तथा जैसे वर्तमानकालिक अन्य लोग प्रवृत्त होते हैं उसे भी देखिये। मनुष्य खेतीकी तरह पकता (वृद्ध होकर मर जाता) है और खेतीकी भाँति फिर उत्पन्न हो जाता है ॥ ६ ॥

सन्मार्गः सदैव सेवनीयः

अनुपश्यालोचय निभालय अनुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वे अतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव । तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुमर्हसि । वर्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्यालोचय तथा न च तेषु मृषाकरणं वृत्तं वर्तमानं वास्ति । तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषाकरणम् । न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति । यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते । मृत्वा च सस्यमिव आजायत आविर्भवति पुनरेवमनित्ये जीव-

आपके पिता-पितामह आदि पुरुष अनुक्रमसे जिस प्रकार आचरण करते आये हैं उसकी आलोचना कीजिये—उसपर दृष्टि डालिये। उन्हें देखकर आपको उन्हींके आचरणोंका पालन करना चाहिये। तथा वर्तमानकालिक जो दूसरे साधुलोग आचरण करते हैं उनकी भी आलोचना कीजिये। उनमेंसे किसीका भी आचरण अपने कथनको मिथ्या करना नहीं था और न इस समय ही किसीका है। इसके विपरीत असत्पुरुषोंका आचरण मिथ्या करना ही है। किन्तु अपने आचरणको मृषा करके कोई अजर-अमर नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्य खेतीकी तरह पकता अर्थात् जीर्ण होकर मर जाता है, तथा मरकर खेतीके समान पुनः उत्पन्न—आविर्भूत हो जाता है। इस प्रकार इस अनित्य जीवलोकमें

लोके किं मृषाकरणेन । पालय आत्मनः सत्यम् । प्रेषय मां यमाय इत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

असत्य आचरणसे लाभ ही क्या है ? अतः अपने सत्यका पालन कीजिये अर्थात् मुझे यमराजके पास भेजिये ॥ ६ ॥

यमलोकमें नचिकेता

स एवमुक्तः पितात्मनः सत्यतायै प्रेषयामास । स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीः उवास यमे प्रोषिते । प्रोष्यागतं यमममात्या भार्या वा ऊचुर्बोधयन्तः—

पुत्रके इस प्रकार कहनेपर पिताने अपनी सत्यताकी रक्षाके लिये उसे यमराजके पास भेज दिया । वह यमराजके घर पहुँचकर तीन रात्रि टिका रहा, क्योंकि यम उस समय बाहर गये हुए थे । प्रवाससे लौटनेपर यमराजसे उनकी भार्या अथवा मन्त्रियोंने समझाते हुए कहा—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताꣳशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मण-अतिथि होकर अग्नि ही घरोंमें प्रवेश करता है । [साधु पुरुष] उस अतिथिकी यह [अर्घ्य-पाद्य-दानरूपा] शान्ति किया करते हैं । अतः हे वैवस्वत ! [इस ब्राह्मण-अतिथिकी शान्तिके लिये] जल ले जाइये ॥ ७ ॥

वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात् प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराहर हे वैवस्वत

ब्राह्मण-अतिथिके रूपमें साक्षात् वैश्वानर—अग्नि ही दग्ध करता हुआ-सा घरोंमें प्रवेश करता है । उस अग्निके दाहको मानो शान्त करते हुए ही साधु-गृहस्थजन यह पाद्यादि दानरूप शान्ति किया करते हैं । अतः हे वैवस्वत !

उदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम्। यत- श्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥ ७॥

नचिकेताको पाद्य देनेके लिये जल ले जाइये। क्योंकि ऐसा न करनेमें प्रत्यवाय सुना जाता है ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे संगतꣳसूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

जिसके घरमें ब्राह्मण-अतिथि बिना भोजन किये रहता है उस मन्दबुद्धि पुरुषकी ज्ञात और अज्ञात वस्तुओंकी प्राप्तिकी इच्छाएँ, उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाले फल, प्रिय वाणीसे होनेवाले फल, यागादि इष्ट एवं उद्यानादि पूर्त कर्मोंके फल तथा समस्त पुत्र और पशु आदिको वह नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

अतिथ्युपेक्षणे दोषाः

आशाप्रतीक्षेऽनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थना आशा निर्ज्ञातप्राप्यार्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशाप्रतीक्षे, संगतं तत्संयोगजं फलम्, सूनृतां च सूनृता हि प्रिया वाक्तन्निमित्तं च, इष्टापूर्ते इष्टं यागजं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम्, पुत्रपशूंश्च पुत्रांश्च पशूंश्च सर्वानितत्सर्वं यथोक्तं वृङ्क्त आवर्जयति विनाशयतीत्येतत्—पुरुषस्याल्पमेधसोऽल्पप्रज्ञस्य—यस्यानश्नन्नभुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे

जिसके घरमें ब्राह्मण बिना भोजन किये रहता है उस मन्दमति पुरुषके 'आशा-प्रतीक्षा'—आशा—जिनका कोई ज्ञान नहीं है उन प्राप्तव्य इष्ट पदार्थोंकी इच्छा तथा अपने प्राप्तव्य ज्ञात पदार्थोंकी प्रतीक्षा एवं संगत—उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाले फल, सूनृता—प्रिय वाणी और उससे होनेवाले फल 'इष्टापूर्त'—इष्ट—यागादिसे प्राप्त होनेवाले फल और पूर्त—बाग-बगीचोंके लगानेसे होनेवाले फल तथा पुत्र और पशु—इन उपर्युक्त सभीको नष्ट कर देता है। अतः तात्पर्य

वसति । तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्थास्वप्यतिथिरित्यर्थः ॥८॥

यह है कि अतिथि सभी अवस्थाओंमें अनुपेक्षणीय है ॥ ८ ॥

एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम्—

[मन्त्रियोंद्वारा] इस प्रकार कहे जानेपर यमराजने नचिकेताके पास जा उसकी पूजा करनेके अनन्तर कहा—

यमराजका वरप्रदान

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे
अनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥ ९ ॥

हे ब्रह्मन् ! तुम्हें नमस्कार हो; मेरा कल्याण हो । तुम नमस्कारयोग्य अतिथि होकर भी मेरे घरमें तीन रात्रितक विना भोजन किये रहे; अतः एक-एक रात्रिके लिये एक-एक करके मुझसे तीन वर माँग लो ॥ ९ ॥

तिस्रो रात्रीर्यद्यस्मादवात्सीः उषितवानसि गृहे मे ममानश्नन् हे ब्रह्मन्नतिथिः सन्नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु । हे ब्रह्मन्स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु तस्माद्भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ताद्दोषात्तत्प्राप्त्युपशमेन । यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात्तथापि त्वदधिक-

हे ब्रह्मन् ! क्योंकि अतिथि और नमस्कारयोग्य होकर भी तुम तीन रात्रितक विना कुछ भोजन किये मेरे घरमें रहे हो, अतः तुम्हें नमस्कार है । हे ब्रह्मन् ! मेरे घरमें विना भोजन किये आपके निवास करनेके निमित्तसे हुए दोषसे, उससे प्राप्त हुए अनिष्ट फलकी शान्तिद्वारा, मेरा मंगल—शुभ हो । यद्यपि आपकी कृपासे ही मेरा सब प्रकार कल्याण हो जायगा, तथापि

संप्रसादनार्थमनशनेनोपोषिताम् एकैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान् वृणीष्व अभिप्रेतार्थविशेषान् प्रार्थयस्व मत्तः ॥ ९ ॥

अपनी अधिक प्रसन्नताके लिये तुम बिना भोजन किये बितायी हुई एक-एक रात्रिके प्रति मुझसे तीन वर—अपने अभीष्ट पदार्थविशेष माँग लो ॥ ९ ॥

नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वरान्—

नचिकेताने कहा—यदि आप वर देना चाहते हैं तो—

प्रथम वर—पितृपरितोष

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्या-
द्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत
एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

हे मृत्यो ! जिससे मेरे पिता वाजश्रवस मेरे प्रति शान्तसङ्कल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायँ तथा आपके भेजनेपर मुझे पहचानकर बातचीत करें—यह मैं [आपके दिये हुए] तीन वरोंमेंसे पहला वर माँगता हूँ ॥ १० ॥

शान्तसंकल्प उपशान्तः संकल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद्वीतमन्युर्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता माभि मां प्रति हे मृत्यो किं च त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मामभिवदेत्प्रतीतो लब्ध-

जिस प्रकार मेरे पिता गौतम मेरे प्रति शान्तसङ्कल्प—जिनका ऐसा सङ्कल्प शान्त हो गया है कि 'न जाने मेरा पुत्र यमराजके पास जाकर क्या करेगा', सुमनाः—प्रसन्नचित्त और वीतमन्यु—क्रोधरहित हो जायँ और हे मृत्यो ! आपके भेजे हुए—घरकी ओर जानेके लिये छोड़े हुए मुझसे विश्वस्त—लब्धस्मृति होकर अर्थात्

स्मृतिः स एवायं पुत्रो ममागत इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः। एतत्प्रयोजनं त्रयाणां प्रथममाद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत्पितुः परितोषणम् ॥ १० ॥

ऐसा स्मरण करके कि यह मेरा वही पुत्र मेरे पास लौट आया है, सम्भाषण करें। यह अपने पिताकी प्रसन्नतारूप प्रयोजन ही मैं अपने तीन वरोंमेंसे पहला वर माँगता हूँ ॥ १० ॥

मृत्युरुवाच—

मृत्युने कहा—

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

मुझसे प्रेरित होकर अरुणपुत्र उद्दालक तुझे पूर्ववत् पहचान लेगा और शेष रात्रियोंमें सुखपूर्वक सोवेगा; क्योंकि तुझे मृत्युके मुखसे छूटकर आया हुआ देखेगा ॥ ११ ॥

यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात् पूर्वमासीत्स्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव प्रतीतवान्सन्नौद्दालकिः उद्दालक एवौद्दालकिः। अरुणस्यापत्यमारुणिः,द्व्यामुष्यायणो वा। मत्प्रसृष्टो मयानुज्ञातः

तेरे पिताकी बुद्धि जिस प्रकार पहले तेरे प्रति स्नेहयुक्ता थी उसी प्रकार वह औद्दालकि अब भी प्रीतियुक्त होकर तेरे प्रति विश्वस्त हो जायगा। यहाँ उद्दालकको ही 'औद्दालकि' कहा है तथा अरुणका पुत्र होनेसे वह आरुणि है। अथवा यह भी हो सकता है कि वह द्व्यामुष्यायण* हो। 'मत्प्रसृष्टः'

* जो एक ही पुत्र दो पिताओंद्वारा संकेत करके अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया जाता है वह 'द्व्यामुष्यायण' कहलाता है। वह अकेला ही दोनों पिताओंकी सम्पत्तिका स्वामी और उन्हें पिण्डदान करनेका अधिकारी होता है। जैसे पुत्ररूपसे स्वीकार किया हुआ पुत्रीका पुत्र अथवा अन्य दत्तक पुत्र आदि। अतः अकेले वाजश्रवसको ही औद्दालकि और आरुणि कहनेसे यह सम्भव है कि वह उद्दालक और अरुण दो पिताओंका उत्तराधिकारी हो।

सन् इतरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान्दृष्टवान्सन् मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात् प्रमुक्तं सन्तम् ॥ ११ ॥

अर्थात् मुझसे आज्ञप्त होकर वह शेष रात्रियोंमें भी सुखपूर्वक यानी प्रसन्न चित्तसे शयन करेगा तथा [यह सोचकर] वीतमन्यु—क्रोधहीन हो जायगा कि तुझ पुत्रको मृत्युके मुखसे अर्थात् मृत्युके अधिकारसे मुक्त हुआ देखा है ॥११॥

नचिकेता उवाच— | नचिकेता बोला—

स्वर्गस्वरूपप्रदर्शन

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

हे मृत्युदेव ! स्वर्गलोकमें कुछ भी भय नहीं है । वहाँ आपका भी वश नहीं चलता । वहाँ कोई वृद्धावस्थासे भी नहीं डरता । स्वर्गलोकमें पुरुष भूख-प्यास—दोनोंको पार करके शोकसे ऊपर उठकर आनन्दित होता है ॥ १२ ॥

स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किंचन किंचिदपि नास्ति । न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह लोकवत्त्वत्तो न बिभेति कुतश्चित् तत्र । किंचोभे अशनायापिपासे तीर्त्वातिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्

स्वर्गलोकमें रोगादिके कारण होनेवाला भय तनिक भी नहीं है । हे मृत्यो ! वहाँ आपकी भी सहसा दाल नहीं गलती । अतः इस लोकके समान वहाँ वृद्धावस्थासे युक्त होकर कोई पुरुष आपसे कहीं नहीं डरता । बल्कि पुरुष भूख-प्यास दोनोंको पार करके, जो शोकका अतिक्रमण कर जाय ऐसा

मानसेन दुःखेन वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥१२॥

शोकातीत होकर—मानसिक दुःखसे छुटकारा पाकर उस दिव्य स्वर्गलोकमें आनन्दित होता है ॥१२॥

द्वितीय वर—स्वर्गसाधनभूत अग्निविद्या

स त्वमग्निꣳस्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो
प्रब्रूहि त्वꣳश्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त
एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

हे मृत्यो! आप स्वर्गके साधनभूत अग्निको जानते हैं, सो मुझ श्रद्धालुके प्रति उसका वर्णन कीजिये, [जिसके द्वारा] स्वर्गको प्राप्त हुए पुरुष अमृतत्व प्राप्त करते हैं। दूसरे वरसे मैं यही माँगता हूँ ॥ १३ ॥

एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स त्वं मृत्युरध्येषि स्मरसि जानासि इत्यर्थः, हे मृत्यो यतस्त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने; येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोकाः यजमाना अमृतत्वम् अमरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥ १३ ॥

हे मृत्यो! क्योंकि आप ऐसे गुणवाले स्वर्गलोककी प्राप्तिके साधनभूत अग्निको स्मरण रखते यानी जानते हैं, अतः मुझ स्वर्गार्थी श्रद्धालुके प्रति उसका वर्णन कीजिये; जिस अग्निका चयन करनेसे स्वर्गको प्राप्त करनेवाले पुरुष अर्थात् स्वर्ग ही जिनका लोक है ऐसे यजमानगण अमृतत्व—अमरता अर्थात् देवभावको प्राप्त हो जाते हैं। इस अग्निविज्ञानको मैं दूसरे वरद्वारा माँगता हूँ ॥१३॥

मृत्योः प्रतिज्ञेयम्— | यह मृत्युकी प्रतिज्ञा है—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

हे नचिकेतः ! उस स्वर्गप्रद अग्निको अच्छी तरह जाननेवाला मैं तेरे प्रति उसका उपदेश करता हूँ। तू उसे मुझसे अच्छी तरह समझ ले। इसे तू अनन्तलोककी प्राप्ति करानेवाला, उसका आधार और बुद्धिरूपी गुहामें स्थित जान ॥ १४ ॥

प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि; यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन्स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन्विज्ञातवानहं सन्नित्यर्थः। प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम्।

हे नचिकेतः ! जिसके लिये तुमने प्रार्थना की थी उस स्वर्ग्य—स्वर्गप्राप्तिमें हितावह अर्थात् स्वर्गके साधनरूप अग्निको तू एकाग्रचित्त होकर मेरे वचनसे अच्छी तरह समझ ले, उसे सम्यक् प्रकारसे जाननेवाला—उसका विशेषज्ञ मैं तेरे प्रति उसका वर्णन करता हूँ। 'मैं कहता हूँ' 'तू उसे समझ ले' ये वाक्य शिष्यकी बुद्धिको समाहित करनेके लिये हैं।

अधुनाग्निं स्तौति। अनन्तलोकाप्तिं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनम् इत्येतत्, अथो अपि प्रतिष्ठाम् आश्रयं जगतो विराड्रूपेण, तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ॥ १४ ॥

अब उस अग्निकी स्तुति करते हैं। जो अनन्तलोकाप्ति अर्थात् स्वर्गलोकरूप फलकी प्राप्तिका साधन तथा विराट्रूपसे जगत्की प्रतिष्ठा—आश्रय है, मेरेद्वारा कहे हुए उस इस अग्निको तू गुहामें अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषोंकी बुद्धिमें स्थित जान ॥ १४ ॥

इदं श्रुतेर्वचनम्— | यह श्रुतिका वचन है—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै
या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

तब यमराजने लोकोंके आदिकारणभूत उस अग्निका तथा उसके चयन करनेमें जैसी और जितनी ईंटें होती हैं, एवं जिस प्रकार उसका चयन किया जाता है उन सबका नचिकेताके प्रति वर्णन कर दिया। और उस नचिकेताने भी जैसा उससे कहा गया था वह सब सुना दिया। इससे प्रसन्न होकर मृत्यु फिर बोला ॥ १५ ॥

लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितमुवाचोक्तवान् मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे। किं च या इष्टकाश्चेतव्याः स्वरूपेण, यावतीर्वा संख्यया, यथा वा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतद् उक्तवानित्यर्थः। स चापि नचिकेतास्तन्मृत्युनोक्तं यथावत्प्रत्ययेनावदत्प्रत्युच्चारितवान्। अथ तस्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन्मृत्युः पुनरेवाह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः ॥ १५ ॥

नचिकेताने जिसके लिये प्रार्थना की थी और जिसका प्रकरण चल रहा है प्रथम शरीरी होनेके कारण लोकोंके आदिभूत उस अग्निका यमने नचिकेताके प्रति वर्णन कर दिया। तथा स्वरूपतः जिस प्रकारकी और संख्यामें जितनी ईंटोंका चयन करना चाहिये एवं यथा यानी जिस तरह अग्निका चयन किया जाता है वह सब भी कह दिया। तथा उस नचिकेताने भी, जिस प्रकार उसे मृत्युने बताया था वह सब समझकर ज्यों-का-त्यों सुना दिया। तब उसके प्रत्युच्चारणसे प्रसन्न हो मृत्युने इन तीन वरोंके अतिरिक्त और भी वर देनेकी इच्छासे उससे फिर कहा ॥ १५ ॥

कथम्—

कैसे कहा [सो बतलाते हैं—]

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

महात्मा यमने प्रसन्न होकर उससे कहा—अब मैं तुझे एक वर और भी देता हूँ। यह अग्नि तेरे ही नामसे प्रसिद्ध होगा और तू इस अनेक रूपवाली मालाका ग्रहण कर ॥ १६ ॥

तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन्महात्माक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तमद्येदानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि । तवैव नचिकेतसो नाम्नाभिधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः । किं च सृङ्कां शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु । यद्वा सृङ्काम् अकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण । अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात्स्वीकुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

अपने शिष्यकी योग्यताको देखकर प्रसन्न हुए—प्रीतिका अनुभव करते हुए महात्मा—अक्षुद्रबुद्धि यमने नचिकेतासे कहा—अब मैं प्रसन्नताके कारण तुझे फिर भी यह चौथा वर और देता हूँ। मेरेद्वारा कहा हुआ यह अग्नि तुझ नचिकेताके ही नामसे प्रसिद्ध होगा तथा तू यह शब्द करनेवाली रत्नमयी, अनेकरूपा विचित्रवर्णा मालाका भी ग्रहण—स्वीकार कर। अथवा सृङ्का यानी कर्ममयी अनिन्दिता गतिका ग्रहण कर। तात्पर्य यह है कि इसके सिवा अनेक फलका कारण होनेसे तू मुझसे कर्मविज्ञानको और भी स्वीकृत कर ॥ १६ ॥

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाह—

यमराज फिर भी कर्मकी स्तुति ही करते हैं—

नाचिकेत अग्निचयनका फल

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं
त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा
निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेत अग्निका तीन बार चयन करनेवाला मनुष्य [माता, पिता और आचार्य—इन] तीनोंसे सम्बन्धको प्राप्त होकर जन्म और मृत्युको पार कर जाता है । तथा ब्रह्मसे उत्पन्न हुए, ज्ञानवान् और स्तुतियोग्य देवको जानकर और उसे अनुभव कर इस अत्यन्त शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा । त्रिभिर्मातृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य सन्धिं सन्धानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत् । तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तराद् अवगम्यते यथा "मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्" (बृ० उ० ४ । १ । २) इत्यादेः ।

जिसने तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन किया है उसे त्रिणाचिकेत कहते हैं । अथवा उसका ज्ञान अध्ययन और अनुष्ठान करनेवाला ही त्रिणाचिकेत है । वह त्रिणाचिकेत माता, पिता और आचार्य—इन तीनोंसे सन्धि—सन्धान यानी सम्बन्धको प्राप्त होकर अर्थात् यथाविधि माता आदिकी शिक्षाको प्राप्त कर; क्योंकि एक दूसरी श्रुतिसे, जैसा कि—"माता, पिता एवं आचार्यसे शिक्षित पुरुष कहे" इत्यादि श्रुतिसे जाना जाता है, उनकी शिक्षा ही धर्मज्ञानकी प्रामाणिकतामें हेतु मानी गयी है,

वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा, तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा, त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू ।

अथवा वेद, स्मृति और शिष्ट पुरुषोंसे या प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे [सम्बन्ध प्राप्त करके] यज्ञ, अध्ययन और दान—इन तीन कर्मोंको करनेवाला पुरुष जन्म और मृत्युको तर जाता है—उन्हें पार कर लेता है; क्योंकि उन (वेदादि अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणों) से स्पष्ट ही शुद्धि होती देखी है ।

किं च ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः । ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ । तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चात्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिम् उपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति । वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

तथा 'ब्रह्मजज्ञ' ब्रह्मज—ब्रह्मा यानी हिरण्यगर्भसे उत्पन्न हुआ ब्रह्मज कहलाता है; इस प्रकार जो ब्रह्मज है और ज्ञ (ज्ञाता) भी है उसे ब्रह्मजज्ञ कहते हैं; क्योंकि वह सर्वज्ञ है । उस देवको—जो द्योतन आदिके कारण देव कहलाता है और ज्ञानादि गुणवान् होनेसे ईड्य—स्तुतियोग्य है, उसे शास्त्रसे जानकर और 'निचाय्य' अर्थात् आत्मभावसे देखकर अपनी बुद्धिसे प्रत्यक्ष होनेवाली इस आत्यन्तिक शान्ति—उपरतिको प्राप्त हो जाता है । अर्थात् ज्ञान और कर्मके समुच्चयका अनुष्ठान करनेसे वैराज पदको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

इदानीमग्निविज्ञानचयनफलम् उपसंहरति प्रकरणं च—

अब अग्निविज्ञान और उसके चयनके फलका तथा इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

जो त्रिणाचिकेत विद्वान् अग्निके इस त्रयको [यानी कौन ईंटें हों; कितनी संख्यामें हों और किस प्रकार अग्निचयन किया जाय—इसको] जानकर नाचिकेत अग्निका चयन करता है, वह देहपातसे पूर्व ही मृत्युके बन्धनोंको तोड़कर शोकसे पार हो स्वर्गलोकमें आनन्दित होता है ॥ १८ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद् विदित्वावगत्य यश्चैवमात्मरूपेण अग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशान् अधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान् पुरतः अग्रतः पूर्वमेव शरीरपातात् इत्यर्थः, प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत् मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या ॥१८॥

जो त्रिणाचिकेत अग्निके पूर्वोक्त त्रयको जानकर अर्थात् जो ईंटें होनी चाहिये, जितनी होनी चाहिये तथा जिस प्रकार अग्नि चयन करना चाहिये—इन तीनों बातोंको समझकर उस अग्निको आत्मस्वरूपसे जाननेवाला जो विद्वान् अग्नि—क्रतुका चयन करता—साधन करता है वह अधर्म, अज्ञान और रागद्वेषादिरूप मृत्युके बन्धनोंका पुरतः—अग्रतः अर्थात् देहपातसे पूर्व ही अपनोदन—त्याग करके शोकसे पार हुआ अर्थात् मानसिक दुःखोंसे मुक्त हुआ स्वर्गमें यानी वैराज लोकमें विराडात्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे आनन्दित होता है ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥

हे नचिकेतः ! तूने द्वितीय वरसे जिसका वरण किया था वह यह स्वर्गका साधनभूत अग्नि तुझे बतला दिया । लोग इस अग्निको तेरा ही कहेंगे । हे नचिकेतः ! तू तीसरा वर और माँग ले ॥ १९ ॥

एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यः स्वर्गसाधनो यमग्निं वरमवृणीथाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः । किञ्चैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतत् । एष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन । तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व । तस्मिन्नदत्त ऋणवानहमित्यभिप्रायः ॥१९॥

हे नचिकेतः ! अपने दूसरे वरसे तूने जिस अग्निका वरण किया था—जिसके लिये तूने प्रार्थना की थी वह स्वर्गप्राप्तिका साधनभूत यह अग्निविज्ञानरूप वर मैंने तुझे दे दिया । इस प्रकार उपर्युक्त अग्निविज्ञानका उपसंहार कहा गया । यही नहीं, लोग इस अग्निको तेरे ही नामसे पुकारेंगे । यह तुझसे प्रसन्न हुए मैंने तुझे चौथा वर दिया था । हे नचिकेतः ! अब तू तीसरा वर और माँग ले; क्योंकि उसे बिना दिये मैं ऋणी ही हूँ—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ १९ ॥

एतावद्ध्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्वरद्वयसूचितं वस्तु ।

विधि-प्रतिषेध ही जिसके प्रयोजन हैं ऐसे उपर्युक्त मन्त्र-ब्राह्मणद्वारा इन दो वरोंसे सूचित इतनी ही वस्तु ज्ञातव्य है ।

न आत्मतत्त्वविषययाथात्म्यविज्ञानम् । अतो विधिप्रतिषेधार्थविषयस्यात्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफलाध्यारोपणलक्षणशून्यम् आत्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमिति उत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते । तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याप्यकृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेण इत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति— यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्तस्य आत्मज्ञानेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते ।

नचिकेता उवाच तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन्—

आत्मतत्त्वविषयक यथार्थ ज्ञान इसका विषय नहीं है । अब, जो विधि-प्रतिषेधका विषय है, आत्मामें क्रिया, कारक और फलका अध्यारोप करना ही जिसका लक्षण है तथा जो संसारका बीजस्वरूप है उस स्वाभाविक अज्ञानकी निवृत्तिके लिये उससे विपरीत ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान कहना है, जो कि क्रिया, कारक और फलके अध्यारोपरूप लक्षणसे शून्य और आत्यन्तिक निःश्रेयसरूप प्रयोजनवाला है; इसीके लिये आगेके ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है । इसी बातको आख्यायिकाद्वारा विस्तृत करते हैं कि तीसरे वरसे प्राप्त होनेवाले आत्मज्ञानके बिना द्वितीय वरकी प्राप्तिसे भी अकृतार्थता ही है; क्योंकि आत्मज्ञानमें उसी पुरुषका अधिकार है जो पूर्वोक्त कर्मविषयक साध्य-साधनलक्षण एवं अनित्य फलोंसे विरक्त हो गया हो । इसलिये उनकी निन्दाके लिये पुत्रादिके उपन्याससे नचिकेताको प्रलोभित किया जाता है ।

'हे नचिकेतः ! तुम तीसरा वर माँग लो' इस प्रकार कहे जानेपर नचिकेता बोला—

तृतीय वर—आत्मरहस्य

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं 'रहता है' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'; आपसे शिक्षित हुआ मैं इसे जान सकूँ। मेरे वरोंमें यह तीसरा वर है ॥ २० ॥

येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्ध्यात्मेत्येके नायम् अस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चैकेऽतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वानुमानेन निर्णयविज्ञानमेतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहम् अनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया। वराणाम् एष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ॥२०॥

मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो इस प्रकारका सन्देह है कि कोई लोग तो ऐसा कहते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे अतिरिक्त देहान्तरसे सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा रहता है और किन्हींका कथन है कि ऐसा कोई आत्मा नहीं रहता; अतः इसके विषयमें हमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे कोई निश्चित ज्ञान नहीं होता और परम पुरुषार्थ इस विज्ञानके ही अधीन है। इसलिये आपसे शिक्षित अर्थात् विज्ञापित होकर मैं इसे भली प्रकार जान सकूँ। यही मेरे वरोंमेंसे बचा हुआ तीसरा वर है ॥ २० ॥

किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्परीक्षणार्थमाह—

यह (नचिकेता) निःश्रेयसके साधन आत्मज्ञानके योग्य पूर्णतया है या नहीं—इस बातकी परीक्षा करनेके लिये यमराजने कहा—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

पूर्वकालमें इस विषयमें देवताओंको भी सन्देह हुआ था; क्योंकि यह सूक्ष्मधर्म सुगमतासे जानने योग्य नहीं है। हे नचिकेतः ! तू दूसरा वर माँग ले, मुझे न रोक। तू मेरे लिये यह वर छोड़ दे ॥ २१ ॥

देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं न हि सुज्ञेयं सुष्ठु ज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः सूक्ष्म एष आत्माख्यो धर्मोऽतोऽन्यमसंदिग्धफलं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मां मोपरोत्सीरुपरोधं मा कार्षीरधमर्णम् इवोत्तमर्णः। अतिसृज विमुञ्च एनं वरं मा मां प्रति ॥ २१ ॥

इस आत्मतत्त्वके विषयमें पहले—पूर्वकालमें देवताओंने भी विचिकित्सा—संशय किया था। साधारण पुरुषोंके लिये यह तत्त्व सुने जानेपर भी सुज्ञेय—अच्छी तरह जानने योग्य नहीं है; क्योंकि यह 'आत्मा' नामवाला धर्म बड़ा ही अणु—सूक्ष्म है। अतः हे नचिकेतः ! कोई दूसरा निश्चित फल देनेवाला वर माँग ले। जैसे धनी ऋणीको दबाता है उसी प्रकार तू मुझे न रोक। इस वरको तू मेरे लिये छोड़ दे ॥ २१ ॥

नचिकेताकी स्थिरता

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

[नचिकेता बोला—] हे मृत्यो ! इस विषयमें निश्चय ही देवताओंको भी सन्देह हुआ था तथा इसे आप भी सुगमतासे जानने योग्य नहीं बतलाते । [इसीसे वह मुझे और भी अधिक अभीष्ट है] तथा इस धर्मका वक्ता भी आपके समान अन्य कोई नहीं मिल सकता और न इसके समान कोई दूसरा वर ही है ॥ २२ ॥

देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं किलेति भवत एव नः श्रुतम् । त्वं च मृत्यो यद्यस्मान्न सुज्ञेयमात्मतत्त्वमात्थ कथयसि, अतः पण्डितैरप्यवेदनीयत्वाद् वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक्त्वत्तुल्यः अन्यः पण्डितश्च न लभ्यः अन्विष्यमाणोऽपि । अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुः । अतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

यह बात हमने अभी आपहीसे सुनी है कि इस विषयमें देवताओंने भी सन्देह किया था । और हे मृत्यो ! आप भी इस आत्मतत्त्व-को सुगमतासे जानने योग्य नहीं बतलाते । अतः पण्डितोंसे अज्ञातव्य होनेके कारण इस धर्मका कथन करनेवाला आपके समान कोई और पण्डित ढूँढ़नेसे भी नहीं मिल सकता । और यह वर भी निःश्रेयसकी प्राप्तिका कारण है । अतः इसके समान और कोई भी वर नहीं है; क्योंकि और सभी वर अनित्य फलयुक्त हैं—यह इसका अभिप्राय है ॥ २२ ॥

यमराजका प्रलोभन

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—

नचिकेताके इस प्रकार कहनेपर भी मृत्यु उसे प्रलोभित करता हुआ फिर बोला—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व
बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

हे नचिकेतः ! तू सौ वर्षकी आयुवाले बेटे-पोते, बहुत-से पशु, हाथी, सुवर्ण और घोड़े माँग ले, विशाल भूमण्डल भी माँग ले तथा स्वयं भी जितने वर्ष इच्छा हो जीवित रह ॥ २३ ॥

शतायुषः शतं वर्षाण्यायूंषि येषां ताञ्शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व । किं च गवादिलक्षणान् बहून्पशून् हस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम् अश्वांश्च किं च भूमेः पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलं राज्यं वृणीष्व । किं च सर्वमप्येतद् अनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह—स्वयं च जीव त्वं जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम् ॥ २३ ॥

जिनकी सौ वर्षकी आयु हो ऐसे शतायु पुत्र और पौत्र माँग ले । तथा गौ आदि बहुत-से पशु, हाथी और सुवर्ण तथा घोड़े और पृथिवीका महान् विस्तृत आयतन—आश्रय—मण्डल अर्थात् राज्य माँग ले । परन्तु यदि स्वयं अल्पायु हो तो ये सब व्यर्थ ही हैं—इसलिये कहते हैं—तू स्वयं भी जितना जीना चाहे उतने वर्ष जीवित रह; अर्थात् शरीर यानी समग्र इन्द्रिय-कलापको धारण कर ॥ २३ ॥



एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

इसीके समान यदि तू कोई और वर समझता हो तो उसे, अथवा धन और चिरस्थायिनी जीविका माँग ले। हे नचिकेतः! इस विस्तृत भूमिमें तू वृद्धिको प्राप्त हो। मैं तुझे कामनाओंको इच्छानुसार भोगनेवाला किये देता हूँ ॥ २४ ॥

एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व। किं च वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत्। किं बहुना महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव। किं चान्यत्कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः ॥ २४ ॥

इस उपर्युक्त वरके समान यदि तू कोई और वर समझता हो तो उसे भी माँग ले। यही नहीं, धन अर्थात् प्रचुर सुवर्ण और रत्न आदि तथा उस धनके साथ चिरस्थायिनी जीविका भी माँग ले। अधिक क्या, हे नचिकेतः! इस विस्तृत भूमिमें तू राजा होकर वृद्धिको प्राप्त हो। और तो क्या, मैं तुझे दैवी और मानुषी सभी कामनाओंका कामभागी अर्थात् इच्छानुसार भोगनेवाला किये देता हूँ; क्योंकि मैं सत्यसङ्कल्प देवता हूँ ॥ २४ ॥



ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान्कामाःश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

मनुष्यलोकमें जो-जो भोग दुर्लभ हैं उन सब भोगोंको तू स्वच्छन्दता-पूर्वक माँग ले। यहाँ रथ और बाजोंके सहित ये रमणियाँ हैं। ऐसी स्त्रियाँ मनुष्योंको प्राप्त होने योग्य नहीं होतीं। मेरेद्वारा दी हुई इन कामिनियोंसे तू अपनी सेवा करा। परन्तु हे नचिकेतः! तू मरणसम्बन्धी प्रश्न मत पूछ ॥ २५ ॥

ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके सर्वांस्तान् कामांश्छन्दत इच्छातः प्रार्थयस्व। किं चेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि लम्भनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुष्यै-र्मर्त्यैरस्मदादिप्रसादमन्तरेण। आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिचारिणीभिः परिचारयस्व आत्मानं पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारयात्मन इत्यर्थः। नचिकेतो

इस मर्त्यलोकमें जो-जो कामनाएँ—प्रार्थनीय वस्तुएँ दुर्लभ हैं उन सबको छन्दतः—इच्छा-नुसार माँग ले। इसके सिवा ये रामा—जो पुरुषोंके साथ रमण करती हैं उन्हें 'रामा' कहते हैं, ऐसी ये दिव्य अप्सराएँ, सरथा—रथोंके सहित और सतूर्या—तूर्यों (बाजों) के सहित मौजूद हैं। हम-जैसे देवताओंकी कृपाके बिना ये अर्थात् ऐसी स्त्रियाँ मरणधर्मा मनुष्योंको प्राप्त होने योग्य नहीं हैं। मेरेद्वारा दी हुई इन परिचारिकाओंसे तू अपनी परिचर्या अर्थात् पादप्रक्षालनादि सेवा करा; किन्तु हे नचिकेतः! मरण अर्थात्

मरणं मरणसंबद्धं प्रश्नं प्रेतेऽस्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं मानुप्राक्षीर्मैवं प्रष्टुमर्हसि ॥ २५ ॥	मरनेके पश्चात् जीव रहता है या नहीं—ऐसा कौएके दाँतोंकी परीक्षाके समान मरणसम्बन्धी प्रश्न मत पूछ, तुझे ऐसा प्रश्न करना उचित नहीं है ॥ २५ ॥

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाहृदवदक्षोभ्य आह—	इस प्रकार प्रलोभित किये जानेपर भी नचिकेताने महान् सरोवरके समान अक्षुब्ध रहकर कहा—

नचिकेताकी निरीहता

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैत-
त्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

हे यमराज ! ये भोग 'कल रहेंगे या नहीं'—इस प्रकारके हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण कर देते हैं । यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा ही है । आपके वाहन और नाच-गान आपके ही पास रहें [हमें उनकी आवश्यकता नहीं] ॥ २६ ॥

श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति संदिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः । किं च मर्त्यस्य मनुष्यस्यान्तक हे मृत्यो यदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्ति अपक्षयन्त्यप्सरःप्रभृतयो भोगाः	आपने जिन भोगोंका उल्लेख किया है वे तो श्वोभाव हैं—जिनका भाव अर्थात् अस्तित्व 'कल रहेंगे या नहीं' इस प्रकार सन्देहयुक्त हो उन्हें श्वोभाव कहते हैं । बल्कि हे अन्तक—हे मृत्यो ! ये अप्सरा आदि भोग तो मनुष्यका जो यह सम्पूर्ण इन्द्रियोंका तेज है उसे

अनर्थायैवैते धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात् । यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु । सर्वं यद्ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्पमेव किमुतास्मदादिदीर्घजीविका । अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयः तथा नृत्यगीते च ॥ २६ ॥

जीर्ण—क्षीण ही कर देते हैं, अतः धर्म, वीर्य, प्रज्ञा, तेज और यश आदिका क्षय करनेवाले होनेसे ये अनर्थके ही कारण हैं । और आप जो दीर्घजीवन देना चाहते हैं उसके विषयमें भी सुनिये । ब्रह्माका जो सम्पूर्ण जीवन—आयु है वह भी अल्प ही है, फिर हम-जैसोंके दीर्घजीवनकी तो बात ही क्या है ? अतः आपके रथादि वाहन और नाच-गान आपके ही रहें ॥ २६ ॥



किं च—

इसके सिवा—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

मनुष्यको धनसे तृप्त नहीं किया जा सकता । अब यदि आपको देख लिया है तो धन तो हम पा ही लेंगे । जबतक आप शासन करेंगे हम जीवित रहेंगे; किन्तु हमारा प्रार्थनीय वर तो वही है ॥ २७ ॥

न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । न हि लोके वित्तलाभः कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः ।

मनुष्यको अधिक धनसे भी तृप्त नहीं किया जा सकता है । लोकमें धनकी प्राप्ति किसीको भी तृप्त करनेवाली नहीं देखी गयी ।

यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामहे प्राप्स्यामह इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम् । जीवितमपि तथैव । जीविष्यामो यावद्याम्ये पदे त्वम् ईशिष्यसीशिष्यसे प्रभुः स्याः कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत् । वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम् ॥२७॥

अब, जब कि हम आपको देख चुके हैं तो, यदि हमें धनकी लालसा होगी तो, उसे हम प्राप्त कर ही लेंगे । इसी प्रकार दीर्घजीवन भी पा लेंगे । जबतक आप याम्यपदपर शासन करेंगे तबतक हम भी जीवित रहेंगे । भला कोई भी मनुष्य आपके सम्पर्कमें आकर अल्पायु और अल्पधन कैसे रह सकता है ? किन्तु वर तो वह जो आत्मविज्ञान है वही हमारा वरणीय है ॥ २७ ॥

यतश्च—

क्योंकि—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

कभी जराग्रस्त न होनेवाले अमरोंके समीप पहुँचकर नीचे पृथिवीपर रहनेवाला कौन जराग्रस्त विवेकी मनुष्य होगा जो केवल शारीरिक वर्णके रागसे प्राप्त होनेवाले [स्त्रीसम्भोग आदि] सुखोंको [अस्थिर रूपमें] देखता हुआ भी अति दीर्घ जीवनमें सुख मानेगा ? ॥ २८ ॥

अजीर्यतां वयोहानिमप्राप्नुवताममृतानां सकाशमुपेत्य उपगम्यात्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन्

वयोहानिरूप जीर्णताको प्राप्त न होनेवाले अमरों—देवताओंकी सन्निधिमें पहुँचकर उनसे प्राप्त होने योग्य अपने अन्य उत्कृष्ट प्रयोजनको—प्राप्तव्यको जानता—प्राप्त करता हुआ भी

उपलभमानः स्वयं तु जीर्यन्मर्त्यो जरामरणवान्क्वधःस्थः कुः पृथिवी अधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्थः सन् कथमेवमविवेकिभिः प्रार्थनीयं पुत्रवित्तहिरण्याद्यस्थिरं वृणीते।

क्व तदास्थ इति वा पाठान्तरम्। अस्मिन्पक्षे चाक्षरयोजना। तेषु पुत्रादिष्वास्था आस्थितिः तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदास्थः। ततोऽधिकतरं पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापिपयिषुः क्व तदास्थो भवेन्न कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थी स्याद् इत्यर्थः। सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोकस्तस्मान्न पुत्रवित्तादिलोभैः प्रलोभ्योऽहम्। किं चाप्सरःप्रमुखान्वर्णरतिप्रमोदाननवस्थित-

जो स्वयं जीर्ण होनेवाला और मरणधर्मा है अर्थात् जरामरणशील है ऐसा क्वधःस्थ—'कु' पृथिवीको कहते हैं, वह अन्तरिक्षादि लोकोंकी अपेक्षा अधः—नीची [होनेके कारण 'क्वधः' कहलाती] है, उसपर जो स्थित होता है वह क्वधःस्थ कहा जाता है; ऐसा होकर भी—इस प्रकार अविवेकियोंद्वारा प्रार्थनीय पुत्र, धन और सुवर्ण आदि अस्थिर पदार्थोंको कैसे माँगेगा ?

कहीं 'क्वधःस्थः' के स्थानमें 'क्व तदास्थः' ऐसा भी पाठ है। इस पक्षमें अक्षरोंकी योजना इस प्रकार करनी चाहिये। उन पुत्रादिमें जिसकी आस्था—आस्थिति अर्थात् तत्परतापूर्वक प्रवृत्ति है वह 'तदास्थ' है। जो उनसे भी उत्कृष्टतर और दुष्प्राप्य पुरुषार्थको पानेका इच्छुक है वह पुरुष उनमें आस्था करनेवाला कैसे होगा ? अर्थात् उन्हें असार समझनेवाला कोई भी पुरुष उनका अर्थी (इच्छुक) नहीं हो सकता, क्योंकि सभी लोग उत्तरोत्तर उन्नत ही होना चाहते हैं; अतः मैं पुत्र-धन आदि लोभोंसे प्रलोभित नहीं किया जा सकता। तथा वर्णके रागसे प्राप्त होनेवाले अप्सरा आदि सुखोंकी अस्थिररूपमें भावना करता

रूपतयाभिध्यायन्निरूपयन्यथावत् अतिदीर्घे जीविते को विवेकी रमेत ॥ २८ ॥

हुआ; उन्हें यथावत् (मिथ्यारूपसे) समझता हुआ कौन विवेकी पुरुष अति दीर्घ जीवनमें प्रेम करेगा ? ॥२८॥

अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितम्—

अतः मुझे इन मिथ्या भोगोंसे प्रलोभित करना छोड़कर जिसके लिये मैंने प्रार्थना की है—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

हे मृत्यो ! जिस (परलोकगत जीव) के सम्बन्धमें लोग 'है या नहीं है' ऐसा सन्देह करते हैं तथा जो महान् परलोकके विषयमें [निश्चित विज्ञान] है वह हमसे कहिये । यह जो गहनतामें अनुप्रविष्ट हुआ वर है इससे अन्य और कोई वर नचिकेता नहीं माँगता ॥ २९ ॥

यस्मिन्प्रेत इदं विचिकित्सनं विचिकित्सन्ति अस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो साम्पराये परलोकविषये महति महत्प्रयोजननिमित्ते आत्मनो

हे मृत्यो ! जिस परलोकगत जीवके विषयमें ऐसा सन्देह करते हैं कि मरनेके अनन्तर 'रहता है या नहीं रहता' उस महान्—महान् प्रयोजनके निमित्तभूत साम्पराय—परलोकके सम्बन्धमें उस आत्माका जो निश्चित विज्ञान

निर्णयविज्ञानं यत्तद्ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम् । किं बहुना योऽयं प्रकृत आत्मविषयो वरो गूढं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टः तस्माद्वरादन्यमविवेकिभिः प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसापीति श्रुतेर्वचनमिति ॥२९॥

है वह हमसे कहिये । अधिक क्या, यह जो आत्मविषयक प्रकृत वर है वह बड़ा ही गूढ़—गहन है और दुर्विवेचनीयताको प्राप्त हो रहा है । उस वरसे अन्य अविवेकी पुरुषोंद्वारा प्रार्थनीय कोई और अनित्य वस्तु-विषयक वर नचिकेता मनसे भी नहीं माँगता—यह श्रुतिका वचन है ॥२९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥



द्वितीया वल्ली

श्रेय-प्रेयविवेक

परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याह—

इस प्रकार शिष्यकी परीक्षा कर और उसमें विद्या-ग्रहणकी योग्यता जान यमराजने कहा—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

श्रेय (विद्या) और है तथा प्रेय (अविद्या) और ही है। वे दोनों विभिन्न प्रयोजनवाले होते हुए ही पुरुषको बाँधते हैं। उन दोनोंमेंसे श्रेयका ग्रहण करनेवालेका शुभ होता है और जो प्रेयका वरण करता है वह पुरुषार्थसे पतित हो जाता है ॥ १ ॥

अन्यत्पृथगेव श्रेयो निःश्रेयसं तथान्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि। ते प्रेयःश्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्ताभ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः। श्रेयःप्रेयसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी

श्रेय अर्थात् निःश्रेयस अन्यत्—भिन्न ही तथा प्रेय यानी प्रियतर वस्तु भी अन्य ही है। वे श्रेय और प्रेय दोनों विभिन्न प्रयोजनवाले होनेपर भी अधिकारी यानी वर्णाश्रमादिविशिष्ट पुरुषका बन्धन कर देते हैं; अर्थात् सब लोग उन्हींके द्वारा अपने [विद्या-अविद्यासम्बन्धी] कर्तव्यसे युक्त हो जाते हैं। अभ्युदयकी इच्छावाला पुरुष प्रेयसे और अमृतत्वका

पुरुषः प्रवर्तते। अतः श्रेयःप्रेयः-प्रयोजनकर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते सर्वः पुरुषः ।

ते यद्यप्येकैकपुरुषार्थसंबन्धिनी विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्धे इत्यन्यतरापरित्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात् तयोर्हित्वाविद्यारूपं प्रेयः श्रेय एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति । यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यतेऽस्मादर्थात् पुरुषार्थात् पारमार्थिकात्प्रयोजनान्नित्यात् प्रच्यवत इत्यर्थः। कोऽसौ य उ प्रेयो वृणीत उपादत्त इत्येतत् ॥ १ ॥

इच्छुक श्रेयसे प्रवृत्त होता है। अतः श्रेय और प्रेय इन दोनोंके प्रयोजनोंकी कर्तव्यताके कारण सब लोग उनसे बद्ध कहे जाते हैं ।

वे यद्यपि एक-एक पुरुषार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं तो भी विद्या और अविद्यारूप होनेके कारण परस्पर विरुद्ध हैं, अतः एकका परित्याग किये बिना एक पुरुषद्वारा उन दोनोंका साथ-साथ अनुष्ठान न हो सकनेके कारण उनमेंसे अविद्यारूप प्रेयको छोड़कर केवल श्रेयका ही स्वीकार करनेवालेका साधु—शुभ यानी कल्याण होता है । जो मूढ़ दूरदर्शी नहीं है वह इस अर्थ—पुरुषार्थ अर्थात् परमार्थसम्बन्धी नित्य प्रयोजनसे च्युत हो जाता है; वह कौन है ? वही जो प्रेयका वरण अर्थात् ग्रहण करता है—यह इसका तात्पर्य है ॥ १ ॥

यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवादत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते—

यदि श्रेय और प्रेय इन दोनोंहीका करना मनुष्यके स्वाधीन है तो लोग अधिकतासे प्रेयको ही क्यों स्वीकार करते हैं ? इसपर कहा जाता है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥

श्रेय और प्रेय [परस्पर मिले हुए-से होकर] मनुष्यके पास आते हैं । उन दोनोंको बुद्धिमान् पुरुष भली प्रकार विचारकर अलग-अलग करता है । विवेकी पुरुष प्रेयके सामने श्रेयका ही वरण करता है; किन्तु मूढ़ योग-क्षेमके निमित्तसे प्रेयका वरण करता है ॥ २ ॥

सत्यं स्वायत्ते तथापि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यमेतं पुरुषमा इतः प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च । अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयःप्रेयःपदार्थौ सम्परीत्य सम्यक्परिगम्य मनसालोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान् । विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एवाभिवृणीते प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वात् । कोऽसौ ? धीरः ।

वे मनुष्यके अधीन हैं—यह बात ठीक है । तथापि वे श्रेय और प्रेय मन्दबुद्धि पुरुषोंके लिये साधन और फलदृष्टिसे जिनका पार्थक्य करना बहुत कठिन है ऐसे होकर परस्पर मिले हुए-से ही मनुष्य यानी इस जीवको प्राप्त होते हैं । अतः हंस जिस प्रकार जलसे दूध अलग कर लेता है उसी प्रकार धीर—बुद्धिमान् पुरुष उन श्रेय और प्रेय पदार्थोंका भली प्रकार परिगमन कर—मनसे उनकी आलोचना कर उनके गौरव और लाघवका विवेक यानी पृथक्करण करता है । इस प्रकार श्रेयका विवेचन कर वह प्रेयकी अपेक्षा अधिक अभीष्ट होनेके कारण श्रेयका ही ग्रहण करता है । परन्तु ऐसा करता कौन है ? वही जो बुद्धिमान् है ।

यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः स विवेकासामर्थ्याद्योगक्षेमाद्योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयरक्षणनिमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते ॥ २ ॥

इसके विपरीत जो मन्द—अल्पबुद्धि है वह, विवेकशक्तिका अभाव होनेके कारण, जो योग-क्षेमका ही कारण है अर्थात् जो शरीरादिकी वृद्धि और रक्षाका ही निमित्त है उस पशु-पुत्रादिरूप प्रेयका ही वरण करता है ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाᳪश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताᳪसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

हे नचिकेतः ! उस तूने पुत्र-वित्तादि प्रिय और अप्सरा आदि प्रियरूप भोगोंको, उनका असारत्व चिन्तन करके, त्याग दिया है और जिसमें बहुत-से मनुष्य डूब जाते हैं उस इस धनप्राया निन्दित गतिको तू प्राप्त नहीं हुआ ॥ ३ ॥

स त्वं पुनःपुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान् पुत्रादीन् प्रियरूपांश्चाप्सरःप्रभृतिलक्षणान् कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषाम् अनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे नचिकेतोऽत्यस्राक्षीरतिसृष्टवान् परित्यक्तवानसि अहो बुद्धिमत्ता तव । नैतामवाप्तवानसि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां

हे नचिकेतः ! तेरी बुद्धिमत्ता धन्य है; जिस तूने कि मेरे द्वारा बारम्बार प्रलोभित किये जानेपर भी पुत्रादि प्रिय तथा अप्सरा आदि प्रियरूप भोगोंका, उनकी अनित्यता और असारता आदि दोषोंका विचार करके परित्याग कर दिया, और जिसमें मूढ़ पुरुष प्रवृत्त हुआ करते हैं उस वित्तमयी—धनप्राया निन्दित गतिको तू प्राप्त नहीं

वित्तमयीं धनप्रायाम् । यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा मनुष्याः ॥ ३ ॥

हुआ जिस मार्गमें कि बहुत-से मूढ़ पुरुष डूब जाते अर्थात् दुःख उठाते हैं ॥ ३ ॥

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीत इत्युक्तं तत्कस्माद्यतः—

'उनमेंसे श्रेयको ग्रहण करनेवालेका शुभ होता है और जो प्रेयका वरण करता है वह स्वार्थसे पतित हो जाता है' ऐसा जो ऊपर (इस वल्लीके प्रथम मन्त्रमें) कहा गया है, सो क्यों ? [इसपर यमराज कहते हैं,] क्योंकि—

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

जो विद्या और अविद्यारूपसे जानी गयी हैं वे दोनों अत्यन्त विरुद्ध स्वभाववाली और विपरीत फल देनेवाली हैं । मैं तुझ नचिकेताको विद्याभिलाषी मानता हूँ ? क्योंकि तुझे बहुत-से भोगोंने भी नहीं लुभाया ॥ ४ ॥

दूरं दूरेण महतान्तरेणैते विपरीते अन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेकात्मकत्वात्तमःप्रकाशाविव । विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत् ।

ये दोनों प्रकाश और अन्धकारके समान विवेक और अविवेकरूप होनेसे 'दूरम्' अर्थात् महान् अन्तरके साथ विपरीत हैं—आपसमें एक-दूसरेसे व्यावृत्तरूप हैं । और विषूची अर्थात् नाना गतिवाले हैं यानी संसार और मोक्षके कारण होनेसे विभिन्न फलयुक्त हैं ।

के ते इत्युच्यते। या चाविद्या प्रेयोविषया विद्येति च श्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञातावगता पण्डितैः। तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये। कस्माद्यस्मादविद्वद्बुद्धिप्रलोभिनः कामा अप्सरःप्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवाञ्छासंपादनेन। अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्य इत्यभिप्रायः ॥४॥

वे कौन हैं—इसपर कहते हैं—'जो कि पण्डितोंद्वारा प्रेयको विषय करनेवाली अविद्या तथा श्रेयोविषया विद्यारूपसे जानी गयी हैं।' उनमें तुझ नचिकेताको मैं विद्याभिलाषी अर्थात् विद्यार्थी मानता हूँ। क्यों मानता हूँ? क्योंकि अविवेकियोंकी बुद्धिको प्रलोभित करनेवाले अप्सरा आदि बहुत-से भोग भी तुम्हें लुभा नहीं सके—उन्होंने तेरे हृदयमें अपने भोगकी इच्छा उत्पन्न करके तुझे श्रेयोमार्गसे विचलित नहीं किया। अतः मैं तुझे विद्यार्थी यानी श्रेयका पात्र समझता हूँ—यह इसका अभिप्राय है ॥ ४ ॥

अविद्याग्रस्तोंकी दुर्दशा

ये तु संसारभाजनाः—

किन्तु जो संसारके पात्र हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥

वे अविद्याके भीतर रहनेवाले, अपने-आप बड़े बुद्धिमान् बने हुए और अपनेको पण्डित माननेवाले, मूढ़ पुरुष, अन्धेसे ही ले जाये जाते हुए अन्धेके समान अनेकों कुटिल गतियोंकी इच्छा करते हुए भटकते रहते हैं ॥ ५ ॥

अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाः पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः । स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिलामनेकरूपां गतिम् इच्छन्तो जरामरणरोगादिदुःखैः परियन्ति परिगच्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत् ॥५॥

वे घनीभूत अन्धकारके समान अविद्याके भीतर स्थित हो पुत्र-पशु आदि सैकड़ों तृष्णापाशोंसे बँधे हुए [व्यवहारमें लगे रहते हैं] । जिस प्रकार अंधे यानी दृष्टिहीन पुरुषसे विषम मार्गमें ले जाये जाते हुए बहुत-से अंधे महान् अनर्थको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार 'हम बड़े धीर यानी बुद्धिमान् हैं और पण्डित अर्थात् शास्त्रकुशल हैं' इस प्रकार अपनेको माननेवाले वे मूढ़—अविवेकी पुरुष नाना प्रकारकी अत्यन्त कुटिल गतियोंकी इच्छा करते हुए जरा, मरण और रोगादि दुःखोंसे सब ओर भटकते रहते हैं ॥ ५ ॥

अत एव मूढत्वात्—

अतएव मूढ़ताके कारण—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

धनके मोहसे अंधे हुए और प्रमाद करनेवाले उस मूर्खको परलोकका साधन नहीं सूझता । यह लोक है, परलोक नहीं है—ऐसा माननेवाला पुरुष बारम्बार मेरे वशको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति । सम्पर ईयत इति सम्परायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः । स च बालमविवेकिनं प्रति न प्रतिभाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत् ।

प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्तमोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाच्छन्नं सन्तम् । अयमेव लोको योऽयं दृश्यमानः स्त्र्यन्नपानादिविशिष्टो नास्ति परोऽदृष्टो लोक इत्येवं मननशीलो मानी पुनः पुनर्जनित्वा वशं मदधीनतामापद्यते मे मृत्योर्मम । जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः । प्रायेण ह्येवंविध एव लोकः ॥ ६ ॥

उसे साम्पराय भासित नहीं होता । देहपातके अनन्तर जिसके प्रति गमन किया जाय उसे सम्पराय—परलोक कहते हैं । उसकी प्राप्ति ही जिसका प्रयोजन है वह शास्त्रीय साधनविशेष साम्पराय है । वह बाल अर्थात् अविवेकी पुरुषके प्रति प्रकाशित नहीं होता, अर्थात् वह उसके चित्तके सम्मुख उपस्थित नहीं होता ।

तथा जो प्रमाद करनेवाला है—जिसका चित्त पुत्र-पशु आदि प्रयोजनोंमें आसक्त है और जो धनके मोहसे अर्थात् धननिमित्तक अविवेकसे मूढ़ यानी अज्ञानसे आवृत है [उस मूढ़को परलोकका साधन नहीं सूझा करता] । 'यह जो स्त्री और अन्न-पानादिविशिष्ट दृश्यमान लोक है बस यही है, इससे अन्य और कोई [स्वर्गादि] लोक नहीं है' जो पुरुष इस प्रकार माननेवाला है वह बारम्बार जन्म लेकर मुझ मृत्युकी अधीनताको प्राप्त होता है । अर्थात् वह जन्म-मरणादिरूप दुःखपरम्परापर ही आरूढ़ रहता है । यह लोक प्रायः इसी प्रकारका है ॥ ६ ॥

आत्मज्ञानकी दुर्लभता

यस्तु श्रेयोऽर्थी सहस्रेषु कश्चिदेवात्मविद्भवति त्वद्विधो यस्मात्—

किन्तु जो तेरे समान श्रेयकी इच्छावाला है ऐसा तो हजारोंमें कोई ही आत्मवेत्ता होता है; क्योंकि—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

जो बहुतोंको तो सुननेके लिये भी प्राप्त होनेयोग्य नहीं है, जिसे बहुतसे सुनकर भी नहीं समझते उस आत्मतत्त्वका निरूपण करनेवाला भी आश्चर्यरूप है, उसको प्राप्त करनेवाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्यद्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है ॥ ७ ॥

श्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुम् अपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः शृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न विदन्त्यभागिनोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः। किं चास्य वक्तापि आश्चर्योऽद्भुतवदेवानेकेषु कश्चिद् एव भवति । तथा श्रुत्वाप्यस्य आत्मनः कुशलो निपुण एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति । यस्माद् आश्चर्यो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेन आचार्येणानुशिष्टः सन् ॥७॥

जो आत्मा बहुतोंको तो सुननेके लिये भी नहीं मिलता तथा दूसरे बहुतसे अभागी अशुद्धचित्त पुरुष जिस आत्मतत्त्वको सुनकर भी नहीं जान पाते । यही नहीं, इसका वक्ता भी आश्चर्य अर्थात् अद्भुत-सा ही है—वह भी अनेकोंमें कोई ही होता है । तथा सुनकर भी इस आत्माका लब्धा (ग्रहण करनेवाला) तो अनेकोंमें कोई निपुण पुरुष ही होता है; क्योंकि जिसे [आत्मदर्शनमें] कुशल आचार्यने उपदेश किया हो ऐसा इसका ज्ञाता भी आश्चर्यरूप ही है ॥ ७ ॥

कस्मात्— | क्योंकि—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

कई प्रकारसे कल्पित किया हुआ यह आत्मा साधारण बुद्धिवाले पुरुष-द्वारा कहे जानेपर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता । अभेददर्शी आचार्य-द्वारा उपदेश किये गये इस आत्मामें [अस्ति-नास्तिरूप] कोई गति नहीं है; क्योंकि यह सूक्ष्म परिमाणवालोंसे भी सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है ॥ ८ ॥

न हि नरेण मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृतबुद्धिना इत्येतदुक्त एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि न हि सुष्ठु सम्यग्विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यो यस्माद् बहुधास्ति नास्ति कर्ताकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः ।

यह आत्मा, जिसके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे हो, किसी अवर—हीन यानी साधारण बुद्धि-वाले मनुष्यसे कहा जानेपर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता; क्योंकि इसका वादियोंद्वारा अस्ति-नास्ति, कर्ता-अकर्ता एवं शुद्ध-अशुद्ध—इस प्रकार अनेक तरहसे चिन्तन किया जाता है ।

कथं पुनः सुविज्ञेय इत्युच्यते—

विद्योपलब्धौ दैशिकादेशस्य प्राधान्यम् — अनन्यप्रोक्तेऽनन्येन अपृथग्दर्शिना आचार्येण प्रतिपाद्य-ब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त उक्त आत्मनि गतिरनेकधास्ति नास्तीत्यादि-लक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन् आत्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वादात्मनः।

तो फिर यह किस प्रकार अच्छी तरह जाना जाता है ? इसपर कहते हैं—अनन्यप्रोक्त—अनन्य अर्थात् अपने प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुए अपृथग्दर्शी आचार्यद्वारा कहे हुए इस आत्मामें अस्ति-नास्ति-रूप गति यानी चिन्ता नहीं है; क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण विकल्पोंकी गतिसे रहित है ।

अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन् आत्मनि प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते गतिः अत्रान्यावगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्य अभावात्। ज्ञानस्य ह्येषा परा निष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम्। अतोऽवगन्तव्याभावान्न गतिः अत्रावशिष्यते। संसारगतिर्वात्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तर्यकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य।

अथवा अनन्यप्रोक्त—अपने स्वरूपभूत अनन्य आत्माका गुरुद्वारा उपदेश किये जानेपर अन्य ज्ञेय वस्तुका अभाव हो जानेके कारण उसमें कोई गति यानी अन्य अवगति (ज्ञान) नहीं रहती; क्योंकि आत्माके एकत्वका जो विज्ञान है वही ज्ञानकी परा निष्ठा है। अतः ज्ञेय वस्तुका अभाव हो जानेके कारण फिर यहाँ कोई और गति नहीं रहती। अथवा उस अनन्य अर्थात् स्वात्मभूत आत्मतत्त्वके उपदेश कर दिये जानेपर संसारकी गति नहीं रहती; क्योंकि उसके अनन्तर तुरंत ही आत्मविज्ञानका फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

अथवा प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाचार्येण प्रोक्ते आत्मनि अगतिरनवबोधोऽपरिज्ञानम् अत्र नास्ति। भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तदस्म्यहमित्याचार्यस्येवेत्यर्थः।

अथवा जिसका आगे वर्णन किया जायगा उस ब्रह्मात्मभूत आचार्यद्वारा उपदेश किये हुए इस आत्मतत्त्वमें फिर अगति—अनवबोध अर्थात अपरिज्ञान नहीं रहता। अर्थात् आचार्यके समान उस श्रोताको भी वह आत्मविषयक ज्ञान हो ही जाता है कि 'वह (ब्रह्म) मैं हूँ'।

एवं सुविज्ञेय आत्मा आगमवता आचार्येणानन्यतया प्रोक्तः। इतरथा ह्यणीयानणुप्रमाणादपि

इस प्रकार शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा अभिन्नरूपसे कहा हुआ आत्मा सुविज्ञेय होता है। नहीं तो, यह अणुप्रमाण वस्तुओंसे भी अणु हो

सम्पद्यत आत्मा । अतर्क्यमतर्क्यः स्वबुद्ध्याभ्यूहेन केवलेन तर्केण । तर्क्यमाणेऽणुपरिमाणे केनचित् स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरम् अन्योऽभ्यूहति ततोऽप्यन्योऽणुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचिद्विद्यते ॥ ८ ॥

जाता है; अपनी बुद्धिसे निकाले हुए केवल तर्कद्वारा इसका ज्ञान नहीं हो सकता । यदि कोई पुरुष तर्क करके उस अणुपरिमाण आत्माको स्थापित भी करे तो दूसरा उससे भी अणु तथा तीसरा उससे भी अत्यन्त अणु स्थापित कर देगा; क्योंकि कुतर्ककी स्थिति कहीं भी नहीं है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया
　　प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
　　त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

हे प्रियतम ! सम्यक् ज्ञानके लिये शुष्क तार्किकसे भिन्न शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा कही हुई यह बुद्धि, जिसे कि तू प्राप्त हुआ है, तर्कद्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है । अहा ! तू बड़ा ही सत्य धारणावाला है । हे नचिकेतः ! हमें तेरे समान प्रश्न करनेवाला प्राप्त हो ॥ ९ ॥

अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मनि उत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्यात्ममतिर्नैषा तर्केण स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रेणापनेया न प्रापणीयेत्यर्थः । नापनेतव्या वा न हातव्या

अतः अभेददर्शी आचार्यद्वारा उपदेश किये हुए आत्मामें उत्पन्न हुई जो यह शास्त्रप्रतिपाद्य आत्मविषयक मति है वह तर्कसे अर्थात् अपनी बुद्धिके ऊहापोहमात्रसे प्राप्त होने योग्य नहीं है । अथवा [यह समझो कि] यह आत्मबुद्धि तर्कशक्तिसे अपनेतव्य यानी छोड़ी

तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किञ्चिदेव कथयति । अत एव च येयमागमप्रभूता मतिरन्येनैवागमाभिज्ञेन आचार्येणैव तार्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम ।

जाने योग्य नहीं है; क्योंकि तार्किक तो अध्यात्मशास्त्रसे अनभिज्ञ होता है, वह अपनी बुद्धिसे परिकल्पित चाहे जो कहता रहता है। अतः हे प्रेष्ठ—प्रियतम ! यह जो शास्त्रजनित आत्मबुद्धि है वह तो तार्किकसे भिन्न किसी शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा उपदेश की जानेपर ही सम्यक् ज्ञानकी कारण होती है।

का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्युच्यते—

अच्छा तो, तर्कसे प्राप्त न होने योग्य वह मति कौन-सी है ? इसपर कहते हैं—

यां त्वं मतिं मद्वरप्रदानेन आपः प्राप्तवानसि । सत्या अवितथविषया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिर्बतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये । त्वादृक्त्वत्तुल्यो नः अस्मभ्यं भूयाद्भवताद्भवत्वन्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा; कीदृग्यादृक्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

जिस मतिको तूने मेरे वरप्रदानसे प्राप्त किया है। जिस तेरी धृति सत्य अर्थात् यथार्थ पदार्थको विषय करनेवाली है वह तू सत्यधृति है। 'बत' इस अव्ययसे अनुकम्पा करते हुए यमराज आगे कहे जानेवाले विज्ञानकी स्तुतिके लिये नचिकेतासे कहते हैं—'हे नचिकेतः ! हमें तेरे समान प्रश्न करनेवाला और भी पुत्र अथवा शिष्य मिले। परन्तु वह हो कैसा ? जैसा कि तू प्रश्न करनेवाला है' ॥ ९ ॥

पुनरपि तुष्ट आह—

नचिकेतासे प्रसन्न हुए मृत्युने फिर भी कहा—

कर्मफलकी अनित्यता

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

मैं यह जानता हूँ कि कर्मफलरूप निधि अनित्य है; क्योंकि अनित्य साधनोंद्वारा वह नित्य [आत्मा] प्राप्त नहीं किया जा सकता। तब मेरेद्वारा नाचिकेत अग्निका चयन किया गया। उन अनित्य पदार्थोंसे ही मैं [आपेक्षिक] नित्य [याम्यपद] को प्राप्त हुआ हूँ ॥ १० ॥

जानाम्यहं शेवधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यत इति। असावनित्यमनित्य इति जानामि। न हि यस्मादनित्यैः अध्रुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते परमात्माख्यः शेवधिः। यस्त्वनित्यसुखात्मकः शेवधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते।

जिसके लिये निधि (खजाने) के समान प्रार्थना की जाती है वह कर्मफलरूप निधि ही 'शेवधि' है। यह अनित्य—सदा न रहनेवाली है—ऐसा मैं जानता हूँ। क्योंकि इन अनित्य यानी अस्थिर साधनोंसे वह परमात्मा नामक नित्य—स्थिर निधि प्राप्त नहीं की जा सकती। जो निधि अनित्यसुखस्वरूप है वही अनित्य पदार्थोंसे प्राप्त होती है।

हि यतस्ततस्तस्मान्मया जानतापि नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति नाचिकेतश्चितोऽग्निः अनित्यैर्द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्निर्निर्वर्तित

क्योंकि ऐसा है इसलिये मैंने यह जान-बूझकर भी कि 'अनित्य साधनोंसे नित्यकी प्राप्ति नहीं होती' नाचिकेत अग्निका चयन किया था; अर्थात् पशु आदि अनित्य पदार्थोंसे स्वर्ग-सुखके साधनस्वरूप उस अग्नि-

इत्यर्थः । तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि॥१०॥

का सम्पादन किया था। उसीसे मैं अधिकारसम्पन्न होकर आपेक्षिक नित्य स्वर्ग नामक याम्यस्थानको प्राप्त हुआ हूँ ॥ १० ॥

नचिकेताके त्यागकी प्रशंसा

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

हे नचिकेतः! तूने बुद्धिमान् होकर भोगोंकी समाप्ति (अवधि), जगत्‌की प्रतिष्ठा, यज्ञफलके अनन्तत्व, अभयकी मर्यादा, स्तुत्य और महती (अणिमादि ऐश्वर्ययुक्त) विस्तीर्ण गति तथा प्रतिष्ठाको देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया है ॥ ११ ॥

त्वं तु कामस्याप्तिं समाप्तिम्, अत्रैवेहैव सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्माधिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मकत्वात्, क्रतोः फलं हैरण्यगर्भं पदमनन्त्यमानन्त्यम्, अभयस्य च पारं परां निष्ठाम्, स्तोमं

किन्तु हे नचिकेतः! तुमने तो धीर—धृतिमान् होकर कामनाओंकी प्राप्ति—समाप्तिको, क्योंकि इस [हिरण्यगर्भ पद] में ही सम्पूर्ण कामनाएँ समाप्त होती हैं, तथा सर्वात्मक होनेके कारण अध्यात्म, अधिभूत एवं अधिदैवरूप जगत्‌की प्रतिष्ठा यानी आश्रयको, यज्ञके अनन्त्य—आनन्त्य अर्थात् अनन्त फल हिरण्यगर्भ पदको, अभयके पार अर्थात् परा निष्ठाको और स्तोम—

स्तुत्यं महदणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतं स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वात्स्तोममहत्, उरुगायं विस्तीर्णां गतिम्, प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्तमामपि दृष्ट्वा धृत्या धैर्येण धीरो धीमान्सन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः परमेव आकाङ्क्षन्नतिसृष्टवानसि सर्वम् एतत् संसारभोगजातम्। अहो बतानुत्तमगुणोऽसि ॥ ११ ॥

स्तुत्य तथा महत्—अणिमादि ऐश्वर्य आदिक अनेक गुणोंके सङ्घातसे युक्त, इस प्रकार जो स्तोम है और महत् भी है ऐसे सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण स्तोममहत् उरुगाय—विस्तीर्ण गतिको तथा प्रतिष्ठा—अपनी सर्वोत्तम स्थितिको देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया। अर्थात् एकमात्र परवस्तुकी ही इच्छा करते हुए इस सम्पूर्ण सांसारिक भोगसमूहका परित्याग कर दिया। अहो ! तुम बड़े ही उत्कृष्ट गुणसम्पन्न हो ! ॥ ११ ॥

यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानम्—

जिस आत्माको तुम जानना चाहते हो—

आत्मज्ञानका फल

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

उस कठिनतासे दीख पड़नेवाले, गूढ़ स्थानमें अनुप्रविष्ट, बुद्धिमें स्थित, गहन स्थानमें रहनेवाले, पुरातन देवको अध्यात्मयोगकी प्राप्तिद्वारा जानकर धीर (बुद्धिमान्) पुरुष हर्ष-शोकको त्याग देता है ॥ १२ ॥

तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनम् अस्येति दुर्दर्शोऽतिसूक्ष्मत्वात् गूढं गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्नमित्येतत्, गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात्, गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमेऽनेकानर्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम्। यत एवं गूढमनुप्रविष्टो गुहाहितश्चातो गह्वरेष्ठः; अतो दुर्दर्शः।

अति सूक्ष्म होनेके कारण दुर्दर्श—जिसका कठिनतासे दर्शन हो सके उसे दुर्दर्श कहते हैं, गूढ अर्थात् गहन स्थानमें अनुप्रविष्ट यानी शब्दादि प्राकृत विषयविकाररूप विज्ञानसे छिपे हुए, गुहा—बुद्धिमें उपलब्ध होनेके कारण उसीमें स्थित तथा गह्वरेष्ठ—गह्वर—विषम यानी अनेक अनर्थोंसे सङ्कुलित स्थानमें रहनेवाले [देवको जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोकको त्याग देता है]। क्योंकि आत्मा इस प्रकार गूढ स्थानमें अनुप्रविष्ट और बुद्धिमें स्थित है इसलिये वह गह्वरेष्ठ है तथा गह्वरेष्ठ होनेके कारण ही दुर्दर्श है।

तं पुराणं पुरातनमध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम् अध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयोः अभावाज्जहाति ॥१२॥

उस पुराण यानी पुरातन देवको अध्यात्मयोगकी—चित्तको विषयोंसे हटाकर आत्मामें लगा देना अध्यात्मयोग है, उसकी प्राप्तिद्वारा जानकर धीर पुरुष अपने उत्कर्ष-अपकर्षका अभाव हो जानेके कारण हर्ष-शोकका परित्याग कर देता है॥ १२॥

किं च—

इसके सिवा—

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा
विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर और उसका भली प्रकार ग्रहण कर धर्मी आत्माको देहादि संघातसे पृथक् करके इस सूक्ष्म आत्माको पाकर तथा इस मोदनीयकी उपलब्धि कर अति आनन्दित हो जाता है । मैं [तुझ] नचिकेताको खुले हुए ब्रह्मभवनवाला समझता हूँ [अर्थात् हे नचिकेतः ! मेरे विचारसे तेरे लिये मोक्षका द्वार खुला हुआ है] ॥१३॥

एतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाचार्यप्रसादात्सम्यगात्मभावेन परिगृह्योपादाय मर्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्योद्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादेः अणुं सूक्ष्ममेतमात्मानम् आप्य प्राप्य स मर्त्यो विद्वान्मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा । तदेतदेवंविधं ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं त्वां मन्य इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

इस आत्मतत्त्वको, जिसका कि अब मैं वर्णन करूँगा, उसे सुनकर—आचार्यकी कृपासे भली प्रकार आत्मभावसे ग्रहण कर मरणधर्मा मनुष्य इस धर्म्य—धर्मविशिष्ट आत्माको शरीरादिसे उद्यमन करके यानी पृथक् करके तथा इस अणु अर्थात् सूक्ष्म और मोदनीय—हर्षयोग्य आत्माको उपलब्ध कर वह मरणशील विद्वान् आनन्दित हो जाता है । इस प्रकारके तुझ नचिकेताके प्रति मैं ब्रह्मभवनको खुले द्वारवाला अर्थात् अभिमुख हुआ मानता हूँ । अभिप्राय यह कि मैं तुझे मोक्षके योग्य समझता हूँ ॥ १३ ॥

यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन्मां प्रति—

[नचिकेता बोला—] भगवन् ! यदि मैं योग्य हूँ और आप मुझपर प्रसन्न हैं तो—

सर्वातीतवस्तुविषयक प्रश्न

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥

जो धर्मसे पृथक्, अधर्मसे पृथक् तथा इस कार्यकारणरूप प्रपञ्चसे भी पृथक् है और जो भूत एवं भविष्यत्से भी अन्य है—ऐसा आप जिसे देखते हैं वही मुझसे कहिये ॥ १४ ॥

अन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठानात्तत्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः । तथान्यत्र अधर्मात्तथान्यत्रास्मात्कृताकृतात् कृतं कार्यमकृतं कारणमस्माद् अन्यत्र । किं चान्यत्र भूताच्चातिक्रान्तात्कालाद्भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात्; कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः । यद् ईदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि तद्वद मह्यम् ॥१४॥

जो धर्म यानी शास्त्रीय धर्मानुष्ठान, उसके फल तथा [कर्ता-कारण आदि] कारकोंसे अन्यत्र—पृथग्भूत है, तथा जो अधर्मसे भिन्न है और कृत—कार्य तथा अकृत—कारण इस प्रकार इस कार्य-कारण (स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च) से भी पृथक् है, यही नहीं भूत अर्थात् बीते हुए, भव्य—आगामी तथा वर्तमान कालसे भी अन्यत्र है; तात्पर्य यह है कि जो तीनों कालोंसे परिच्छिन्न नहीं है। ऐसी जिस सम्पूर्ण व्यवहार-विषयसे अतीत वस्तुको आप देखते हैं वह मुझसे कहिये ॥ १४ ॥

इत्येवं पृष्टवते मृत्युरुवाच पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्—

इस प्रकार पूछते हुए नचिकेतासे, पूछी हुई वस्तु तथा उसके अन्य विशेषणको बतलानेकी इच्छासे यमराजने कहा—

ओङ्कारोपदेश

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५॥

सारे वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, समस्त तपोंको जिसकी प्राप्तिके साधक कहते हैं, जिसकी इच्छासे [मुमुक्षुजन] ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ। 'ॐ' यही वह पद है ॥ १५ ॥

सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनामनन्ति प्रतिपादयन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुम् इच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि।

समस्त वेद जिस पद अर्थात् गमनीय स्थानका अविभागसे यानी एक रूपसे आमनन—प्रतिपादन करते हैं, समस्त तपोंको भी जिसके लिये कहते हैं अर्थात् वे जिस स्थानकी प्राप्तिके लिये हैं, जिसकी इच्छासे गुरुकुलवासरूप ब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्मप्राप्तिमें उपयोगी कोई और साधन करते हैं, उस पदको जिसे कि तू जानना चाहता है, मैं संक्षेपमें कहता हूँ।

ओमित्येतत् । तदेतत्पदं यद्बुभुत्सितं त्वया । यदेतद् ओमित्योंशब्दवाच्यमोंशब्दप्रतीकं च ॥ १५ ॥

'ॐ' यही वह पद है । यह जो 'ॐ' है यानी जो ॐ शब्दका वाच्य और ॐ ही जिसका प्रतीक है वही वह पद है जिसे तू जानना चाहता है ॥ १५ ॥

अतः—

इसलिये—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है, इस अक्षरको ही जानकर जो जिसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है ॥ १६ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्ध्येवाक्षरं परं च । तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम्, एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वोपास्यब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तद्भवति । परं चेज्ज्ञातव्यमपरं चेत्प्राप्तव्यम् ॥ १६ ॥

यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है और यह अक्षर ही पर ब्रह्म है । यह अक्षर उन दोनोंहीका प्रतीक है । इस अक्षरको ही 'यही उपास्य ब्रह्म है' ऐसा जानकर जो पर अथवा अपर जिस ब्रह्मकी इच्छा करता है उसे वही प्राप्त हो जाता है । यदि उसका उपास्य पर ब्रह्म हो तो वह केवल जाना जा सकता है और यदि अपर ब्रह्म हो तो प्राप्त किया जा सकता है ॥ १६ ॥

यत एवमतः—

क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये—

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही पर आलम्बन है । इस आलम्बनको जानकर पुरुष ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है ॥ १७ ॥

एतदालम्बनमेतद्ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्यतमम् । एतदालम्बनं परमपरं च परापरब्रह्मविषयत्वात् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते परस्मिन् ब्रह्मणि । परस्मिंश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः ॥१७॥

यह [ओंकाररूप] आलम्बन ब्रह्मप्राप्तिके [गायत्री आदि] सभी आलम्बनोंमें श्रेष्ठ यानी सबसे अधिक प्रशंसनीय है । पर और अपर ब्रह्मविषयक होनेसे यह आलम्बन पर और अपररूप है । तात्पर्य यह है कि इस आलम्बनको जानकर साधक ब्रह्मलोक अर्थात् परब्रह्ममें स्थित होकर महिमान्वित होता है तथा अपर ब्रह्ममें ब्रह्मत्वको प्राप्त होकर ब्रह्मके समान उपासनीय होता है ॥ १७ ॥

अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्यात्मनोऽशेषविशेषरहितस्य आलम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोङ्कारो निर्दिष्टः; अपरस्य च ब्रह्मणो मन्दमध्यमप्रतिपत्तॄन्प्रति । अथेदानीं तस्योङ्कारालम्बनस्यात्मनः साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिषया इदमुच्यते—

उपर्युक्त 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि श्लोकसे नचिकेताद्वारा पूछे गये सर्वविशेषरहित आत्माके तथा मन्द और मध्यम उपासकोंके लिये अपर ब्रह्मके प्रतीक और आलम्बनरूपसे ओंकारका निर्देश किया गया । अब, जिसका आलम्बन ओंकार है उस आत्माके स्वरूपका साक्षात् निर्धारण करनेकी इच्छासे यह कहा जाता है—

आत्मस्वरूपनिरूपण

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

यह विपश्चित्—मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है; यह न तो किसी अन्य कारणसे ही उत्पन्न हुआ है और न स्वतः ही कुछ [अर्थान्तररूपसे] बना है। यह अजन्मा, नित्य (सदासे वर्तमान), शाश्वत (सर्वदा रहनेवाला) और पुरातन है तथा शरीरके मारे जानेपर भी स्वयं नहीं मरता ॥ १८ ॥

न जायते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्य अनेकविक्रियाः तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहात्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति। विपश्चिन्मेधावी अविपरिलुप्तचैतन्यस्वभावात्।

यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता और न मरता ही है। उत्पन्न होनेवाली अनित्य वस्तुके अनेक विकार होते हैं। यहाँ—आत्मामें सब विकारोंका प्रतिषेध करनेके लिये 'न जायते म्रियते वा' ऐसा कहकर सबसे पहले उनमेंसे जन्म और विनाशरूप आदि और अन्तके विकारोंका निषेध किया जाता है। कभी लुप्त न होनेवाले चैतन्यरूप स्वभावके कारण आत्मा विपश्चित् यानी मेधावी है।

किं च नायमात्मा कुतश्चित् कारणान्तराद्बभूव। स्वस्माच्च आत्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। अतोऽयमात्माजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते; अयं

तथा यह आत्मा कहींसे अर्थात् किसी अन्य कारणसे उत्पन्न नहीं हुआ और न अर्थान्तररूपसे स्वयं अपनेसे ही हुआ है। इसलिये यह आत्मा अजन्मा, नित्य और शाश्वत यानी क्षयरहित है; क्योंकि जो अशाश्वत होता है वही क्षीण हुआ

तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुरापि नव एवेति । यो ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिः । तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः ।

यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे । तत्स्थोऽप्याकाशवदेव ॥१८॥

करता है । यह तो शाश्वत है, इसलिये पुराण भी है यानी प्राचीन होकर भी नवीन ही है । क्योंकि जो पदार्थ अवयवोंके उपचय (वृद्धि) से निष्पन्न किया जाता है वही 'इस समय नया है' ऐसा कहा जाता है; जैसे घड़ा आदि । किन्तु आत्मा उससे विपरीत स्वभाववाला है; अर्थात् वह पुराण यानी वृद्धिरहित है ।

क्योंकि ऐसा है; इसलिये शस्त्रादिद्वारा शरीरके मारे जानेपर भी वह नहीं मरता—उसकी हिंसा नहीं होती । अर्थात् शरीरमें रहकर भी वह आकाशके समान निर्लिप्त ही है ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳहन्ति न हन्यते ॥१९॥

यदि मारनेवाला आत्माको मारनेका विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मारा हुआ समझता है तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते; क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

एवं भूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनम्

ऐसे प्रकारके आत्माको भी जो देहमात्रको ही आत्मा समझनेवाला किसीको मारनेवाला पुरुष यदि किसीको मारनेका विचार करता

इति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहम् इत्युभावपि तौ न विजानीतः स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव । अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य । श्रुतिप्रामाण्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥१९॥

है—यह सोचता है कि मैं इसे मारूँगा, तथा दूसरा मारा जानेवाला भी यह समझकर कि 'मैं मारा गया हूँ' अपने (आत्मा) को मारा गया मानता है तो वे दोनों ही अपने आत्माको नहीं जानते; क्योंकि आत्मा अविकारी है, इसलिये वह मार नहीं सकता और आकाशके समान अविकारी होनेसे ही मारा भी नहीं जा सकता । अतः धर्माधर्मादिरूप संसार अनात्मज्ञसे ही सम्बन्ध रखता है, ब्रह्मज्ञसे नहीं । क्योंकि श्रुतिप्रमाण और युक्तिसे भी ब्रह्मज्ञानीद्वारा धर्म-अधर्म आदि नहीं बन सकते ॥ १९ ॥

कथं पुनरात्मानं जानाति इत्युच्यते—

तो फिर मुमुक्षु पुरुष आत्माको किस रूपसे जानता है ? इसपर कहते हैं—

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

यह अणुसे भी अणुतर और महान्‌से भी महत्तर आत्मा जीवकी हृदयरूप गुहामें स्थित है । निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियोंके प्रसादसे आत्माकी उस महिमाको देखता है और शोकरहित हो जाता है ॥ २० ॥

अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः । महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरः पृथिव्यादेः। अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवात्मना नित्येन आत्मवत्संभवति । तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्संपद्यते । तस्माद् असावेवात्माणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनामरूपवस्तूपाधिकत्वात् । स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः ।

आत्मा अणुसे भी अणुतर अर्थात् श्यामाक आदि सूक्ष्म पदार्थोंसे भी सूक्ष्मतर तथा महान्‌से भी महत्तर यानी पृथिवी आदि महत्परिमाणवाले पदार्थोंसे भी महत्तर है । संसारमें अणु अथवा महत्परिमाणवाली जो कुछ वस्तु है वह उस नित्यस्वरूप आत्मासे ही आत्मवान् (स्वरूप-सत्तायुक्त) हो सकती है । आत्मासे परित्यक्त हो जानेपर वह सत्ताशून्य हो जाती है । अतः यह आत्मा ही अणु-से-अणुतर और महान्-से-महत्तर है; क्योंकि नामरूपवाली सभी वस्तुएँ इसकी उपाधि हैं । वह आत्मा ही ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त इस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायकी गुहा—हृदयमें निहित है अर्थात् अन्तरात्म-रूपसे स्थित है ।

तमात्मानं दर्शनश्रवणमनन-विज्ञानलिङ्गमक्रतुरकामो दृष्टा-दृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः । यदा चैवं तदा मनआदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां

देखना, सुनना, मनन करना और जानना—ये जिसके लिङ्ग हैं उस आत्माको अक्रतु—निष्काम पुरुष अर्थात् जिसकी बुद्धि दृष्ट और अदृष्ट बाह्य विषयोंसे उपरत हो गयी है; क्योंकि जिस समय ऐसी स्थिति होती है उसी समय मन आदि इन्द्रियाँ, जो कि शरीर-को धारण करनेके कारण धातु कहलाती हैं, प्रसन्न होती हैं—सो,

प्रसादादात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यत्ययम् अहमस्मीति साक्षाद्विजानाति । ततो वीतशोको भवति ॥२०॥

इन धातुओंके प्रसादसे वह अपने आत्माकी कर्मनिमित्तक वृद्धि और क्षयसे रहित महिमाको देखता है; अर्थात् इस बातको साक्षात् जानता है कि 'मैं यह हूँ'। [ऐसा जानकर] फिर वह शोकरहित हो जाता है॥२०॥

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्मात्—

अन्यथा सकाम प्राकृत पुरुषोंके लिये यह आत्मा बड़ा दुर्विज्ञेय है; क्योंकि—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

वह स्थित हुआ भी दूरतक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। मद (हर्ष) से युक्त और मदसे रहित उस देवको भला मेरे सिवा और कौन जान सकता है ? ॥ २१ ॥

आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन् दूरं व्रजति । शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ?

आसीन—अवस्थित अर्थात् अचल होकर भी वह दूर चला जाता है तथा शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है । इस प्रकार वह आत्मा—देव समद और अमद यानी हर्षसहित और हर्षरहित—विरुद्ध धर्मवाला है । अतः जाननेमें न आ सकनेके कारण उस मदयुक्त और मदरहित देवको मेरे सिवा और कौन जान सकता है ?

असदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य सुविज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यानित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधिकत्वाद्विरुद्धधर्मवत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते। अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति।

करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्य उपशमः शयानस्य भवति। यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञानत्वात् सर्वतो यातीव यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित एव सन्मनआदिगतिषु तदुपाधिकत्वाद्दूरं व्रजतीव। स चेहैव वर्तते ॥ २१ ॥

यह आत्मा हम-जैसे सूक्ष्म-बुद्धि विद्वानोंके लिये ही सुविज्ञेय है। स्थिति-गति तथा नित्य और अनित्य आदि अनेक विरुद्धधर्मरूप उपाधिवाला तथा विपरीतधर्मयुक्त होनेसे यह चिन्तामणिके समान विश्वरूप-सा भासता है। अतः 'मेरे सिवा उसे और कौन जानने योग्य है' ऐसा कहकर उसकी दुर्विज्ञेयता दिखलाते हैं।

इन्द्रियोंका शान्त हो जाना शयन है। शयन करनेवाले पुरुषका इन्द्रियजनित एकदेशसम्बन्धी विज्ञान शान्त हो जाता है। जिस समय ऐसी अवस्था होती है उस समय केवल सामान्य विज्ञान होनेसे वह सब ओर जाता हुआ-सा जान पड़ता है; और जब वह विशेष विज्ञानमें स्थित होता है तो स्वरूपसे अविचल रहकर भी मन आदि उपाधियोंवाला होनेसे उन मन आदिकी गतियोंमें जाता हुआ-सा जान पड़ता है। वस्तुतः तो वह यहीं रहता है ॥ २१ ॥

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—

तथा अब यह भी दिखलाते हैं कि उस आत्माके ज्ञानसे शोकका अन्त हो जाता है—

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

जो शरीरोंमें शरीररहित तथा अनित्योंमें नित्यस्वरूप है उस महान् और सर्वव्यापक आत्माको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

अशरीरं स्वेन रूपेण आकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादिशरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत्, महान्तं महत्त्वस्यापेक्षिकत्वशङ्कायामाह— विभुं व्यापिनमात्मानम्—आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम्, आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्वा अयमहमिति धीरो धीमान्न शोचति । न ह्येवंविधस्यात्मविदः शोकोपपत्तिः ॥२२॥

आत्मा अपने स्वरूपसे आकाशके समान है, अतः देव, पितृ और मनुष्यादि शरीरोंमें अशरीर है, अनवस्थित—अवस्थितिरहित यानी अनित्योंमें अवस्थित—नित्य अर्थात् अविकारी है, तथा महान् है—[किससे महान् है—इस प्रकार] महत्त्वमें इतरकी अपेक्षा होनेकी शङ्का करके कहते हैं उस विभु अर्थात् व्यापक आत्माको जानकर यहाँ 'आत्मा' शब्द अपनेसे ब्रह्मकी अभिन्नता दिखानेके लिये लिया गया है; क्योंकि 'आत्मा' शब्द प्रत्यगात्मविषयमें ही मुख्य है—ऐसे उस आत्माको 'यही मैं हूँ' ऐसा जानकर धीर—बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता; क्योंकि इस प्रकारके आत्मवेत्तामें शोक बन ही नहीं सकता ॥ २२ ॥

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—

यद्यपि यह आत्मा दुर्विज्ञेय है तो भी उपाय करनेसे तो सुविज्ञेय ही है; इसपर कहते हैं—

आत्मा आत्मकृपासाध्य है

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम् ॥२३॥

यह आत्मा वेदाध्ययनद्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणाशक्ति अथवा अधिक श्रवणसे ही प्राप्त हो सकता है। यह [साधक] जिस [आत्मा] का वरण करता है उस [आत्मा] से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूपको अभिव्यक्त कर देता है ॥ २३ ॥

नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते—

यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानम् एव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः।

यह आत्मा प्रवचन अर्थात् अनेकों वेदोंको स्वीकार करनेसे प्राप्त यानी विदित होने योग्य नहीं है, न मेधा यानी ग्रन्थार्थ-धारणकी शक्तिसे ही जाना जा सकता है और न केवल बहुत-सा श्रवण करनेसे ही। तो फिर किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इसपर कहते हैं—

यह साधक जिस आत्माका वरण--प्रार्थना करता है उस वरण करनेवाले आत्माद्वारा यह आत्मा स्वयं ही प्राप्त किया जाता है—अर्थात् उससे ही 'यह ऐसा है' इस प्रकार जाना जाता है। तात्पर्य यह कि केवल आत्म-लाभके लिये ही प्रार्थना करनेवाले निष्काम पुरुषको आत्माके द्वारा ही आत्माकी उपलब्धि होती है।

कथं लभ्यत इत्युच्यते—तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यम् इत्यर्थः ॥२३॥

किस प्रकार उपलब्ध होता है, इसपर कहते हैं—उस आत्मकामीके प्रति यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप अर्थात् अपने याथात्म्यको विवृत—प्रकाशित कर देता है ॥ २३ ॥

किं चान्यत्—

इसके सिवा दूसरी बात यह भी है—

आत्मज्ञानका अनधिकारी

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

जो पापकर्मोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है वह इसे आत्मज्ञानद्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है ॥ २४ ॥

न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्पापकर्मणोऽविरतः अनुपरतो नापीन्द्रियलौल्याद् अशान्तोऽनुपरतो नाप्यसमाहितोऽनेकाग्रमना विक्षिप्तचित्तः, समाहितचित्तोऽपि सन्समाधान-

जो दुश्चरित—प्रतिषिद्ध कर्म यानी श्रुति-स्मृतिसे अविहित पापकर्मसे अविरत—अनुपरत है वह नहीं, जो इन्द्रियोंकी चञ्चलताके कारण अशान्त यानी उपरतिशून्य है वह भी नहीं, जो असमाहित अर्थात् जिसका चित्त एकाग्र नहीं है—जो विक्षिप्तचित्त है वह भी नहीं, तथा समाहितचित्त होनेपर भी उस एकाग्रताके फलका इच्छुक

फलार्थित्वान्नाप्यशान्तमानसो व्यापृतचित्तः प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात् । यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तम् आत्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२४॥

होनेके कारण जो अशान्तचित्त है—जिसका चित्त निरन्तर व्यापार करता रहता है वह पुरुष भी इस प्रस्तुत आत्माको केवल आत्मज्ञानद्वारा नहीं प्राप्त कर सकता। अर्थात् जो पापकर्म और इन्द्रियोंकी चञ्चलतासे हटा हुआ तथा समाहितचित्त और उस समाधानके फलसे भी उपशान्तमना है वह आचार्यवान् साधक ही ब्रह्मज्ञानद्वारा उपर्युक्त आत्माको प्राप्त कर सकता है ॥ २४ ॥

यस्त्वनेवंभूतः—

किन्तु जो (साधक) ऐसा नहीं है [उसके विषयमें श्रुति कहती है]—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

जिस आत्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों ओदन—भात हैं तथा मृत्यु जिसका उपसेचन (शाकादि) है वह जहाँ है उसे कौन [अज्ञ पुरुष] इस प्रकार (उपर्युक्त साधनसम्पन्न अधिकारीके समान) जान सकता है ? ॥ २५ ॥

यस्यात्मनो ब्रह्मक्षत्रे सर्वधर्मविधारके अपि सर्वत्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः स्याताम्,

सम्पूर्ण धर्मोंका धारण करनेवाले और सबके रक्षक होनेपर भी ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों वर्ण जिस आत्माके ओदन—भोजन हैं

सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनम् इवौदनस्य, अशनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन् क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः, वेद विजानाति यत्र स आत्मेति ॥ २५ ॥

तथा सबका हरण करनेवाला होनेपर भी मृत्यु जिसका भातके लिये उपसेचन (शाकादि) के समान है, अर्थात् भोजनके लिये भी पर्याप्त नहीं है, उस आत्माको, जहाँ कि वह है, ऐसा कौन पूर्वोक्त साधनोंसे रहित और साधारण बुद्धिवाला पुरुष है जो इस प्रकार—उपर्युक्त साधनसम्पन्न पुरुषके समान जान सके ? ॥२५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥



तृतीया वल्ली

प्राप्ता और प्राप्तव्य-भेदसे दो आत्मा

ऋतं पिबन्तावित्यस्या वल्ल्याः सम्बन्धः— विद्याविद्ये नानाविरुद्धफले इत्युपन्यस्ते न तु सफले ते यथावन्निर्णीते; तन्निर्णयार्था रथरूपककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम्। एवं च प्राप्तृप्राप्यगन्तृगन्तव्यविवेकार्थं द्वावात्मानौ उपन्यस्येते—

इस 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि तृतीया वल्लीका सम्बन्ध इस प्रकार है— ऊपर विद्या और अविद्या नाना प्रकारके विरुद्ध धर्मोंवाली बतलायी गयी हैं; किन्तु उनका फलसहित यथावत् निर्णय नहीं किया गया। उनका निर्णय करनेके लिये ही [इस वल्लीमें] रथके रूपककी कल्पना की गयी है। ऐसा करनेसे उन्हें [अर्थात् विद्या-अविद्याको] समझनेमें सुगमता हो जाती है। इसी प्रकार प्राप्त करनेवाले और प्राप्तव्य वस्तु तथा गमन करनेवाले और गन्तव्य लक्ष्यका विवेक करनेके लिये दो आत्माओंका उपन्यास करते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि शरीरमें बुद्धिरूप गुहाके भीतर प्रकृष्ट ब्रह्मस्थानमें प्रविष्ट हुए अपने कर्मफलको भोगनेवाले छाया और घामके समान परस्पर विलक्षण दो [तत्त्व] हैं। यही बात जिन्होंने तीन बार नाचिकेताग्निका चयन किया है वे पञ्चाग्निकी उपासना करनेवाले भी कहते हैं ॥ १ ॥

ऋतं सत्यमवश्यंभावित्वात् कर्मफलं पिबन्तौ, एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः; तथापि पातृसम्बन्धात्पिबन्तौ इत्युच्यते छत्रिन्यायेन, सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतम् इति पूर्वेण संबन्धः; लोकेऽस्मिन् शरीरे गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ, परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम्, परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्धम् । तस्मिन्हि परं ब्रह्मोपलभ्यते, अतस्तस्मिन्परमे परार्धे हार्दाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः ।

ऋत अर्थात् अवश्यम्भावी होनेके कारण सत्य कर्मफलका पान करनेवाले दो आत्मा, जिनमेंसे केवल एक कर्मफलका पान–भोग करता है, दूसरा नहीं; तो भी पान करनेवालेसे सम्बन्ध होनेके कारण यहाँ छत्रिन्यायसे* दोनोंहीके लिये 'पिबन्तौ' इस द्विवचनका प्रयोग हुआ है, सुकृत अर्थात् अपने किये हुए कर्मके फलको भोगते हुए, यहाँ 'सुकृतस्य' शब्दका पूर्ववर्ती 'ऋतम्' शब्दके साथ सम्बन्ध है । लोक अर्थात् इस शरीरमें गुहा–बुद्धिके भीतर परम—बाह्य देहाश्रित आकाशस्थानकी अपेक्षा उत्कृष्ट परब्रह्मके अर्ध यानी स्थानमें प्रवेश किये हुए हैं; क्योंकि उसीमें परब्रह्मकी उपलब्धि होती है । अतः तात्पर्य यह है कि उस परम परार्ध यानी हृदयाकाशमें प्रवेश किये हुए हैं ।

तौ च च्छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन

वे दोनों संसारी और असंसारी होनेके कारण छाया और धूपके

* जहाँ बहुत-से आदमी जा रहे हों और उनमेंसे किसी एकके पास छाता हो तो दूरसे देखनेवाला पुरुष उन्हें बतलानेके लिये 'देखो, वे छातेवाले लोग जा रहे हैं' ऐसे वाक्यका प्रयोग करता है । इस प्रकार एक छातेवालेसे सम्बद्ध होनेके कारण वह सारा समूह ही छातेवाला कहा जाता है । इसे 'छत्रिन्याय' कहते हैं । इसी प्रकार यहाँ भोक्ता जीवके सम्बन्धसे ईश्वरको भी भोक्ता कहा गया है ।

ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति। न केवलमकर्मिण एव वदन्ति। पञ्चाग्नयो गृहस्था ये च त्रिणाचिकेताः त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

समान परस्पर विलक्षण हैं—ऐसा ब्रह्मवेत्तालोग वर्णन करते—कहते हैं। [इस प्रकार] केवल अकर्मी ही ऐसा नहीं कहते बल्कि जो त्रिणाचिकेत हैं—जिन्होंने तीन वार नाचिकेत अग्निका चयन किया है वे पञ्चाग्निकी उपासना करनेवाले गृहस्थ भी ऐसा ही कहते हैं ॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳशकेमहि ॥ २ ॥

जो यजन करनेवालोंके लिये सेतुके समान है उस नाचिकेत अग्निको तथा जो भयशून्य है और संसारको पार करनेकी इच्छावालोंका परम आश्रय है उस अक्षरब्रह्मको जाननेमें हम समर्थ हों ॥ २ ॥

यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंतरणार्थत्वान्नाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः। किं च यच्चाभयं भयशून्यं संसारपारं तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः। परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये

दुःखको पार करनेका साधन होनेसे जो नाचिकेत अग्नि यजमान अर्थात् कर्मियोंके लिये सेतुके समान होनेके कारण सेतु है उसे हम जानने और चयन करनेमें समर्थ हों। तथा जो भयरहित है, और संसारके पार जानेकी इच्छावाले ब्रह्मवेत्ताओंका परम आश्रय अविनाशी आत्मा नामक ब्रह्म है उसे भी हम जाननेमें समर्थ हो सकें। अर्थात् कर्मवेत्ताका आश्रय अपर ब्रह्म और ब्रह्मवेत्ताका आश्रय

वेदितव्ये इति वाक्यार्थः । एतयोरेव ह्युपन्यासः कृत ऋतं पिबन्ताविति ॥ २ ॥

परब्रह्म—ये दोनों ही ज्ञातव्य हैं—यह इस वाक्यका अर्थ है । 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि मन्त्रसे इन्हीं दोनों [ब्रह्मों] का उल्लेख किया गया है ॥ २ ॥

तत्र य उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते—

उनमें जो उपाधिपरिच्छिन्न संसारी मोक्ष एवं संसारके प्रति गमन करनेके लिये विद्या और अविद्याका अधिकारी है उसके लिये उन दोनोंके प्रति जानेके साधनस्वरूप रथकी कल्पना की जाती है—

शरीरादिसे सम्बद्ध रथादि रूपक

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

तू आत्माको रथी जान, शरीरको रथ समझ, बुद्धिको सारथि जान और मनको लगाम समझ ॥ ३ ॥

तत्र तमात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि । शरीरं रथमेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य । बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृ-

उनमें उस आत्माको—कर्मफल भोगनेवाले संसारीको रथी—रथका स्वामी जान, और शरीरको तो रथ ही समझ; क्योंकि शरीर रथमें बँधे हुए अश्वरूप इन्द्रियगणसे खींचा जाता है । तथा निश्चय करना ही जिसका लक्षण है उस बुद्धिको सारथि जान; क्योंकि सारथिरूप

प्रधानत्वाच्छरीरस्य सारथिनेतृप्रधान इव रथः । सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण । मनः संकल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि । मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः ॥ ३ ॥

नेता ही जिसमें प्रधान है उस रथके समान शरीर बुद्धिरूप नेताकी प्रधानतावाला है; क्योंकि देहके सभी कार्य प्रायः बुद्धिके ही कर्तव्य हैं । और सङ्कल्प-विकल्पादिरूप मनको प्रग्रह—लगाम समझ; क्योंकि जिस प्रकार घोड़े लगामसे नियन्त्रित होकर चलते हैं उसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियाँ मनसे नियन्त्रित होकर ही अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको घोड़े बतलाते हैं तथा उनके घोड़ेरूपसे कल्पित किये जानेपर विषयोंको उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रिय एवं मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं ॥ ४ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयान् आहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात् । तेष्वेव इन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान्रूपादीन्विषयान् विद्धि । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः ।

रथकी कल्पना करनेमें कुशल पुरुषोंने चक्षु आदि इन्द्रियोंको घोड़े बतलाया है; क्योंकि [इन्द्रिय और घोड़ोंकी क्रमशः] शरीर और रथको खींचनेमें समानता है । इस प्रकार उन इन्द्रियोंको घोड़ेरूपसे परिकल्पित किये जानेपर रूपादि विषयोंको उनके मार्ग जानो तथा शरीर, इन्द्रिय और मनके सहित अर्थात् उनसे युक्त आत्माको मनीषी—विवेकी पुरुष 'यह भोक्ता—संसारी है' ऐसा बतलाते हैं ।

न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम् । तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति—"ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७) इत्यादि। एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्यात्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात् ॥ ४ ॥

केवल (शुद्ध) आत्मा तो भोक्ता है नहीं, उसका भोक्तृत्व तो बुद्धि आदि उपाधिके कारण ही है। इसी प्रकार "ध्यान करता हुआ-सा, चेष्टा करता हुआ-सा" इत्यादि एक दूसरी श्रुति भी केवल आत्माका अभोक्तृत्व ही दिखलाती है। ऐसा होनेपर ही आगे कही जानेवाली रथकल्पनासे उस वैष्णव-पदकी आत्मभावसे प्रतिपत्ति (प्राप्ति) बन सकती है—और किसी प्रकार नहीं; क्योंकि स्वभाव कभी नहीं बदल सकता ॥ ४ ॥



अविवेकीकी विवशता

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

किन्तु जो [बुद्धिरूप सारथि] सर्वदा अविवेकी एवं असंयत चित्तसे युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इसी प्रकार नहीं रहतीं जैसे सारथिके अधीन दुष्ट घोड़े ॥ ५ ॥

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेन

किन्तु ऐसा होनेपर भी जो बुद्धिरूप सारथि अविज्ञानवान्—अकुशल अर्थात् रथसञ्चालनमें अकुशल अन्य सारथिके समान [इन्द्रियरूप घोड़ोंकी] प्रवृत्ति-निवृत्तिके विवेकसे रहित है, जो

अप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति तस्याकुशलस्य बुद्धिसारथेः इन्द्रियाण्यश्वस्थानीयान्यवश्यानि अशक्यनिवारणानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति ॥ ५ ॥

सर्वदा प्रग्रह (लगाम) स्थानीय अयुक्त—अगृहीत अर्थात् विक्षिप्त चित्तसे युक्त है उस अनिपुण बुद्धिरूप सारथिके इन्द्रियरूप घोड़े [रथादि हाँकनेवाले] अन्य सारथिके दुष्ट अर्थात् बेकाबू घोड़ोंके समान अवश्य यानी जिनका निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे हो जाते हैं ॥ ५ ॥

विवेकीकी स्वाधीनता

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

परन्तु जो (बुद्धिरूप सारथि) कुशल और सर्वदा समाहित चित्तसे युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं जैसे सारथिके अधीन अच्छे घोड़े ॥ ६ ॥

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ॥ ६ ॥

किन्तु जो [बुद्धिरूप सारथि] पूर्वोक्त सारथिसे विपरीत विज्ञानवान् (कुशल)—मनको नियन्त्रित रखनेवाला अर्थात् संयतचित्त होता है उसके लिये अश्वस्थानीय इन्द्रियाँ प्रवृत्त और निवृत्त किये जानेमें इस प्रकार शक्य होती हैं जैसे सारथिके लिये अच्छे घोड़े ॥ ६ ॥

तस्य पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह—

उस पूर्वोक्त अविज्ञानवान् बुद्धिरूप सारथिवाले रथीके लिये श्रुति यह फल बतलाती है—

अविवेकीकी संसारप्राप्ति

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

किन्तु जो अविज्ञानवान्, अनिगृहीतचित्त और सदा अपवित्र रहनेवाला होता है वह उस पदको प्राप्त नहीं कर सकता, प्रत्युत संसारको ही प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवति अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः स तत एवाशुचिः सदैव, न स रथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदम् आप्नोति तेन सारथिना । न केवलं कैवल्यं नाप्नोति संसारं च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति ॥ ७ ॥

किन्तु जो अविज्ञानवान्, अमनस्क—असंयतचित्त और इसीलिये सदा अपवित्र रहनेवाला होता है उस सारथिके द्वारा वह [जीवरूप] रथी उस पूर्वोक्त अक्षर परम पदको प्राप्त नहीं कर सकता। वह कैवल्यको प्राप्त नहीं होता—केवल इतना ही नहीं, बल्कि जन्म-मरणरूप संसारको भी प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

विवेकीकी परमपदप्राप्ति

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥

किन्तु जो विज्ञानवान्, संयतचित्त और सदा पवित्र रहनेवाला होता है वह तो उस पदको प्राप्त कर लेता है जहाँसे वह फिर उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान् विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वान्

किन्तु जो दूसरा रथी अर्थात् विद्वान् विज्ञानवान्—कुशल सारथि-

इत्येतत्; युक्तमनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति, यस्मादाप्तात्पदाद् अप्रच्युतः सन्भूयः पुनर्न जायते संसारे ॥ ८ ॥

से युक्त, समनस्क—युक्तचित्त और इसीलिये सदा पवित्र रहनेवाला होता है वह तो उसी पदको प्राप्त कर लेता है, जिस प्राप्त हुए पदसे च्युत न होकर वह फिर संसारमें उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

किं तत्पदमित्याह—

वह पद क्या है ? इसपर कहते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धि-सारथिसे युक्त और मनको वशमें रखनेवाला होता है वह संसारमार्गसे पार होकर उस विष्णु (व्यापक परमात्मा) के परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान्सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेव अधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः।तद्विष्णोः व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्यदसौ आप्नोति विद्वान् ॥ ९ ॥

जो पूर्वोक्त विद्वान् पुरुष विवेकयुक्त बुद्धि-सारथिसे युक्त मनोनिग्रहवान् यानी निगृहीतचित्त—एकाग्र मनवाला होता हुआ पवित्र है वह संसारगतिके पारको यानी अवश्यप्राप्तव्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है; अर्थात् सम्पूर्ण संसार-बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है । उस विष्णु यानी वासुदेव नामक सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्माका जो परम—उत्कृष्ट पद—स्थान अर्थात् स्वरूप है उसे वह विद्वान् प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्य इन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतया अधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदम् आरभ्यते—

अब, जो प्राप्तव्य परम पद है उसका स्थूल इन्द्रियोंसे आरम्भ करके सूक्ष्मत्वके तारतम्य-क्रमसे प्रत्यगात्मस्वरूपसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, इसीलिये आगेका कथन आरम्भ किया जाता है—

इन्द्रियादिका तारतम्य

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥

इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन उत्कृष्ट है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) उत्कृष्ट है ॥ १० ॥

स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनाय आरब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च ।

तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः । मनःशब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मं संकल्पविकल्पाद्यारम्भकत्वात् । मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा

इन्द्रियाँ तो स्थूल हैं । वे जिन शब्द-स्पर्शादि विषयोंद्वारा अपनेको प्रकाशित करनेके लिये बनायी गयी हैं वे विषय अपने कार्यभूत इन्द्रियवर्गसे पर—सूक्ष्म, महान् एवं प्रत्यगात्मस्वरूप हैं ।

उन विषयोंसे भी पर—सूक्ष्म, महान् तथा नित्यस्वरूपभूत मन है, जो कि 'मन' शब्दका वाच्य और मनका आरम्भक भूतसूक्ष्म है; क्योंकि वही सङ्कल्प-विकल्पादिका आरम्भक है । मनसे भी पर—सूक्ष्मतर,

महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिः बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसाया-द्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम् । बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूत-त्वादात्मा महान्सर्वमहत्त्वात् । अव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्य-गर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महा-नात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥१०॥

महत्तर एवं प्रत्यगात्मभूत बुद्धि अर्थात् 'बुद्धि' शब्द-वाच्य अध्य-वसायादिका आरम्भक भूतसूक्ष्म है । उस बुद्धिसे भी, सम्पूर्ण प्राणियों-की बुद्धिका प्रत्यगात्मभूत होनेसे आत्मा महान् है; क्योंकि वह सबसे बड़ा है । अर्थात् अव्यक्तसे जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ हिरण्यगर्भ तत्त्व है, जो [ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण] बोधाबोधा-त्मक है वह महान् आत्मा बुद्धिसे भी पर है—ऐसा कहा जाता है ॥१०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूलप्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है । पुरुषसे पर और कुछ नहीं है । वही [सूक्ष्मत्वकी] पराकाष्ठा (हद) है, वही परा (उत्कृष्ट) गति है ॥ ११ ॥

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं च अव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतम् अव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्व-कार्यकारणशक्तिसमाहाररूपम् अव्यक्ताव्याकृताकाशादिनाम-वाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन

महत्से भी पर—सूक्ष्मतर, प्रत्यगात्मस्वरूप और सबसे महान् अव्यक्त है, जो सम्पूर्ण जगत्का बीज-भूत, अव्यक्त नाम-रूपोंका सत्ता-स्वरूप, सम्पूर्ण कार्य-कारणशक्तिका सङ्घात, अव्यक्त, अव्याकृत और आकाशादि नामोंसे निर्दिष्ट होने-वाला तथा वटके धानेमें रहनेवाली

समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः ।

वटवृक्षकी शक्तिके समान परमात्मामें ओतप्रोतभावसे आश्रित है ।

तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च अत एव पुरुषः सर्वपूरणात् । ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह पुरुषान्न परं किंचिदिति । यस्मान्नास्ति पुरुषात् चिन्मात्रघनात् परं किंचिदपि वस्त्वन्तरं तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम् ।

उस अव्यक्तकी अपेक्षा सम्पूर्ण कारणोंका कारण तथा प्रत्यगात्मरूप होनेसे पुरुष पर—सूक्ष्मतर एवं महान् है । इसीलिये वह सबमें पूरित रहनेके कारण 'पुरुष' कहा जाता है । इसके सिवा किसी दूसरे उत्कृष्टतरके प्रसङ्गका निवारण करते हुए कहते हैं कि पुरुषसे पर और कुछ नहीं है । क्योंकि चिद्घनमात्र पुरुषसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है इसलिये वही सूक्ष्मत्व, महत्त्व और प्रत्यगात्मत्वकी पराकाष्ठा—स्थिति अर्थात् पर्यवसान है ।

अत्र हीन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः । अत एव च गन्तॄणां सर्वगतिमतां संसारिणां परा प्रकृष्टा गतिः "यद्गत्वा न निवर्तन्ते" (गीता ८ । २१; १५ । ६) इति स्मृतेः ॥ ११ ॥

इन्द्रियोंसे लेकर इस आत्मामें ही सूक्ष्मत्वादिकी परिसमाप्ति होती है । अतः यही गमन करनेवाले अर्थात् सम्पूर्ण गतियोंवाले संसारियोंकी पर—उत्कृष्ट गति है, जैसा कि "जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते" इस स्मृतिसे सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

ननु गतिश्चेदागत्यापि भवितव्यम् । कथं यस्माद्भूयो न जायत इति ?

शङ्का—यदि [पुरुषके प्रति] गति है तो [वहाँसे] आगति (लौटना) भी होना चाहिये; फिर 'जिसके पाससे फिर जन्म नहीं लेता' ऐसा क्यों कहा जाता है

नैष दोषः, सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते। प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन। यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं गच्छत्यनात्मभूतं न विपर्ययेण तथा च श्रुतिः—"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इत्याद्या। तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य—

समाधान—यह दोष नहीं है; क्योंकि सबका प्रत्यगात्मा होनेसे आत्माके ज्ञानको ही उपचारसे गति कहा गया है। तथा इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे आत्माका परत्व प्रदर्शित कर उसका प्रत्यगात्मत्व दिखलाया गया है; क्योंकि जो जानेवाला है वह अपनेसे पृथक् अनात्मभूत एवं अप्राप्त स्थानकी ओर ही जाया करता है; इससे विपरीत अपनी ही ओर नहीं आता-जाता। इस विषयमें "संसारमार्गसे पार होनेकी इच्छावाले पुरुष मार्गरहित होते हैं" इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है। तथा आगेकी श्रुति भी पुरुषका सबका प्रत्यगात्मा होना प्रदर्शित करती है—

आत्मा सूक्ष्मबुद्धिग्राह्य है

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमान नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंद्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्मबुद्धिसे ही देखा जाता है ॥ १२ ॥

एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्माविद्यामाया-

यह पुरुष ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंमें गूढ़ यानी छिपा हुआ, दर्शन, श्रवण आदि कर्म करनेवाला तथा अविद्या यानी

च्छन्नोऽत एवात्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित् । अहो अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादिसङ्घातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति । नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको बम्भ्रमीति । तथा च स्मरणम्—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गीता ७ । २५) इत्यादि ।

मायासे आच्छादित है । अतः सबका अन्तरात्मस्वरूप होनेके कारण आत्मा किसीके प्रति प्रकाशित नहीं होता । अहो ! यह माया बड़ी ही गम्भीर, दुर्गम और विचित्र है, जिससे कि ये संसारके सभी जीव वस्तुतः परमार्थस्वरूप होनेपर भी [शास्त्र और आचार्यद्वारा] वैसा बोध कराये जानेपर 'मैं परमात्मा हूँ' इस तत्त्वको ग्रहण नहीं करते; बल्कि जो देह और इन्द्रिय आदि सङ्घात घटादिके समान अपने दृश्य हैं उन्हें, किसीसे न कहनेपर भी 'मैं इसका पुत्र हूँ' इत्यादि प्रकारसे आत्मभावसे ग्रहण करते हैं । निश्चय, उस परमात्माकी ही मायासे यह सारा जगत् अत्यन्त भ्रान्त हो रहा है । ऐसे ही "योगमायासे आवृत हुआ मैं सबके प्रति प्रकाशित नहीं होता" यह स्मृति भी है ।

ननु विरुद्धमिदमुच्यते "मत्वा धीरो न शोचति" (क० उ० २ । १ । ४) "न प्रकाशते" (क० उ० १ । ३ । १२) इति च ।

शङ्का—किन्तु "उसे जानकर पुरुष शोक नहीं करता" ["वह गूढ़ आत्मा] प्रकाशित (ज्ञात) नहीं होता" यह तो विपरीत ही कहा गया है ।

नैतदेवम् । असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम् ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है । आत्मा अशुद्धबुद्धि पुरुषके लिये अविज्ञेय है; इसीलिये यह कहा

दृश्यते तु संस्कृतया अग्र्या अग्रमिवाग्र्या तया, एकाग्रतयोपेतयेत्येतत्, सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया;कैः?सूक्ष्मदर्शिभिः 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत् ॥ १२ ॥

गया है कि 'वह प्रकाशित नहीं होता'। वह तो संस्कारयुक्त और तीक्ष्ण—जो किसी पैनी नोकके समान सूक्ष्म हो ऐसी एकाग्रतासे युक्त और सूक्ष्म वस्तुके निरीक्षणमें लगी हुई तीव्र बुद्धिसे ही दिखलायी देता है। किन्हें दिखलायी देता है? [इसपर कहते हैं—] सूक्ष्मदर्शियोंको। 'इन्द्रियोंसे उनके विषय सूक्ष्म हैं' इत्यादि प्रकारसे सूक्ष्मताकी परम्पराका विचार करनेसे जिनका पर—सूक्ष्म वस्तुको देखनेका स्वभाव पड़ गया है, वे सूक्ष्मदर्शी हैं; उन सूक्ष्मदर्शी पण्डितोंको [वह दिखलायी देता है]—यह इसका भावार्थ है ॥ १२ ॥

लयचिन्तन

तत्प्रतिपत्त्युपायमाह—

अब उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हैं—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥

विवेकी पुरुष वाक्-इन्द्रियका मनमें उपसंहार करे, उसका प्रकाशस्वरूप बुद्धिमें लय करे, बुद्धिको महत्तत्त्वमें लीन करे और महत्तत्त्वको शान्त आत्मामें नियुक्त करे ॥ १३ ॥

यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो [विवेकी; किम् ? वाग्वाचम् । वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम् । क ? मनसी मनसीतिच्छान्दसं दैर्घ्यम् । तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धौ आत्मनि । बुद्धिर्हि मनआदिकरणान्याप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक् तेषाम् । ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत् । प्रथमजवत् स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानम् आपादयेदित्यर्थः । तं च महान्तम् आत्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्य आत्मनि ॥ १३ ॥

विवेकी पुरुष 'यच्छेत्' अर्थात् नियुक्त करे—उपसंहार करे; किसका उपसंहार करे ? वाक् अर्थात् वाणीका । यहाँ वाक् सम्पूर्ण इन्द्रियोंका उपलक्षण करानेके लिये है । कहाँ उपसंहार करे ? मनमें; 'मनसी' पदमें ह्रस्व इकारके स्थानमें दीर्घ प्रयोग छान्दस है । फिर उस मनको ज्ञान अर्थात् प्रकाशस्वरूप बुद्धि—आत्मामें लीन करे । बुद्धि ही मन आदि इन्द्रियोंमें व्याप्त है, इसलिये वह उनका आत्मा—प्रत्यक्स्वरूप है । उस ज्ञानस्वरूप बुद्धिको प्रथम विकार महान् आत्मामें लीन करे अर्थात् प्रथम उत्पन्न हुए महत्तत्त्वके समान आत्माका स्वच्छस्वभाव विज्ञान प्राप्त करे । और महान् आत्माको जिसका स्वरूप सम्पूर्ण विशेषोंसे रहित है और जो अविक्रिय, सर्वान्तर तथा बुद्धिके सम्पूर्ण प्रत्ययोंका साक्षी है उस मुख्य आत्मामें लीन करे ॥ १३ ॥

एवं पुरुष आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानविजृम्भितं क्रियाकारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन

मृगतृष्णा, रज्जु और आकाशके स्वरूपका ज्ञान होनेसे जैसे मृगजल, रज्जु-सर्प और आकाश-मालिन्यका बाध हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्याज्ञानसे प्रतीत होनेवाले समस्त प्रपञ्च यानी नाम, रूप और कर्म

मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थम्—

इन तीनोंको, जो क्रिया, कारक और फलरूप ही हैं, स्वात्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञानद्वारा पुरुष अर्थात् आत्मामें लीन करके मनुष्य स्वस्थ, प्रशान्तचित्त एवं कृतकृत्य हो जाता है। क्योंकि ऐसा है, इसलिये उसका साक्षात्कार करनेके लिये—

उद्बोधन

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

[अरे अविद्याग्रस्त लोगो!] उठो, [अज्ञान-निद्रासे] जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरेकी धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्गको वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं ॥ १४ ॥

अनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत हे जन्तव आत्मज्ञानाभिमुखा भवत; जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत।

अरे अनादि अविद्यासे सोये हुए जीवो! उठो, आत्मज्ञानके अभिमुख होओ तथा घोररूप अज्ञान-निद्रासे जागो—सम्पूर्ण अनर्थोंकी बीजभूत उस अज्ञान-निद्राका क्षय करो।

कथम्? प्राप्योपगम्य वरान् प्रकृष्टानाचार्यांस्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोधतावगच्छत। न ह्युपेक्षित-

किस प्रकार [क्षय करें] ? श्रेष्ठ—उत्कृष्ट आत्मज्ञानी आचार्योंके पास जाकर—उनके समीप पहुँचकर उनके उपदेश किये हुए सर्वान्तर्यामी आत्माको 'मैं यही हूँ' ऐसा जानो। उसकी उपेक्षा नहीं

व्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाह मातृवत् । अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य । किमिव सूक्ष्मबुद्धिः इत्युच्यते; क्षुरस्य धाराग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्याः सा दुरत्यया । यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसंपाद्यमित्येतत् पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति । ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

करनी चाहिये—ऐसा माताके समान कृपा करके श्रुति कह रही है; क्योंकि वह ज्ञेय पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिका ही विषय है । सूक्ष्म बुद्धि कैसी होती है ? इसपर कहते हैं—निशित अर्थात् पैनायी हुई छुरेकी धार–अग्रभाग जिस प्रकार दुरत्यय होती है–जिसे कठिनतासे पार किया जा सके उसे दुरत्यय कहते हैं । जिस प्रकार उसपर पैरोंसे चलना अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार यह आत्मज्ञानका मार्ग बड़ा दुर्गम अर्थात् दुष्प्राप्य है—ऐसा कवि—मेधावी पुरुष कहते हैं । अभिप्राय यह है कि ज्ञेय अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण मनीषिजन उससे सम्बद्ध ज्ञानमार्गको दुष्प्राप्य बतलाते हैं ॥ १४ ॥



तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्य इत्युच्यते; स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता तथा शरीरम् । तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्मत्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वा-

उस ज्ञेयकी अत्यन्त सूक्ष्मता किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—[इन पाँचों विषयों] से वृद्धिको प्राप्त हुई तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी विषयभूत यह पृथिवी स्थूल है; ऐसा ही शरीर भी है । उनमें गन्धादि गुणोंमेंसे एक-एकका अपकर्ष—क्षय होनेसे जलसे लेकर

दितारतम्यं दृष्टमबादिषु याव-दाकाशमिति ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वाद्विकाराः शब्दान्ता यत्र न सन्ति किमु तस्य सूक्ष्म-त्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यम् इत्येतद्दर्शयति श्रुतिः—

आकाशपर्यन्त चार भूतोंमें सूक्ष्मत्व, महत्त्व, विशुद्धत्व और नित्यत्व आदिका तारतम्य देखा गया है। किन्तु स्थूल होनेके कारण जहाँ गन्धसे लेकर शब्दपर्यन्त ये सारे विकार नहीं हैं उसके सूक्ष्मत्वादिकी निरतिशयताके विषयमें क्या कहा जाय ? यही बात आगेकी श्रुति दिखलाती है—

निर्विशेष आत्मज्ञानसे अमृतत्वप्राप्ति

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा रसहीन, नित्य और गन्धरहित है; जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्वसे भी पर और ध्रुव (निश्चल) है उस आत्मतत्त्वको जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है ॥ १५ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् एतद्व्याख्यातं ब्रह्माव्ययम्— यद्धि शब्दादिमत्तद्व्येतीदं तु अशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव च नित्यं यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा अरस, नित्य और अगन्धयुक्त है—ऐसी जिसकी व्याख्या की जाती है वह ब्रह्म अविनाशी है; क्योंकि जो पदार्थ शब्दादियुक्त होता है उसीका व्यय होता है, किन्तु यह ब्रह्म तो अशब्दादियुक्त होनेके कारण अव्यय है; इसका व्यय—क्षय नहीं होता,

न्येत्यतो नित्यम् । इतश्च नित्यम् अनाद्यविद्यमान आदिः कारणम् अस्य तदिदमनादि । यद्ध्यादि-मत्तत्कार्यत्वादनित्यं कारणे प्रलीयते यथा पृथिव्यादि । इदं तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्य-त्वान्नित्यं न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयेत ।

तथानन्तम् अविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम् । यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेन अपि अनित्यत्वं दृष्टं न च तथाप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणः; अतोऽपि नित्यम् ।

महतो महत्तत्त्वाद्बुद्ध्या-ख्यात्परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्ति-स्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि हि सर्वभूता-त्मत्वाद् ब्रह्म । उक्तं हि "एष सर्वेषु भूतेषु" (क० उ० १ । ३ । १२)

इसीलिये यह नित्य भी है; क्योंकि जिसका व्यय होता है वह अनित्य है। इसका व्यय नहीं होता इसलिये यह नित्य है। यह अनादि अर्थात् जिसका आदि—कारण विद्यमान नहीं है ऐसा होनेसे भी नित्य है; क्योंकि जो पदार्थ आदिमान् होता है वह कार्यरूप होनेसे अनित्य होता है और अपने कारणमें लीन हो जाता है; जैसे कि पृथिवी आदि। किन्तु यह आत्मा तो सबका कारण होनेसे अकार्य है और अकार्य होनेके कारण नित्य है। इसका कोई कारण नहीं है, जिसमें कि यह लीन हो।

इसी प्रकार यह आत्मा अनन्त भी है। जिसका अन्त अर्थात् कार्य अविद्यमान हो उसे अनन्त कहते हैं। जिस प्रकार फलादि कार्य उत्पन्न करनेसे भी कदली आदि पौधोंकी अनित्यता देखी गयी है उस प्रकार ब्रह्मका अन्तवत्त्व नहीं देखा गया। इसलिये भी वह नित्य है।

नित्यविज्ञप्तिस्वरूप होनेके कारण बुद्धिसंज्ञक महत्तत्त्वसे भी पर अर्थात् विलक्षण है; क्योंकि ब्रह्म सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा होनेके कारण सबका साक्षी है। यह बात उपर्युक्त "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते" इत्यादि मन्त्रमें कही ही

30.A9

इत्यादि । ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम् । तदेवंभूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते विमुच्यते १५

गयी है । इसी प्रकार वह ध्रुव—कूटस्थ नित्य है । उसकी नित्यता पृथिवी आदिके समान आपेक्षिक नहीं है । उस इस प्रकारके ब्रह्म—आत्माको जानकर पुरुष मृत्युमुखसे—अविद्या, काम और कर्मरूप मृत्युके पंजेसे मुक्त—वियुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः—

अब प्रस्तुत विज्ञानकी स्तुतिके लिये श्रुति कहती है—

प्रस्तुत विज्ञानकी महिमा

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

नचिकेताद्वारा प्राप्त तथा मृत्युके कहे हुए इस सनातन विज्ञानको कह और सुनकर बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है ॥ १६ ॥

नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतं मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तमिदमाख्यानमुपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरन्तनं वैदिकत्वादुक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वाचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

नचिकेताद्वारा प्राप्त किये तथा मृत्युके कहे हुए इस तीन वल्लियोंवाले उपाख्यानको, जो वैदिक होनेके कारण सनातन—चिरन्तन है, ब्राह्मणोंसे कहकर तथा आचार्योंसे सुनकर मेधावी पुरुष ब्रह्मलोकमें—ब्रह्म ही लोक है; उसमें महिमान्वित होता है अर्थात् सबका आत्मस्वरूप होकर उपासनीय होता है ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

जो पुरुष इस परम गुह्य ग्रन्थको पवित्रतापूर्वक ब्राह्मणोंकी सभामें अथवा श्राद्धकालमें सुनाता है उसका वह श्राद्ध अनन्त फलवाला होता है, अनन्त फलवाला होता है ॥ १७ ॥

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद् ग्रन्थतोऽर्थतश्च ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेद् भुञ्जानानां तच्छ्राद्धमस्यानन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते । द्विर्वचनम् अध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १७ ॥

जो कोई पुरुष इस परम—प्रकृष्ट और गुह्य—गोपनीय ग्रन्थको पवित्र होकर ब्राह्मणोंकी सभामें अथवा श्राद्धकालमें—भोजन करनेके लिये बैठे हुए ब्राह्मणोंके प्रति केवल पाठमात्र या अर्थ करते हुए सुनाता है उसका वह श्राद्ध अनन्त फलवाला होता है । यहाँ अध्यायकी समाप्तिके लिये 'तदानन्त्याय कल्पते' यह वाक्य दो बार कहा गया है ॥१७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

इति कठोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १



द्वितीय अध्याय

प्रथमा वल्ली

आत्मदर्शनका विघ्न—इन्द्रियोंकी वहिर्मुखता

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धयेत्युक्तम् । कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्र्याया बुद्धेर्येन तदभावात् आत्मा न दृश्यत इति तददर्शनकारणप्रदर्शनार्था वल्ल्यारभ्यते । विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति—

'सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ वह आत्मा प्रकाशित नहीं होता; वह तो एकाग्र बुद्धिसे ही देखा जाता है' ऐसा पहले (१ । ३ । १२ में) कहा था । अब प्रश्न होता है कि एकाग्र बुद्धिका ऐसा कौन प्रतिबन्ध है जिससे कि उस (एकाग्र बुद्धि) का अभाव होनेपर आत्मा दिखायी नहीं देता ? अतः आत्मदर्शनके प्रतिबन्धका कारण दिखलानेके लिये यह वल्ली आरम्भ की जाती है; क्योंकि श्रेयके प्रतिबन्धका कारण जान लेनेपर ही उसकी निवृत्तिके यत्नका आरम्भ किया जा सकता है, अन्यथा नहीं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियोंको वहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है । इसीसे जीव बाह्य विषयोंको देखता है, अन्तरात्माको नहीं । जिसने अमरत्वकी इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियोंको रोक लिया है ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्माको देख पाता है ॥ १ ॥

पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते । तानि पराञ्च्येव शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते । यस्मादेवं स्वाभाविकानि तानि व्यतृणद्धिंसितवान्हननं कृतवान् इत्यर्थः । कोऽसौ ? स्वयंभूः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र इति । तस्मात्पराङ् पराग्रूपाननात्मभूताञ्शब्दादीन्पश्यत्युपलभत उपलब्धा, नान्तरात्मन्नान्तरात्मानमित्यर्थः ।

जो पराक् अर्थात् बाहरकी ओर अञ्चन करती—गमन करती हैं उन्हें 'पराञ्चि' (बाहर जानेवाली) कहते हैं । 'ख' छिद्रोंको कहते हैं, उनसे उपलक्षित श्रोत्रादि इन्द्रियाँ 'खानि'* नामसे कही गयी हैं । वे बहिर्मुख होकर ही शब्दादि विषयोंको प्रकाशित करनेके लिये प्रवृत्त हुआ करती हैं । क्योंकि वे ऐसी हैं इसलिये स्वभावसे ही उन्हें हिंसित कर दिया है—उनका हनन कर दिया है । वह [हनन करनेवाला] कौन है ? स्वयम्भू—परमेश्वर अर्थात् जो स्वतः ही सर्वदा स्वतन्त्र रहता है—परतन्त्र नहीं रहता । इसलिये वह उपलब्धा सर्वदा पराक् अर्थात् बहिःस्वरूप अनात्मभूत शब्दादि विषयोंको ही देखता—उपलब्ध करता है, 'नान्तरात्मन्' अर्थात् अन्तरात्माको नहीं ।

एवंस्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिस्रोतः प्रवर्तनमिव धीरो धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं

यद्यपि लोकका ऐसा ही स्वभाव है तो भी कोई धीर—बुद्धिमान्—विवेकी पुरुष ही नदीको उसके प्रवाहके विपरीत दिशामें फेर देनेके समान [इन्द्रियोंको विषयोंकी

* नपुंसक 'ख' शब्दका प्रथमा-बहुवचन ।

प्रत्यक्चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा। प्रतीच्येवात्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन्। व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवात्मशब्दो वर्तते।

"यच्चाप्नोति यदादत्ते
यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भाव-
स्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥"

(लिङ्ग० १। ७०। ९६)

इत्यात्मशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात्। तं प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावमैक्षदपश्यत्पश्यतीत्यर्थः, छन्दसि कालानियमात्। कथं पश्यतीत्युच्यते। आवृत्तचक्षुरावृत्तं व्यावृत्तं चक्षुः श्रोत्रादिकमिन्द्रियजातम् अशेषविषयाद्यस्य स आवृत्तचक्षुः स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति। न हि बाह्यविषया-

ओरसे हटाकर] उस अपने प्रत्यगात्माको [देखता है]। जो प्रत्यक् (सम्पूर्ण विषयोंको जाननेवाला) हो और आत्मा भी हो उसे प्रत्यगात्मा कहते हैं। लोकमें आत्मा शब्द 'प्रत्यक्' के अर्थमें ही रूढ़ है, और किसी अर्थमें नहीं। व्युत्पत्तिपक्षमें भी 'आत्मा' शब्दकी प्रवृत्ति उसी (प्रत्यक्-अर्थ ही) में है जैसा कि "क्योंकि यह सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है और इस लोकमें विषयोंको भोगता है तथा इसका सर्वदा सद्भाव है इसलिये यह 'आत्मा' कहलाता है।" इस प्रकार आत्मा शब्दकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें स्मृति है।

उस प्रत्यगात्माको अर्थात् अपने स्वरूपको 'ऐक्षत्'—देखा यानी देखता है। वैदिक प्रयोगमें कालका नियम न होनेके कारण यहाँ वर्तमान कालके अर्थमें भूतकालकी क्रिया [ऐक्षत्] का प्रयोग हुआ है। वह किस प्रकार देखता है? इसपर कहते हैं—'आवृत्तचक्षुः' अर्थात् जिसने अपनी चक्षु और श्रोत्रादि इन्द्रियसमूहको सम्पूर्ण विषयोंसे व्यावृत्त कर लिया है—लौटा लिया है, वह इस प्रकार संस्कारयुक्त हुआ पुरुष ही उस प्रत्यगात्माको देख पाता है। एक

लोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति । किमर्थं पुनरित्थं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यति इत्युच्यते; अमृतत्वममरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन् आत्मन इत्यर्थः ॥ १ ॥

ही पुरुषके लिये बाह्य विषयोंकी आलोचनामें तत्पर रहना तथा प्रत्यगात्माका साक्षात्कार करना—ये दोनों बातें सम्भव नहीं हैं । 'अच्छा, तो, इस प्रकार महान् परिश्रमसे [इन्द्रियोंकी] स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोककर धीर पुरुष प्रत्यगात्माको क्यों देखता है ?' ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'अमृतत्व—अमरणधर्मत्व अर्थात् आत्माकी नित्यस्वभावताकी इच्छा करता हुआ [उसे देखता है]' ॥१॥

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेव अनात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धकारणमविद्या तत्प्रतिकूलत्वात् । या च पराक्ष्वेवाविद्योपप्रदर्शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्यातृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः—

जो स्वभावसे ही बाह्य अनात्मदर्शन है वही आत्मदर्शनके प्रतिबन्धकी कारणरूपा अविद्या है; क्योंकि वह उस (आत्मदर्शन) के प्रतिकूल है । इसके सिवा अविद्यासे दिखलायी देनेवाले दृष्ट और अदृष्ट बाह्य भोगोंमें जो तृष्णा है उन अविद्या और तृष्णा दोनोंहीसे जिनका आत्मदर्शन प्रतिबद्ध हो रहा है वे—

अविवेकी और विवेकीका अन्तर

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

अल्पज्ञ पुरुष बाह्यभोगोंके पीछे लगे रहते हैं । वे मृत्युके सर्वत्र फैले हुए पाशमें पड़ते हैं । किन्तु विवेकी पुरुष अमरत्वको ध्रुव (निश्चल) जानकर संसारके अनित्य पदार्थोंमेंसे किसीकी इच्छा नहीं करते ॥ २ ॥

पराचो बहिर्गतानेव कामान् काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति बाला अल्पप्रज्ञास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यते बध्यते येन तं पाशं देहेन्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणम् । अनवरतजन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ।

बाल—मन्दमति पुरुष पराक्—बाह्य कामनाओंका—काम्य विषयोंका ही अनुगमन—पीछा किया करते हैं । इसी कारणसे वे अविद्या, काम और कर्मके समुदायरूप मृत्युके वितत—विस्तीर्ण—सर्वत्र व्याप्त पाशमें [पड़ते हैं] । जिससे जीव पाशित होता है—बाँधा जाता है उस देहेन्द्रियादिके संयोग-वियोगरूप पाशमें पड़ते हैं । अर्थात् निरन्तर जन्म-मरण, जरा और रोग आदि बहुत-से अनर्थसमूहको प्राप्त होते हैं ।

यत एवमथ तस्माद्धीरा विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणममृतत्वं ध्रुवं विदित्वा, देवाद्यमृतत्वं ह्यध्रुवमिदं तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (बृ० उ० ४ । ४ । २३) इति ध्रुवम् । तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वाध्रुवेषु सर्वपदार्थेष्वनित्येषु निर्धार्य

क्योंकि ऐसी बात है इसलिये धीर—विवेकी पुरुष प्रत्यगात्मस्वरूपमें स्थितिरूप अमृतत्वको ध्रुव (निश्चल) जानकर—देवता आदिका अमृतत्व तो अध्रुव है किन्तु यह प्रत्यगात्मस्वरूपमें स्थितिरूप अमृतत्व "यह कर्मसे न बढ़ता है न घटता है" इस उक्तिके अनुसार ध्रुव है—इस प्रकारके अमृतत्वको कूटस्थ और अविचाल्य जानकर वे ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) लोग इस अनर्थप्राय संसारके सम्पूर्ण

ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किंचिदपि प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात् । पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यर्थः ॥ २ ॥

अध्रुव—अनित्य पदार्थोंमेंसे किसीकी इच्छा नहीं करते; क्योंकि वे सब तो प्रत्यगात्माके दर्शनके विरोधी ही हैं। अर्थात् वे पुत्र, वित्त और लोकैषणासे दूर ही रहते हैं ॥ २ ॥

यद्विज्ञानान्न किंचिदन्यत् प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तदधिगम इत्युच्यते—

ब्राह्मणलोग जिसका ज्ञान हो जानेसे और किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते उस ब्रह्मका बोध किस प्रकार होता है ? इसपर कहते हैं—

आत्मज्ञकी सर्वज्ञता

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाꣳश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥ ३ ॥

जिस इस आत्माके द्वारा मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुनजन्य सुखोंको निश्चयपूर्वक जानता है [उस आत्मासे अविज्ञेय] इस लोकमें और क्या रह जाता है ? [तुझ नचिकेताका पूछा हुआ] वह तत्त्व निश्चय यही है ॥ ३ ॥

येन विज्ञानस्वभावेनात्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्मैथुननिमित्तान्सुखप्रत्ययान्विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः ।

सम्पूर्ण लोक जिस विज्ञानस्वरूप आत्माके द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन—मैथुनजनित सुखोंको स्पष्टतया जानता है [वही ब्रह्म है] ।

ननु नैवं प्रसिद्धिर्लोकस्य आत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति । देहादिसंघातोऽहं विजानामीति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति ।

शङ्का—परन्तु लोकमें ऐसी कोई प्रसिद्धि नहीं है कि मैं किसी देहादिसे विलक्षण आत्माद्वारा जानता हूँ । सब लोग यही समझते हैं कि मैं देहादि संघातरूप ही सब कुछ जानता हूँ ।

न त्वेवम् । देहादिसंघातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशेषाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम् । यदि हि देहादिसंघातो रूपाद्यात्मकः सन्रूपादीन्विजानीयाद्बाह्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपं च विजानीयुः । न चैतदस्ति तस्माद्देहादिलक्षणांश्च रूपादीनेतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावेनात्मना विजानाति लोकः । यथा येन लोहो दहति सोऽग्निरिति तद्वत् ।

द्रष्टृदृश्यविवेचनम्

समाधान—ऐसी बात तो नहीं है; क्योंकि देहादि संघात भी समानरूपसे शब्दादिरूप तथा विज्ञेयस्वरूप है; अतः उसे ज्ञाता मानना उचित नहीं है। यदि देहादि संघात रूप-रसादिस्वरूप होकर भी रूपादिको जान ले तो बाह्य रूपादि भी परस्पर एक-दूसरेको तथा अपने-अपने रूपको जान लेंगे; किन्तु यह बात है नहीं। अतः लोक देहादिस्वरूप रूपादिको इस देहादि-व्यतिरिक्त विज्ञानस्वभाव आत्माके द्वारा ही जानता है । जिस प्रकार लोहा जिसके द्वारा जलाता है उसे अग्नि कहते हैं उसी प्रकार [जिसके द्वारा लोक देहादि विषयोंको जानता है उसे आत्मा कहते हैं] ।

आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिँल्लोके परिशिष्यते न किंचित्परिशिष्यते । सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम् । यस्यात्मनोऽविज्ञेयं न किंचित्परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः । एतद्वै तत् । किं तद्यत् नचिकेतसा पृष्टं देवादिभिरपि

उस आत्मासे जिसका ज्ञान न हो सके ऐसा क्या पदार्थ इस लोकमें रह जाता है, अर्थात् कुछ भी नहीं रहता—सभी कुछ आत्मासे ही जाना जा सकता है । [इस प्रकार] जिस आत्मासे अविज्ञेय कोई भी वस्तु नहीं रहती वह आत्मा सर्वज्ञ है और यही वह है । वह कौन है ? जिसके विषयमें तुझ नचिकेताने प्रश्न किया है, जो देवादिका भी सन्देहास्पद है तथा

विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद् विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः ॥३॥

जो धर्माधर्मादिसे अन्य विष्णुका परमपद है और जिससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है वही यह [ब्रह्म-पद] अब ज्ञात हुआ है—ऐसा इसका भावार्थ है ॥ ३ ॥

अतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विज्ञेयमिति मत्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह—

वह ब्रह्म अति सूक्ष्म होनेके कारण दुर्विज्ञेय है—ऐसा मानकर उसी बातको बारम्बार कहते हैं—

आत्मज्ञकी निःशोकता

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

जिसके द्वारा मनुष्य स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले तथा जाग्रत्‌में दिखायी देनेवाले—दोनों प्रकारके पदार्थोंको देखता है उस महान् और विभु आत्माको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ ४ ॥

स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः तथा जागरितान्तं जागरितमध्यं जागरितविज्ञेयं च; उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येन आत्मनानुपश्यति लोक इति सर्वं पूर्ववत् । तं महान्तं विभुमात्मानं

स्वप्नान्त–स्वप्नका मध्य अर्थात् स्वप्नावस्थामें जानने योग्य तथा जागरितान्त–जाग्रत् अवस्थाका मध्य यानी जाग्रत् अवस्थामें जानने योग्य—इन दोनों स्वप्न और जाग्रत्‌के अन्तर्गत पदार्थोंको लोक जिस आत्माके द्वारा देखता है [वही ब्रह्म है; इस प्रकार] इस वाक्यकी और सब व्याख्या पूर्व मन्त्रके समान करनी चाहिये । उस

मत्वावगम्यात्मभावेन साक्षात् अहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

महान् और विभु आत्माको जानकर अर्थात् 'वह परमात्मा मैं ही हूँ' ऐसा आत्मभावसे साक्षात् अनुभव कर धीर–बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ ४ ॥

किं च—

तथा—

आत्मज्ञकी निर्भयता

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ ५ ॥

जो पुरुष इस कर्मफलभोक्ता और प्राणादिको धारण करनेवाले आत्माको उसके समीप रहकर भूत, भविष्यत् [और वर्तमान] के शासकरूपसे जानता है वह वैसा विज्ञान हो जानेके अनन्तर उस (आत्मा) की रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करता । निश्चय यही वह [आत्मतत्त्व] है ॥ ५ ॥

यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारमात्मानं वेद विजानाति अन्तिकादन्तिके समीप ईशानम् ईशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य, ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुम् इच्छत्यभयप्राप्तत्वात् । यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं मन्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्यात्मानम् ।

जो कोई इस मध्वद—कर्मफलभोक्ता और जीव—प्राणादि कारणकलापको धारण करनेवाले आत्माको समीपसे भूत-भविष्यत् आदि तीनों कालोंके शासकरूपसे जानता है, वह ऐसा ज्ञान हो जानेके अनन्तर उस आत्माका गोपन—रक्षण नहीं करना चाहता; क्योंकि वह अभयको प्राप्त हो जाता है । जबतक वह भयके मध्यमें स्थित हुआ अपने आत्माको अनित्य समझता है तभीतक उसकी रक्षा भी करना चाहता

यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेत्। एतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

है। जिस समय आत्माको नित्य और अद्वैत जान लेता है उस समय कौन किसको कहाँसे, सुरक्षित रखनेकी इच्छा करेगा ? निश्चय यही वह आत्मतत्त्व है—इस प्रकार पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ ५ ॥

यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः स सर्वात्मेत्येतद्दर्शयति—

जिस प्रत्यगात्माका यहाँ ईश्वर-भावसे निर्देश किया गया है वह सबका अन्तरात्मा है—यह बात इस मन्त्रसे दिखलायी जाती है—

ब्रह्मज्ञका सार्वात्म्यदर्शन

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥ एतद्वै तत् ॥ ६ ॥

जो मुमुक्षु पहले तपसे उत्पन्न हुए [हिरण्यगर्भ] को, जो कि जल आदि भूतोंसे पहले उत्पन्न हुआ है, भूतोंके सहित बुद्धिरूप गुहामें स्थित हुआ देखता है वही उस ब्रह्मको देखता है। निश्चय यही वह ब्रह्म है ॥ ६ ॥

यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्येतज्जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम्; किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह—अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पञ्चभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः,

जिस मुमुक्षुने पहले तपसे—ज्ञानादिलक्षण ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको। किसकी अपेक्षा पूर्व उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—जो जलसे पूर्व अर्थात् जलसहित पाँचों तत्त्वोंसे, न कि केवल जलसे ही, पूर्व उत्पन्न हुआ है उस प्रथमज

अजायत उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभिर्भूतैः कार्यकरणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत् । य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म ॥ ६ ॥

(हिरण्यगर्भ) को देवादि शरीरोंको उत्पन्न कर सम्पूर्ण प्राणियोंकी गुहा—हृदयाकाशमें प्रविष्ट हो देहेन्द्रियरूप भूतोंके सहित शब्दादि विषयोंको अनुभव करते जिसने देखा है यानी जो इस प्रकार देखता है [वही वास्तवमें देखता है] । जो ऐसा अनुभव करता है वही उसे देखता है जो कि यह प्रकृत ब्रह्म है ॥ ६ ॥

किं च—

तथा—

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ॥ एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

जो देवतामयी अदिति प्राणरूपसे प्रकट होती है तथा जो बुद्धिरूप गुहामें प्रविष्ट होकर रहनेवाली और भूतोंके साथ ही उत्पन्न हुई है [उसे देखो] निश्चय यही वह तत्त्व है ॥ ७ ॥

या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद्ब्रह्मणः संभवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद् गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम् । तामेव विशिनष्टि-या भूतेभिः

जो सर्वदेवतामयी—सर्वदेवस्वरूपा अदिति प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भरूपसे परब्रह्मसे उत्पन्न होती है; शब्दादि विषयोंका अदन (भक्षण) करनेके कारण उसे अदिति कहते हैं—बुद्धिरूप गुहामें पूर्ववत् प्रविष्ट होकर स्थित हुई उस अदितिको [देखो] । उस अदितिकी ही विशेषता बतलाते हैं—

भूतैः समन्विता व्यजायत उत्पन्ना इत्येतत्॥ ७॥

जो भूतोंके सहित अर्थात् भूतोंसे समन्वित ही उत्पन्न हुई है। [वही तेरा पूछा हुआ तत्त्व है] ॥ ७ ॥

अरणिस्थ अग्निमें ब्रह्मदृष्टि

किं च—

तथा—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥
एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

गर्भिणी स्त्रियोंद्वारा भली प्रकार पोषित हुए गर्भके समान जो जातवेदा (अग्नि) दोनों अरणियोंके बीचमें स्थित है तथा जो प्रमाद-शून्य एवं होम-सामग्रीयुक्त पुरुषोंद्वारा नित्यप्रति स्तुति किये जाने योग्य है यही वह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

योऽधियज्ञ उत्तराधरारण्योः निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ताध्यात्मं च योगिभिर्गर्भ इव गर्भिणीभिः अन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोक इवेत्थमेवर्त्विग्भिर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत् । किं च दिवे दिवेऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च जागृवद्भिः जागरणशीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतत्

जो अधियज्ञरूपसे ऊपर और नीचेकी अरणियोंमें निहित अर्थात् स्थित हुआ और होम किये हुए सम्पूर्ण पदार्थोंका भोक्ता अध्यात्म-रूप जातवेदा—अग्नि है; जैसे गर्भिणी—अन्तर्वत्नी स्त्रियाँ शुद्ध अन्न-पानादिद्वारा अपने गर्भकी बहुत अच्छी तरह रक्षा करती हैं उसी प्रकार यज्ञ करनेवाले तथा योगीजन जिसे धारण करते हैं, तथा घृत आदि होमसामग्रीयुक्त, कर्म-परायण एवं जागरणशील—प्रमाद-शून्य याजकों और ध्यानभावना-

हविष्मद्भिराज्यादिमद्भिर्ध्यान-भावनावद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुष्यैः अग्निः। एतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म॥८

युक्त योगियोंद्वारा जो [क्रमशः] यज्ञ और हृदयदेशमें स्तुति किये जाने योग्य है, ऐसा जो अग्नि है वही निश्चय यह प्रकृत ब्रह्म है ॥८॥

प्राणमें ब्रह्मदृष्टि

किं च—

तथा—

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

जहाँसे सूर्य उदित होता है और जहाँ वह अस्त हो जाता है उस प्राणात्मामें [अन्नादि और वागादिक] सम्पूर्ण देवता अर्पित हैं। उसका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता। यही वह ब्रह्म है ॥९॥

यतश्च यस्मात्प्राणादुदेति उत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽहन्यहनि गच्छति तं प्राणमात्मानं देवा अग्न्यादयोऽधिदैवं वागादयश्च अध्यात्मं सर्वे विश्वेऽरा इव रथ-नाभावर्पिताः संप्रवेशिताः स्थिति-काले सोऽपि ब्रह्मैव। तदेतत् सर्वात्मकं ब्रह्म। तदु नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि। एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

जिससे—जिस प्राणसे नित्य-प्रति सूर्य उदित होता है और जिस प्राणमें ही वह नित्यप्रति अस्तभावको प्राप्त होता है उस प्राणात्मामें स्थितिके समय अग्नि आदि अधिदैव और वागादि अध्यात्म सभी देवता इस प्रकार अर्पित हैं—प्रविष्ट किये गये हैं जैसे रथकी नाभिमें समस्त अरे; वह [प्राण] भी ब्रह्म ही है। वही यह सर्वात्मक ब्रह्म है। उसका अति-क्रमण कोई भी नहीं करता अर्थात् उस ब्रह्मके तादात्म्य भावको पार करके कोई भी उससे अन्यत्वको प्राप्त नहीं होता। यही वह (ब्रह्म) है ॥ ९ ॥

यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमानं तत्तदुपाधित्वादब्रह्मवदवभासमानं संसार्यन्यत्परस्माद् ब्रह्मण इति मा भूत्कस्यचिदाशङ्का इतीदमाह—

जो ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंमें वर्तमान है और भिन्न-भिन्न उपाधियोंके कारण अब्रह्मवत् भासित होता है वह संसारी जीव परब्रह्मसे भिन्न है—ऐसी किसीको शङ्का न हो जाय, इसलिये यमराज इस प्रकार कहते हैं—

भेददृष्टिकी निन्दा

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

जो तत्त्व इस (देहेन्द्रियसंघात) में भासता है वही अन्यत्र (देहादिसे परे) भी है और जो अन्यत्र है वही इसमें है । जो मनुष्य इस तत्त्वमें नानात्व देखता है वह मृत्युसे मृत्युको [अर्थात् जन्म-मरणको] प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यदेवेह कार्यकरणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमानमविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म । यच्चामुत्रामुष्मिन्नात्मनि स्थितं तदेवेह नामरूपकार्यकरणोपाधिम् अनुविभाव्यमानं नान्यत् ।

जो इस लोकमें कार्य-करण (देहेन्द्रिय) रूप उपाधिसे युक्त होकर अविवेकियोंको संसारधर्मयुक्त भास रहा है स्वस्वरूपमें स्थित वही ब्रह्म अन्यत्र (इन देहादिसे परे) नित्य विज्ञानघनस्वरूप और सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे रहित है । तथा जो अमुत्र—उस आत्मामें अर्थात् परमात्मभावमें स्थित है वही इस लोकमें नाम-रूप एवं कार्य-करणरूप उपाधिके अनुरूप भासनेवाला आत्मतत्त्व है; और कोई नहीं ।

तत्रैवं सत्युपाधिस्वभावभेद-दृष्टिलक्षणयाविद्यया मोहितः सन् य इह ब्रह्मण्यनानाभूते परस्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्यत्युपलभते स मृत्योर्मरणान्मरणं मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते। तस्मात्तथा न पश्येत्। विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाकाशवत् परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति पश्येत् इति वाक्यार्थः ॥ १० ॥

ऐसा होनेपर भी जो पुरुष उपाधिके स्वभाव और भेददृष्टिरूप अविद्यासे मोहित होकर इस अभिन्नभूत—एकरूप ब्रह्ममें 'मैं परमात्मासे भिन्न हूँ और परमात्मा मुझसे भिन्न है' इस प्रकार भिन्नवत् देखता है वह मृत्युसे मृत्युको अर्थात् बारम्बार जन्म-मरणभावको प्राप्त होता है। अतः ऐसी दृष्टि नहीं करनी चाहिये। बल्कि 'मैं निर्बाधरूपसे आकाशके समान परिपूर्ण और विज्ञानैकरस-स्वरूप ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार देखे। यही इस वाक्यका अर्थ है ॥१०॥

प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन—

एकत्व-ज्ञान होनेसे पहले आचार्य और शास्त्रसे संस्कारयुक्त हुए—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥

मनसे ही यह तत्त्व प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्मतत्त्वमें नाना कुछ भी नहीं है। जो पुरुष इसमें नानात्व-सा देखता है वह मृत्युसे मृत्युको जाता है ॥ ११ ॥

मनसेदं ब्रह्मैकरसमाप्तव्यम् आत्मैव नान्यदस्तीति। आप्ते

मनके द्वारा ही यह एकरस ब्रह्म 'सब कुछ आत्मा ही है, और

च नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना नास्ति किञ्चनाणुमात्रम् अपि । यस्तु पुनरविद्या-तिमिरदृष्टिं न मुञ्चति नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन् इत्यर्थः ॥ ११ ॥

कुछ नहीं है' इस प्रकार प्राप्त करने योग्य है । इस प्रकार उसको प्राप्ति हो जानेपर नानात्वको स्थापित करनेवाली अविद्याके निवृत्त हो जानेसे इस ब्रह्मतत्त्वमें किञ्चित्—अणुमात्र भी नानात्व नहीं रहता । किन्तु जो पुरुष अविद्यारूप तिमिररोगग्रस्त दृष्टिको नहीं त्यागता बल्कि नानात्व ही देखता है वह इस प्रकार थोड़ा-सा भी भेद आरोपित करनेसे मृत्युसे मृत्युको [अर्थात् जन्म-मरणको] प्राप्त होता ही है ॥ ११ ॥

हृदयपुण्डरीकस्थ ब्रह्म

पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माह—

फिर भी उस प्रकृत ब्रह्मका ही वर्णन करते हैं—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥ १२ ॥

जो अङ्गुष्ठपरिमाण पुरुष शरीरके मध्यमें स्थित है, उसे भूत, भविष्यत् [और वर्तमान] का शासक जानकर वह उस (आत्माके ज्ञान) के कारण अपने शरीरकी रक्षा करना नहीं चाहता; निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः । अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्तःकरणोपाधिः

अङ्गुष्ठमात्र यानी अङ्गुष्ठपरि-माण; हृदयकमल अङ्गुष्ठके समान परिमाणवाला है; उसके छिद्रमें रहनेवाला जो अन्तःकरणोपाधिक

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत् पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमात्मानम् ईशानं भूतभव्यस्य विदित्वा न तत् इत्यादि पूर्ववत् ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्र—अँगूठेके बराबर परिमाणवाले बाँसके पर्वमें स्थित आकाशके समान अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला पुरुष शरीरके मध्यमें स्थित है—उससे सारा शरीर पूर्ण है, इसलिये वह पुरुष है—उस भूत-भविष्यत् कालके शासक आत्माको जानकर [ज्ञानी पुरुष अपनेको सुरक्षित रखनेकी इच्छा नहीं करता] इत्यादि शेष पदकी पूर्ववत् व्याख्या करनी चाहिये ॥ १२ ॥

किं च—

तथा—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ॥ १३ ॥

यह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योतिके समान है । यह भूत-भविष्यत्का शासक है । यही आज (वर्तमान कालमें) है और यही कल (भविष्यत्में) भी रहेगा । और निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है ॥ १३ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति युक्तं ज्योतिष्परत्वात् । यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य स नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं

वह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योतिके समान है । मूल मन्त्रमें जो 'अधूमकः' पद है वह [नपुंसकलिङ्ग] 'ज्योतिः' शब्दका विशेषण होनेके कारण 'अधूमकम्' ऐसा होना चाहिये । जो योगियोंको इस प्रकार हृदयमें लक्षित होता है वह भूत और भविष्यत्का शास्ता नित्य कूटस्थ आज—इस समय

प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्यस्तत्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः। अनेन नायमस्तीति चैक इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तस्तथा क्षणभङ्गवादश्च ॥ १३ ॥

प्राणियोंमें वर्तमान है और वही कल भी रहेगा, अर्थात् उसके समान कोई और पुरुष उत्पन्न नहीं होगा। इससे 'कोई कहते हैं कि यह नहीं है' ऐसा [१। १। २० मन्त्रमें कहा हुआ] जो पक्ष है वह यद्यपि न्यायतः प्राप्त नहीं होता तथापि उसका और बौद्धोंके क्षणभङ्गवादका खण्डन भी श्रुतिने स्ववचनसे कर दिया है ॥ १३ ॥

भेदापवाद

पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मण आह—

ब्रह्ममें जो भेददृष्टि की जाती है उसका अपवाद श्रुति फिर भी कहती है—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

जिस प्रकार ऊँचे स्थानमें बरसा हुआ जल पर्वतोंमें (पर्वतीय निम्न देशोंमें) बह जाता है उसी प्रकार आत्माओंको पृथक्-पृथक् देखकर जीव उन्हींको (भिन्नात्मत्वको ही) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देश उच्छ्रिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्वतवत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति एवं धर्मान् आत्मनो भिन्नान्पृथक्पश्यन्पृथक्

जिस प्रकार दुर्ग—दुर्गम स्थान अर्थात् ऊँचाईपर बरसा हुआ जल पर्वतों—पर्वतीय निम्न प्रदेशोंमें फैलकर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार धर्मों अर्थात् आत्माओंको पृथक्—प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न देखने-

एव प्रतिशरीरं पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुविधावति । शरीरभेदमेव पृथक्पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

वाला मनुष्य उन्हीं–शरीरभेदका अनुसरण करनेवालोंकी ओर ही जाता है, अर्थात् वारम्बार भिन्न-भिन्न शरीरभेदको ही प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

यस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञानघनैकरसमद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्य आत्मस्वरूपं कथं सम्भवतीत्युच्यते—

जो विद्यावान् है, जिसकी उपाधिकृत भेददृष्टि नष्ट हो गयी है और जो एकमात्र विशुद्धविज्ञानघनैकरस अद्वितीय आत्माको ही देखनेवाला है उस विज्ञानी मुनि—मननशीलका आत्मा कैसा होता है ? यह बतलाया जाता है—

अभेददर्शनकी कर्तव्यता

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

जिस प्रकार शुद्ध जलमें डाला हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार, हे गौतम ! विज्ञानी मुनिका आत्मा भी हो जाता है ॥ १५ ॥

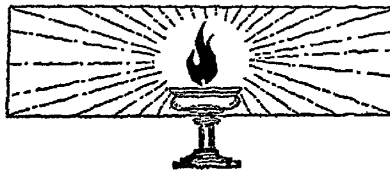
यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवत्यात्माप्येवमेव भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य हे गौतम ।

जिस प्रकार शुद्ध—स्वच्छ जलमें आसिक्त—प्रक्षिप्त (डाला हुआ) शुद्ध—स्वच्छ जल उसके साथ मिलकर एकरस हो जाता है—उससे विपरीत अवस्थामें नहीं रहता उसी प्रकार हे गौतम ! एकत्वको जाननेवाले मुनि—मननशील पुरुषका आत्मा भी वैसा

तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा वेदेनोपदिष्टम् आत्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैः आदरणीयमित्यर्थः ॥ १५ ॥

ही हो जाता है। अतः तात्पर्य यह है कि सभीको कुतार्किककी भेददृष्टि और नास्तिककी कुदृष्टिका परित्याग कर सहस्रों माता-पिताओंसे भी अधिक हितैषी वेदके उपदेश किये हुए आत्मैकत्वदर्शनका ही अभिमानरहित होकर आदर करना चाहिये ॥१५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥१॥ (४)



द्वितीया वल्ली

प्रकारान्तरसे ब्रह्मानुसन्धान

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो दुर्विज्ञेयत्वाद्ब्रह्मणः—

ब्रह्म अत्यन्त दुर्विज्ञेय है; अतः ब्रह्मतत्त्वका प्रकारान्तरसे फिर भी निश्चय करनेके लिये यह आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ १ ॥

उस नित्यविज्ञानस्वरूप अजन्मा [आत्मा] का पुर ग्यारह दरवाजोंवाला है। उस [आत्मा] का ध्यान करनेपर मनुष्य शोक नहीं करता, और वह [इस शरीरके रहते हुए ही कर्मबन्धनसे] मुक्त हुआ ही मुक्त हो जाता है। निश्चय यही वह [ब्रह्म] है ॥ १ ॥

शरीरस्य ब्रह्मपुरत्वम्

पुरं पुरमिव पुरम्। द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसम्पत्तिदर्शनाच्छरीरं पुरम्। पुरं च सोपकरणं स्वात्मनासंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम्; तथेदं पुरसामान्यादनेकोपकरणसंहतं

[यह शरीररूप] पुर पुरके समान होनेसे पुर कहलाता है। द्वारपाल और अधिष्ठाता (हाकिम) आदि अनेकों पुरसम्बन्धिनी सामग्री दिखायी देनेके कारण शरीर पुर है। और जिस प्रकार सम्पूर्ण सामग्रीके सहित प्रत्येक पुर अपनेसे असंहत (बिना मिले हुए) स्वतन्त्र स्वामीके [उपभोगके] लिये देखा जाता है उसी प्रकार पुरसे सदृशता होनेके कारण यह अनेक सामग्री-

शरीरं स्वात्मनासंहतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति ।

तच्चेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादश द्वाराण्यस्य सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सहार्वाञ्चि त्रीणि शिरस्येकं तैरेकादशद्वारं पुरम् । कस्याजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्यात्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्मविलक्षणस्य । अवक्रचेतसः अवक्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येत्यवक्रचेतास्तस्यावक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः ।

यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं

स्वात्मानुभवेन शोकादिनिवृत्तिः

पुरस्वामिनमनुष्ठाय ध्यात्वा—ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकम्—तं सर्वैषणाविनिर्मुक्तः सन्समं सर्वभूतस्थं

सम्पन्न शरीर भी अपनेसे पृथक् राजस्थानीय अपने स्वामी [आत्मा] के लिये होना चाहिये ।

यह शरीरनामक पुर ग्यारह दरवाजोंवाला है । [दो आँख, दो कान, दो नासारन्ध्र और एक मुख इस प्रकार] सात मस्तकसम्बन्धी, नाभिके सहित [शिश्न और गुदा मिलाकर] तीन निम्नदेशीय तथा [ब्रह्मरन्ध्ररूप] एक शिरमें रहनेवाला—इस प्रकार इन सभी द्वारोंसे [युक्त होनेके कारण] यह पुर एकादश द्वारवाला है । वह पुर किसका है ? [इसपर कहते हैं—] अजका, अर्थात् पुरके धर्मोंसे विलक्षण जन्मादि विकाररहित राजस्थानीय आत्माका । इसके सिवा जो अवक्रचित्त है—जिसका चित्त-विज्ञान अवक्र—अकुटिल अर्थात् सूर्यके समान नित्यस्थित और एकरूप है उस अवक्रचेता राजस्थानीय ब्रह्मका [यह पुर है] ।

जिसका यह पुर है उस पुरस्वामी परमेश्वरका अनुष्ठान—ध्यान करके, क्योंकि सम्यग्विज्ञानपूर्वक ध्यान ही उसका अनुष्ठान है; अतः सम्पूर्ण एषणाओंसे मुक्त होकर उस सम-सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित ब्रह्मका ध्यान

ध्यात्वा न शोचति । तद्विज्ञानात् अभयप्राप्तेः शोकावसराभावात् कुतो भयेक्षा । इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति । विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः ॥ १ ॥

कर पुरुष शोक नहीं करता । ब्रह्मके विज्ञानसे अभय-प्राप्ति हो जानेसे शोकका अवसर न रहनेके कारण भयदर्शन भी कहाँ हो सकता है ? अतः वह इस लोकमें ही अविद्याकृत काम और कर्मके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है; इस प्रकार वह मुक्त (जीवन्मुक्त) हुआ ही मुक्त (विदेहमुक्त) होता है; अर्थात् पुनः शरीरग्रहण नहीं करता ॥ १ ॥

स तु नैकशरीरपुरवर्त्येवात्मा किं तर्हि सर्वपुरवर्ती । कथम्—

परन्तु वह आत्मा तो केवल एक ही शरीररूप पुरमें रहनेवाला नहीं है, बल्कि सभी पुरोंमें रहता है। किस प्रकार रहता है ? [सो कहते हैं—]

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥

वह गमन करनेवाला है, आकाशमें चलनेवाला सूर्य है, वसु है, अन्तरिक्षमें विचरनेवाला सर्वव्यापक वायु है, वेदी (पृथिवी) में स्थित होता (अग्नि) है, कलशमें स्थित सोम है । इसी प्रकार वह मनुष्योंमें गमन करनेवाला, देवताओंमें जानेवाला, सत्य या यज्ञमें गमन करनेवाला, आकाशमें जानेवाला, जल, पृथिवी, यज्ञ और पर्वतोंसे उत्पन्न होनेवाला तथा सत्यस्वरूप और महान् है ॥ २ ॥

हंसो हन्ति गच्छतीति । शुचिषच्छुचौ दिव्यादित्यात्मना सीदति इति । वसुर्वासयति सर्वानिति । वाय्वात्मनान्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत् । होताग्निः "अग्निर्वै होता" इति श्रुतेः । वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषद् । "इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः" (ऋ० सं० २ । ३ । २०) इत्यादिमन्त्रवर्णात् । अतिथिः सोमः सन्दुरोणे कलशे सीदति इति दुरोणसत् । ब्राह्मणः अतिथिरूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति ।

आत्मनः सर्वपुरान्तर्वर्तित्वम्

नृषन्नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत् । वरसद् वरेषु देवेषु सीदतीति, ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति । व्योमसद् व्योम्न्याकाशे सीदतीति व्योमसत् । अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमकरादिरूपेण जायत इति ।

वह गमन करता है इसलिये 'हंस' है, शुचि—आकाशमें सूर्यरूपसे चलता है इसलिये 'शुचिषत्' है; सबको व्याप्त करता है इसलिये 'वसु' है, वायुरूपसे आकाशमें चलता है इसलिये 'अन्तरिक्षसत्' है, "अग्नि ही होता है" इस श्रुतिके अनुसार 'होता' अग्निको कहते हैं। वेदी—पृथिवीमें गमन करता है अतः 'वेदिषद्' है जैसा कि "यह वेदी पृथिवी (यज्ञभूमि) का उत्कृष्ट मध्यभाग है" इत्यादि मन्त्रवर्णसे प्रमाणित होता है। यह अतिथि—सोम होकर दुरोण—कलशमें स्थित होता है इसलिये 'दुरोणसत्' है। अथवा ब्राह्मण अतिथिरूपसे दुरोण—घरोंमें रहता है इसलिये वही 'अतिथिः दुरोणसत्' है।

वह मनुष्योंमें जाता है इसलिये 'नृषत्' है, वर—देवताओंमें जाता है इसलिये 'वरसत्' है, ऋत—सत्य अथवा यज्ञको कहते हैं उसमें गमन करता है इसलिये 'ऋतसत्' है, व्योम—आकाशमें चलता है इसलिये 'व्योमसत्' है। अप्—जलमें शंख, सीपी और मकर आदि रूपोंसे उत्पन्न होता है इसलिये

गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायत इति । ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति । अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति ।

सर्वात्मापि सन्नृतमवितथस्वभाव एव । बृहन्महान्सर्वकारणत्वात् । यदाप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाप्यस्यात्मस्वरूपत्वमादित्यस्येत्यङ्गीकृतत्वाद् ब्राह्मणव्याख्यानेऽप्यविरोधः । सर्वव्याप्येक एवात्मा जगतो नात्मभेद इति मन्त्रार्थः ॥ २ ॥

'अब्जा' है । गो—पृथिवीमें व्रीहि-यवादिरूपसे उत्पन्न होता है इसलिये 'गोजा' है । ऋत—यज्ञाङ्गरूपसे उत्पन्न होता है इसलिये 'ऋतजा' है । नदी आदिरूपसे अद्रि—पर्वतोंसे उत्पन्न होता है इसलिये 'अद्रिजा' है ।

इस प्रकार सर्वात्मा होकर भी वह ऋत—अवितथस्वभाव ही है तथा सबका कारण होनेसे बृहत्—महान् है । [असौ वा आदित्यो हंसः········इत्यादि ब्राह्मणमन्त्रके अनुसार] यदि इस मन्त्रसे आदित्यका ही वर्णन किया गया हो तो भी 'आदित्य [इस चराचरके] आत्मस्वरूप हैं,' ऐसा अङ्गीकृत होनेके कारण इसका उस ब्राह्मणग्रन्थकी व्याख्यासे भी अविरोध ही है । अतः इस मन्त्रका तात्पर्य यही है कि जगत्का एक ही सर्वव्यापक आत्मा है, आत्माओंमें भेद नहीं है ॥ २ ॥

आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—

अब आत्माका स्वरूपज्ञान करानेमें लिङ्ग बतलाते हैं—

१. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋ० सं० १ । ८ । ७) ।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

जो प्राणको ऊपरकी ओर ले जाता है और अपानको नीचेकी ओर ढकेलता है, हृदयके मध्यमें रहनेवाले उस वामन—भजनीयकी सब देव उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

आत्मनः प्राणापानयोः अधिष्ठातृत्वम्

ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति। तथापानं प्रत्यगधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः। तं मध्ये हृदयपुण्डरीकाकाश आसीनं बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशनं वामनं संभजनीयं विश्वे सर्वे देवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश इव राजानमुपासते तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्तीत्यर्थः। यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः ॥ ३ ॥

जो हृदयदेशसे प्राण—प्राणवृत्तिरूप वायुको ऊर्ध्व—ऊपरकी ओर ले जाता है तथा अपानको प्रत्यक्—नीचेकी ओर ढकेलता है। इस वाक्यमें 'यः (जो)' यह पद शेष रह गया है। हृदय-कमलाकाशके भीतर रहनेवाले उस वामन अर्थात् भजनीयकी, जिसका विज्ञानरूप प्रकाश बुद्धिमें अभिव्यक्त होता है, चक्षु आदि सभी देव—इन्द्रियाँ और प्राण रूप-रसादि विज्ञानरूप कर देते हुए इस प्रकार उपासना करते हैं जैसे वैश्यलोग राजाकी अर्थात् वे चक्षु आदि उसके ही लिये अपना व्यापार बंद नहीं करते। अतः जिसके लिये और जिसकी प्रेरणासे प्राण और इन्द्रियोंके समस्त व्यापार होते हैं वह उनसे अन्य है—ऐसा सिद्ध हुआ। यही इस वाक्यका अर्थ है ॥ ३ ॥

देहस्थ आत्मा ही जीवन है

किं च— | तथा—

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।

देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

इस शरीरस्थ देहीके भ्रष्ट हो जानेपर—इस देहसे मुक्त हो जानेपर भला इस शरीरमें क्या रह जाता है ? [अर्थात् कुछ भी नहीं रहता] यही वह [ब्रह्म] है ॥ ४ ॥

अस्य शरीरस्थस्यात्मनो विस्रंसमानस्यावस्रंसमानस्य भ्रंशमानस्य देहिनो देहवतः; विस्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्विमुच्यमानस्येति किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलापे न किञ्चन परिशिष्यतेऽत्र देहे पुरस्वामिविद्रवण इव पुरवासिनां यस्यात्मनोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकरणकलापरूपं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः सिद्धः ॥४॥

इस शरीरस्थ देही—देहवान् आत्माके विस्रंसमान—अवस्रंसमान अर्थात् भ्रष्ट हो जानेपर इस प्राणादि समुदायमेंसे भला क्या रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं रहता । 'देहाद्विमुच्यमानस्य' ऐसा कहकर विस्रंसन शब्दका अर्थ बतलाया गया है । नगरके स्वामीके चले जानेपर जैसे पुरवासियोंकी दुर्दशा होती है उसी प्रकार इस शरीरमें, जिस आत्माके चले जानेपर, एक क्षणमें ही यह भूत और इन्द्रियोंका समुदायरूप सब-का-सब बलहीन—विध्वस्त अर्थात् नष्ट हो जाता है वह इससे भिन्न ही सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमात् एवेदं विध्वस्तं भवति न तु तद्व्यतिरिक्तात्मापगमात्प्राणादिभिरेव हि मर्त्यो जीवतीति नैतदस्ति—

यदि कोई ऐसा माने कि यह शरीर, प्राण और अपान आदिके चले जानेसे ही नष्ट हो जाता है, उनसे भिन्न किसी आत्माके जानेसे नहीं; क्योंकि प्राणादिके कारण ही मनुष्य जीवित रहता है—तो ऐसी बात नहीं है, [क्योंकि—]

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

कोई भी मनुष्य न तो प्राणसे जीवित रहता है और न अपानसे ही । बल्कि वे तो, जिसमें ये दोनों आश्रित हैं ऐसे किसी अन्यसे ही जीवित रहते हैं ॥ ५ ॥

न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान्कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते । स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां लोके; तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हति ।

कोई भी मर्त्य—मनुष्य अर्थात् देहधारी न तो प्राणसे जीवित रहता है और न अपान अथवा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ही; क्योंकि परस्पर मिलकर प्रवृत्त होनेवाले तथा किसी दूसरेके शेषभूत ये इन्द्रिय आदि जीवनके हेतु नहीं हो सकते । लोकमें किसी स्वतन्त्र और बिना मिले हुए अन्य [चेतन पदार्थ] की प्रेरणाके बिना गृह आदि संहत पदार्थोंकी स्थिति नहीं देखी गयी; उसी तरह संघातरूप होनेसे प्राणादिकी स्थिति भी स्वतन्त्र नहीं हो सकती ।

अत इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति। यस्मिन्संहतविलक्षण आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ, यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं कुर्वन्वर्तते संहतः सन्स ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

अतः ये सब परस्पर मिलकर प्राणादि संहतपदार्थोंसे भिन्न किसी अन्यके द्वारा ही जीवित रहते—प्राण धारण करते हैं, जिस संहतपदार्थभिन्न सत्स्वरूप परमात्माके रहते हुए ही यह प्राण-अपान चक्षु आदिसे संहत होकर आश्रित हैं; तात्पर्य यह है कि जिस असंहत आत्माके लिये प्राण-अपान आदि संहत होकर अपने व्यापारोंको करते हुए वर्तते हैं वह आत्मा उनसे भिन्न सिद्ध होता है ॥५॥

मरणोत्तर कालमें जीवकी गति

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

हे गौतम ! अब मैं फिर भी तुम्हारे प्रति उस गुह्य और सनातन ब्रह्मका वर्णन करूँगा, तथा [ब्रह्मको न जाननेसे] मरणको प्राप्त होनेपर आत्मा जैसा हो जाता है [वह भी बतलाऊँगा] ॥ ६ ॥

हन्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यम् इदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरन्तनं प्रवक्ष्यामि यद्विज्ञानात् सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य

अहो ! अब मैं तुम्हें फिर भी इस गुह्य—गोपनीय सनातन—चिरन्तन ब्रह्मके विषयमें बतलाऊँगा, जिसके ज्ञानसे सम्पूर्ण संसारकी निवृत्ति हो जाती है तथा जिसका ज्ञान न होनेपर मरणको प्राप्त होनेके अनन्तर आत्मा जैसा हो

यथात्मा भवति यथा संसरति तथा शृणु हे गौतम ॥ ६ ॥

जाता है, अर्थात् वह जिस प्रकार [जन्म-मरणरूप] संसारको प्राप्त होता है, हे गौतम ! वह सुन ॥६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करनेके लिये किसी योनिको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर-भावको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिद् अविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः; योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः। स्थाणुं वृक्षादिस्थावरभावम् अन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंयन्त्यनुगच्छन्ति । यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म यैर्यादृशं कर्मेह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत् । तथा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपार्जितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ।

अन्य—कुछ अविद्यावान् मूढ देहधारी शरीर धारण करनेके लिये वीर्यरूप बीजसे संयुक्त होकर योनि—योनिद्वारको प्राप्त होते हैं अर्थात् किसी योनिमें प्रविष्ट हो जाते हैं । दूसरे कोई अत्यन्त अधम पुरुष मरणको प्राप्त होकर [यथाकर्म और यथाश्रुत] स्थाणु यानी वृक्षादि स्थावर-भावका अनुवर्तन—अनुगमन करते हैं । तात्पर्य यह कि यथाकर्म यानी जिसका जो कर्म है अथवा इस जन्ममें जिसने जैसा कर्म किया है उसके अधीन होकर तथा यथाश्रुत यानी जिसने जैसा विज्ञान उपार्जित किया है उसके अनुरूप शरीरको ही प्राप्त होते

"यथाप्रज्ञं हि संभवाः" इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ७ ॥

हैं। "जन्म अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार हुआ करते हैं" ऐसी एक दूसरी श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है ॥ ७ ॥

यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म वक्ष्यामीति तदाह—

पहले जो यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं तुझे गुह्य ब्रह्म बतलाऊँगा'—उसे ही बतलाते हैं—

गुह्य ब्रह्मोपदेश

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः
श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

प्राणादिके सो जानेपर जो यह पुरुष अपने इच्छित पदार्थोंकी रचना करता हुआ जागता रहता है वही शुक्र (शुद्ध) है, वह ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। उसमें सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं; कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। निश्चय यही वह [ब्रह्म] है ॥ ८ ॥

य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति। कथम्? कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयञ्जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद्ब्रह्म नान्यद् गुह्यं

जो यह प्राणादिके सो जानेपर जागता रहता है—[उनके साथ] सोता नहीं है। किस प्रकार जागता रहता है? [इसपर कहते हैं—] अविद्याके योगसे स्त्री आदि अपने-अपने इच्छित—अभीष्ट पदार्थोंकी रचना करता हुआ अर्थात् उन्हें निष्पन्न करता हुआ जागता है वही शुक्र-शुभ्र यानी शुद्ध है। वह ब्रह्म है, उससे भिन्न और कोई

ब्रह्मास्ति । तदेवामृतमविनाशि उच्यते सर्वशास्त्रेषु । किं च पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोककारणत्वात्तस्य । तदु नात्येति कश्चन इत्यादि पूर्ववदेव ॥ ८ ॥

शुद्ध ब्रह्म नहीं है । वही सब शास्त्रोंमें अमृत—अविनाशी कहा गया है । यही नहीं, उस ब्रह्ममें ही पृथिवी आदि सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं; क्योंकि वह सभी लोकोंका कारण है । उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता [निश्चय यही वह ब्रह्म है] इत्यादि [आगेकी व्याख्या] पूर्ववत् समझनी चाहिये ॥ ८ ॥

अनेकतार्किककुबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नम् अप्यात्मैकत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानमप्यनृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाधीयत इति तत्प्रतिपादन आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः—

अनेक तार्किकोंकी कुबुद्धिद्वारा जिनका चित्त चञ्चल कर दिया गया है, अतः जिनकी बुद्धि सरल नहीं है उन ब्राह्मणोंके चित्तमें, प्रमाणसे युक्त सिद्ध होनेपर भी, आत्मैकत्व-विज्ञान बारम्बार कहे जानेपर भी स्थिर नहीं होता । अतः उसके प्रतिपादनमें आदर रखनेवाली श्रुति पुनः-पुनः कहती है—

आत्माका उपाधिप्रतिरूपत्व

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण भुवनमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूप (रूपवान् वस्तु) के अनुरूप हो गया है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा उनके रूपके अनुरूप हो रहा है तथा उनसे बाहर भी है ॥ ९ ॥

अग्निर्यथैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनमयं लोकस्तमिमं प्रविष्टः अनुप्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिदार्वादिदाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः प्रतिरूपः तत्र तत्र प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव; एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानाम् अभ्यन्तर आत्मातिसूक्ष्मत्वाद् दार्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेन अविकृतेन स्वरूपेणाकाशवत् ॥९॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि प्रकाशस्वरूप होकर भी भुवनमें—इसमें सब जीव होते हैं इसीसे इस लोकको भुवन कहते हैं, उसी इस लोकमें अनुप्रविष्ट हुआ रूप-रूपके प्रति अर्थात् काष्ठ आदि भिन्न-भिन्न प्रत्येक दाह्य पदार्थके प्रति प्रतिरूप—उस-उस पदार्थके अनुरूप हुआ दाह्य-भेदसे अनेक प्रकारका हो गया है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा—आन्तरिक आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण काष्ठादिमें प्रविष्ट हुए अग्निके समान सम्पूर्ण शरीरोंमें प्रविष्ट रहनेके कारण उनके अनुरूप हो गया है तथा आकाशके समान अपने अविकारी रूपसे उसके बाहर भी है ॥ ९ ॥

तथान्यो दृष्टान्तः—

ऐसा ही एक दूसरा दृष्टान्त भी है—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥

जिस प्रकार इस लोकमें प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है ॥ १० ॥

वायुर्यथैक इत्यादि । प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यादि समानम् ॥ १० ॥

जिस प्रकार एक ही वायु प्राणरूपसे देहोंमें अनुप्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है [उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है] इत्यादि पूर्ववत् ही समझना चाहिये ॥ १० ॥

एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तमत इदमुच्यते—

इस प्रकार एकहीकी सर्वात्मकता होनेपर संसारदुःखसे युक्त होना भी परमात्माका ही सिद्ध होता है; इसलिये ऐसा कहा जाता है—

आत्माकी असङ्गता

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण लोकका नेत्र होकर भी सूर्य नेत्रसम्बन्धी बाह्यदोषोंसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा संसारके दुःखसे लिप्त नहीं होता, बल्कि उनसे बाहर रहता है ॥ ११ ॥

सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेन उपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादिदर्शननिमित्तैराध्यात्मिकैः पापदोषैर्बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः । एकः संस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।

जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाशसे लोकका उपकार करता हुआ अर्थात् मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओंको प्रकाशित करनेके कारण उन्हें देखनेवाले समस्त लोकोंका नेत्ररूप होकर भी अपवित्र पदार्थादिके देखनेसे प्राप्त हुए आध्यात्मिक पापदोष तथा अपवित्र पदार्थोंके संसर्गसे होनेवाले बाह्यदोषोंसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा भी लोकके दुःखसे लिप्त नहीं होता, प्रत्युत उससे बाहर रहता है ।

लोको ह्यविद्यया स्वात्मनि अध्यस्तया कामकर्मोद्भवं दुःखम् अनुभवति । न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि । यथा रज्जुशुक्तिकोषरगगनेषु सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वादीनां स्वतो दोषरूपाणि

लोक अपने आत्मामें आरोपित अविद्याके कारण ही कामना और कर्मजनित दुःखका अनुभव करता है किन्तु वह [अविद्या] परमार्थतः स्वात्मामें है नहीं, जिस प्रकार कि रज्जु, शुक्ति, मरुस्थल और आकाशमें [प्रतीत होनेवाले] सर्प, रजत, जल और मलिनता—ये उन रज्जु आदिमें स्वाभाविक दोषरूप नहीं हैं

सन्ति । संसर्गिणि विपरीतबुद्ध्यध्यासनिमित्तात्तद्दोषवद्विभाव्यन्ते । न तद्दोषैस्तेषां लेपः । विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्या हि ते ।

बल्कि उनके संसर्गमें आये हुए पुरुषमें विपरीत बुद्धिका अध्यास होनेके कारण ही वे उन-उन दोषोंसे युक्त प्रतीत होते हैं । किन्तु उन दोषोंसे उनका लेप नहीं होता; क्योंकि वे तो उस विपरीत बुद्धिजनित अध्याससे बाहर ही हैं ।

तथात्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्ममरणादिदुःखमनुभवति । न त्वात्मा सर्वलोकात्मापि सन् विपरीताध्यारोपनिमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन । कुतः ? बाह्यः, रज्ज्वादिवदेव विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यो हि स इति ॥११॥

इसी प्रकार सम्पूर्ण लोक भी [रज्जु आदिमें अध्यस्त] सर्पादिके समान अपने आत्मामें क्रिया, कारक और फलरूप विपरीत ज्ञानका आरोप कर उसके निमित्तसे होनेवाले जन्म-मरण आदि दुःखका अनुभव करता है । आत्मा तो सम्पूर्ण लोकका अन्तरात्मा होकर भी विपरीत अध्यारोपसे होनेवाले लौकिक दुःखसे लिप्त नहीं होता । क्यों नहीं होता ? क्योंकि वह उससे बाहर है—अर्थात् रज्जु आदिके समान वह विपरीत बुद्धिजनित अध्याससे बाहर ही है ॥११॥

आत्मदर्शी ही नित्य सुखी है

किं च— | तथा—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

जो एक, सबको अपने अधीन रखनेवाला और सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा अपने एक रूपको ही अनेक प्रकारका कर लेता है, अपनी बुद्धिमें स्थित उस आत्मदेवको जो धीर (विवेकी) पुरुष देखते हैं उन्हींको नित्य सुख प्राप्त होता है, औरोंको नहीं ॥ १२ ॥

स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वान्योऽस्ति । वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते । कुतः ? सर्वभूतान्तरात्मा । यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधानेकप्रकारं यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात् । तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेण अभिव्यक्तमित्येतत् ।

वह स्वतन्त्र और सर्वगत परमेश्वर एक है । उसके समान अथवा उससे बड़ा और कोई नहीं है । वह वशी है; क्योंकि सारा जगत् उसके अधीन है । उसके अधीन क्यों है ? [इसपर कहते हैं—] क्योंकि वह सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा है । इस प्रकार जो अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न होनेके कारण अपने एक—नित्य एकरस विशुद्धविज्ञानस्वरूप आत्माको नाम-रूप आदि अशुद्ध उपाधिभेदके कारण अपनी सत्तामात्रसे बहुधा—अनेक प्रकारका कर लेता है, उस आत्मस्थ अर्थात् अपने शरीरस्थ हृदयाकाश यानी बुद्धिमें चैतन्य-स्वरूपसे अभिव्यक्त हुए [आत्माको जो लोग देखते हैं उन्हींको नित्य सुख प्राप्त होता है] ।

न हि शरीरस्याधारत्वमात्मनः आकाशवदमूर्तत्वात्; आदर्शस्थं

आकाशके समान अमूर्तिमान् होनेसे आत्माका आधार शरीर नहीं है [अर्थात् आत्मा निराधार है ।]

[सुखमिति यद्वत् । तमेतम् ईश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽनुपश्यन्ति आचार्यागमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखम् आत्मानन्दलक्षणं भवति; नेतरेषां बाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यविद्याव्यवधानात्॥१२॥

जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित मुखका आधार दर्पण नहीं है । जिनकी बाह्य वृत्तियाँ निवृत्त हो गयी हैं ऐसे जो धीर—विवेकी पुरुष उस ईश्वर—आत्माको देखते हैं—आचार्य और शास्त्रका उपदेश पानेके अनन्तर उसका साक्षात् अनुभव करते हैं उन परमात्मस्वरूपताको प्राप्त हुए पुरुषोंको ही आत्मानन्दरूप शाश्वत-नित्यसुख प्राप्त होता है । किन्तु दूसरे जो बाह्य पदार्थोंमें आसक्तचित्त अविवेकी पुरुष हैं उन्हें यह सुख स्वात्मभूत होनेपर भी अविद्यारूप व्यवधानके कारण प्राप्त नहीं हो सकता ॥१२॥

किं च—

इसके सिवा—

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

जो अनित्य पदार्थोंमें नित्यस्वरूप तथा ब्रह्मा आदि चेतनोंमें चेतन है और जो अकेला ही अनेकोंकी कामनाएँ पूर्ण करता है, अपनी बुद्धिमें स्थित उस आत्माको जो विवेकी पुरुष देखते हैं उन्हींको नित्यशान्ति प्राप्त होती है; औरोंको नहीं ॥ १३ ॥

नित्योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम् । चेतनश्चेतनानां चेतयितॄणां ब्रह्मादीनां प्राणिनाम् अग्निनिमित्तमिव दाहकत्वम् अनग्नीनामुदकादीनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम् । किं च स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान्य एको बहूनाम् अनेकेषामनायासेन विदधाति प्रयच्छतीत्येतत् । तमात्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः उपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव स्यान्नेतरेषामनेवंविधानाम् ॥ १३ ॥

जो अनित्यों—नाशवानोंमें नित्य—अविनाशी है, चेतन अर्थात् ब्रह्मा आदि अन्य चेतयिता प्राणियोंका भी चेतन है । जिस प्रकार जल आदि दाहशक्तिशून्य पदार्थोंका दाहकत्व अग्निके निमित्तसे होता है वैसे ही अन्य प्राणियोंका चेतनत्व आत्मचैतन्यके निमित्तसे ही है । इसके सिवा वह सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर भी है; क्योंकि वह अकेला ही बिना किसी प्रयासके अनेक सकाम संसारी पुरुषोंके कर्मानुरूप भोग यानी कर्मफल तथा अपने अनुग्रहरूप निमित्तसे हुए भोग विधान करता अर्थात् देता है । जो धीर (बुद्धिमान्) पुरुष अपने आत्मामें स्थित उस आत्मदेवको देखते हैं उन्हींको शाश्वती—नित्य यानी स्वात्मभूता शान्ति—उपरति प्राप्त होती है—अन्य जो ऐसे नहीं हैं उन्हें नहीं होती ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

उसी इस [आत्मविज्ञान] को ही विवेकी पुरुष अनिर्वाच्य परम सुख मानते हैं । उसे मैं कैसे जान सकूँगा । क्या वह प्रकाशित (हमारी बुद्धिका विषय) होता है, अथवा नहीं ॥ १४ ॥

यत्तदात्मविज्ञानं सुखम् अनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृष्टं प्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरम् अपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते यत्तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते । कथं नु केन प्रकारेण तत् सुखमहं विजानीयाम् । इदम् इत्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयं यथा निवृत्तैषणा यतयः । किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तद्यतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किं वा नेति ॥ १४ ॥

यह जो आत्मविज्ञानरूप सुख है वह अनिर्देश्य—कथन करनेके अयोग्य, परम अर्थात् प्रकृष्ट और साधारण पुरुषोंके वाणी और मनका अविषय भी है; तो भी जो सब प्रकारकी एषणाओंसे रहित ब्राह्मणलोग हैं वे उसे प्रत्यक्ष ही मानते हैं। उस आत्मसुखको मैं कैसे जान सकूँगा ? अर्थात् निष्काम यतियोंके समान 'वह यही है' इस प्रकार उसे कैसे अपनी बुद्धिका विषय बनाऊँगा ? वह प्रकाशस्वरूप है, सो क्या वह भासता है—हमारी बुद्धिका विषय होकर स्पष्ट दिखलायी देता है, या नहीं ? ॥ १४ ॥

अत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति । कथम् ?

इसका उत्तर यही है कि वह भासता है और विशेषरूपसे भासता है । किस प्रकार ? [सो कहते हैं—]

सर्वप्रकाशकका अप्रकाश्यत्व

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

वहाँ (उस आत्मलोकमें) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत् ही चमचमाती है; फिर इस अग्निकी तो बात ही क्या है ? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाशसे ही यह सब कुछ भासता है ॥ १५ ॥

न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमस्मद्दृष्टिगोचरः अग्निः। किं बहुना यदिदमादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते। यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनु दहति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति।

यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च। कार्यगतेन

वहाँ—उस अपने आत्मस्वरूप ब्रह्ममें सबको प्रकाशित करनेवाला होकर भी सूर्य प्रकाशित नहीं होता अर्थात् वह भी उस ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करता। इसी प्रकार ये चन्द्रमा, तारे और विद्युत् भी प्रकाशित नहीं होते। फिर हमारी दृष्टिके विषयभूत इस अग्निका तो कहना ही क्या है ? अधिक क्या कहा जाय ? यह सूर्य आदि जो कुछ प्रकाशित हो रहे हैं वे सब उस परमात्माके प्रकाशित होते हुए ही अनुभासित हो रहे हैं, जिस प्रकार जल और उल्मुक (जलते हुए काष्ठ) आदि अग्निके संयोगसे अग्निके प्रज्वलित होते हुए ही दहन करते हैं, स्वयं नहीं, उसी प्रकार उसके प्रकाश—तेजसे ही ये सूर्य आदि सब प्रकाशित हो रहे हैं।

क्योंकि ऐसा है इसलिये वही ब्रह्म प्रकाशित होता है और विशेषरूपसे प्रकाशित होता है। कार्यगत

विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते । न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम् । घटादीनाम् अन्यावभासकत्वादर्शनाद्भासनरूपाणां चादित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥ १५ ॥

नाना प्रकारके प्रकाशसे उस ब्रह्मकी प्रकाशस्वरूपता स्वतः सिद्ध है; क्योंकि जिसमें स्वतः प्रकाश नहीं है वह दूसरेको भी प्रकाशित नहीं कर सकता, जैसा कि घटादिका दूसरोंको प्रकाशित करना नहीं देखा गया और प्रकाशस्वरूप आदित्यादिका दूसरोंको प्रकाशित करना देखा गया है ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥२॥ (५)



तृतीया वल्ली

संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथा, एवं संसारकार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदिधारयिषयेयं षष्ठी वल्ल्यारभ्यते—

लोकमें जिस प्रकार तूल[1] (कार्य) का निश्चय कर लेनेसे ही वृक्षके मूलका निश्चय किया जाता है उसी प्रकार संसाररूप कार्यवृक्षके निश्चयसे उसके मूल ब्रह्मका स्वरूप-निर्धारण करनेकी इच्छासे यह छठी वल्ली आरम्भ की जाती है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ १ ॥

जिसका मूल ऊपरकी ओर तथा शाखाएँ नीचेकी ओर हैं ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन (अनादि) है । वही विशुद्ध ज्योतिःस्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है । सम्पूर्ण लोक उसीमें आश्रित हैं; कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता । यही निश्चय वह [ब्रह्म] है ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूल ऊर्ध्वं मूलं यत् तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः । वृक्षश्च व्रश्चनात् ।

ऊर्ध्व (ऊपरकी ओर) अर्थात् जो वह भगवान् विष्णुका परम पद है वही जिसका मूल है ऐसा यह अव्यक्तसे स्थावरपर्यन्त संसारवृक्ष 'ऊर्ध्वमूल' है । इसका व्रश्चन— छेदन होनेके कारण यह वृक्ष कहलाता है ।

१. 'तूल' कपासको कहते हैं । वह कपासके पौधेका कार्य है । अतः यहाँ 'तूल' शब्दसे सम्पूर्ण कार्यवर्ग उपलक्षित होता है ।

जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्वविजिज्ञासुभिः अनिर्धारितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धस्तृष्णाजलावसेकोद्भूतदर्पो बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः सुखदुःखवेदनानेकरसः

जो जन्म, जरा, मरण और शोक आदि अनेक अनर्थोंसे भरा हुआ, क्षण-क्षणमें अन्यथा भावको प्राप्त होनेवाला, माया मृगतृष्णाके जल और गन्धर्वनगरादिके समान दृष्ट-नष्टस्वरूप होनेसे अन्तमें वृक्षके समान अभावरूप हो जानेवाला, केलेके खम्भेके समान निःसार और सैकड़ों पाखण्डियोंकी बुद्धिके विकल्पोंका आश्रय है, तत्त्वजिज्ञासुओं-द्वारा जिसका तत्त्व 'इदम्' रूपसे निर्धारित नहीं किया गया, वेदान्त-निर्णीत परब्रह्म ही जिसका मूल और सार है, जो अविद्या काम कर्म और अव्यक्तरूप बीजसे उत्पन्न होनेवाला है, ज्ञान और क्रिया—ये दोनों जिसकी स्वरूपभूत शक्तियाँ हैं, वह अपरब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ ही जिसका अङ्कुर है, सम्पूर्ण प्राणियों-के लिङ्गशरीर ही जिसके स्कन्ध हैं, जो तृष्णारूप जलके सेचनसे बढ़े हुए तेजवाला, बुद्धि, इन्द्रिय और विषयरूप नूतन पल्लवोंके अङ्कुरों-वाला, श्रुति, स्मृति, न्याय और ज्ञानोपदेशरूप पत्तोंवाला, यज्ञ, दान, तप आदि अनेक क्रियाकलापरूप सुन्दर फूलोंवाला, सुख, दुःख और वेदनारूप अनेक प्रकारके रसोंसे

प्राण्युपजीव्यानन्तफलस्तत्तृष्णास-लिलावसेकप्ररूढजडीकृतदृढवद्ध-मूलः सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मा-दिभूतपक्षिकृतनीडः प्राणिसुख-दुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीत-वादित्रक्ष्वेलितास्फोटितहसिता-क्रुष्टरुदितहाहामुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेक-शब्दकृततुमुलीभूतमहारवो वेदा-न्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्र-कृतोच्छेद एष संसारवृक्षो-ऽश्वत्थोऽश्वत्थवत्कामकर्मवातेरित-नित्यप्रचलितस्वभावः, स्वर्ग-नरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिः अवाक्शाखः; सनातनोऽनादि-त्वाच्चिरं प्रवृत्तः ।

युक्त, प्राणियोंकी आजीविकारूप अनन्त फलोंवाला तथा फलोंके तृष्णारूप जलके सेचनसे बढ़े हुए और [सात्त्विक आदि भावोंसे] मिश्रित एवं दृढतापूर्वक स्थिर हुए [कर्म-वासनादिरूप अवान्तर] मूलोंवाला है; ब्रह्मा आदि पक्षियोंने जिसपर सत्यादि नामोंवाले सात लोकरूप घोंसले बना रक्खे हैं जो प्राणियोंके सुख-दुःखजनित हर्ष-शोकसे उत्पन्न हुए नृत्य, गान, वाद्य, क्रीडा, आस्फोटन, (खम ठोकना) हँसी, आक्रन्दन, रोदन तथा हाय-हाय, छोड़-छोड़ इत्यादि अनेक प्रकारके शब्दोंकी तुमुलध्वनि-से अत्यन्त गुञ्जायमान हो रहा है तथा वेदान्तविहित ब्रह्मात्मैक्य-दर्शनरूप असङ्गशस्त्रसे जिसका उच्छेद होता है ऐसा यह संसाररूप वृक्ष अश्वत्थ है, अर्थात् अश्वत्थ वृक्षके समान कामना और कर्मरूप वायुसे प्रेरित हुआ नित्य चञ्चल स्वभाववाला है। स्वर्ग, नरक, तिर्यक् और प्रेतादि शाखाओंके कारण यह नीचेकी ओर फैली शाखाओंवाला है तथा सनातन यानी अनादि होनेके कारण चिर-कालसे चला आ रहा है ।

यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मत्

इस संसारका जो मूल है वही शुक्र-शुभ्र-शुद्ध-ज्योतिर्मय अर्थात्

चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात् । तदेवामृतम् अविनाशस्वभावमुच्यते कथ्यते सत्यत्वात् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतम् अन्यदतो मर्त्यम् । तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगर-मरीच्युदकमायासमाः परमार्थ-दर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्ति-स्थितिलयेषु । तदु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्यं कश्चन कश्चिदपि विकारः । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

चैतन्यात्मज्योतिःस्वरूप है । वही सबसे महान् होनेके कारण ब्रह्म है। वही सत्यस्वरूप होनेके कारण अमृत अर्थात् अविनाशी स्वभाववाला कहा जाता है । विकार वाणीका विलास और केवल नाममात्र है अतः उस ब्रह्मसे अन्य सब मिथ्या और नाशवान् है । उस परमार्थ-सत्य ब्रह्ममें उत्पत्ति, स्थिति और लयके समय सम्पूर्ण लोक गन्धर्व-नगर, मरीचिका-जल और मायाके समान आश्रित हैं, ये परमार्थदर्शन हो जानेपर बाधित हो जानेवाले हैं । जिस प्रकार घट आदि कोई भी कार्य मृत्तिका आदिका अतिक्रमण नहीं कर सकते उस प्रकार कोई भी विकार उस ब्रह्मका अतिक्रमण नहीं कर सकता । निश्चय यही वह [ब्रह्म] है ॥ १ ॥

यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्यु-च्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत एवेदं निःसृतमिति । तन्न—

शङ्का—'जिसके ज्ञानसे अमर हो जाते हैं, ऐसा जिसके विषयमें कहा जाता है वह जगत्का मूलभूत ब्रह्म तो वस्तुतः है ही नहीं; यह सब तो असत्से ही प्रादुर्भूत हुआ है ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है [क्योंकि—]

ईश्वरके ज्ञानसे अमरत्वप्राप्ति

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

यह जो कुछ सारा जगत् है प्राण-ब्रह्ममें, उदित होकर उसीसे, चेष्टा कर रहा है । वह ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्रके समान है । जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

यदिदं किं च यत्किं चेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते । यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम् । महच्च तद्भयं च बिभेत्यस्मादिति महद्भयम्; वज्रमुद्यतमुद्यतमिव वज्रम् । यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन तच्छासने वर्तन्ते तथेदं चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं नियमेन क्षणम् अप्यविश्रान्तं वर्तत इत्युक्तं

यह जो कुछ है अर्थात् यह जो कुछ जगत् है वह सब प्राण यानी परब्रह्मके होनेपर ही उसीसे प्रादुर्भूत होकर एजन—कम्पन-गमन अर्थात् नियमसे चेष्टा कर रहा है । इस प्रकार जो ब्रह्म जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण है वह महान् भयरूप है । यह महान् भयरूप है अर्थात् इससे सब भय मानते हैं, इसलिये यह 'महद्भय' है । तथा उठाये हुए वज्रके समान है । कहना यह है कि जिस प्रकार अपने सामने स्वामीको हाथमें वज्र उठाये देखकर सेवक लोग नियमानुसार उसकी आज्ञामें प्रवृत्त होते रहते हैं उसी प्रकार चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदिरूप यह सारा जगत् अपने अधिष्ठाताओंके सहित एक क्षणको भी विश्राम न लेकर नियमानुसार उसकी आज्ञामें वर्तता है ।

भवति । य एतद्विदुः स्वात्मप्रवृत्तिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥ २ ॥

अपने अन्तःकरणकी प्रवृत्तिके साक्षीभूत इस एक ब्रह्मको जो लोग जानते हैं वे अमर—अमरणधर्मा हो जाते हैं ॥ २ ॥

कथं तद्भयाज्जगद्वर्तत इत्याह—

उसके भयसे जगत् किस प्रकार व्यापार कर रहा है ? सो कहते हैं—

सर्वशासक प्रभु

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

इस (परमेश्वर) के भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है तथा इसीके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है ॥ ३ ॥

भयाद्भीत्या परमेश्वरस्याग्निः तपति भयात्तपति सूर्यो भयात् इन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यतकरवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥ ३ ॥

इस परमेश्वरके भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तप रहा है तथा इसीके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है । यदि सामर्थ्यवान् और ईशनशील लोकपालोंका, हाथमें वज्र उठाये रखनेवाले [इन्द्र] के समान कोई नियन्ता न होता तो स्वामीके भयसे प्रवृत्त होनेवाले सेवकोंके समान उनकी नियमित प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी ॥ ३ ॥

ईश्वरज्ञानके विना पुनर्जन्मप्राप्ति

तच्च,

और उस (भयके कारण-स्वरूप ब्रह्म) को—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

यदि इस देहमें इसके पतनसे पूर्व ही ब्रह्मको [जान सका तो बन्धनसे मुक्त हो जाता है और यदि] नहीं जान पाया तो इन जन्म-मरणशील लोकोंमें वह शरीर-भावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ ४ ॥

इह जीवन्नेव चेद्यद्यशकत् शक्नोति शक्तः सञ्ज्ञानात्येतद्भय-कारणं ब्रह्म बोद्धुमवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽव-स्रंसनात्पतनात्संसारबन्धनाद्वि-मुच्यते । न चेदशकद्बोद्धुं ततः अनवबोधात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः । तस्माच्छरीर-विस्रंसनात्प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः ॥ ४ ॥

यदि इस देहमें अर्थात् जीवित रहते हुए ही शरीरका पतन होनेसे पूर्व साधक पुरुषने इन सूर्यादिके भयके हेतुभूत ब्रह्मको जान लिया तो वह संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है; और यदि उसे न जान सका तो उसका ज्ञान न होनेके कारण वह सर्गोंमें जिनमें स्रष्टव्य प्राणियोंकी रचना की जाती है । उन पृथिवी आदि लोकोंमें शरीरत्व—शरीरभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है अर्थात् शरीर ग्रहण कर लेता है । अतः शरीरपातसे पूर्व ही आत्मज्ञानके लिये यत्न करना चाहिये ॥ ४ ॥



यस्मादिहैवात्मनो दर्शनम् आदर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकाद् अन्यत्र, स च दुष्प्रापः, कथम् ? इत्युच्यते—

क्योंकि जिस प्रकार दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है उसी प्रकार इस (मनुष्यदेह) में ही आत्माका स्पष्ट दर्शन होना सम्भव है, वैसा दर्शन ब्रह्मलोकको छोड़कर और किसी लोकमें नहीं होता और उसका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है; सो किस प्रकार ? इसपर कहते हैं—

स्थानभेदसे भगवद्दर्शनमें तारतम्य

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके । यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

जिस प्रकार दर्पणमें उसी प्रकार निर्मल बुद्धिमें आत्माका [स्पष्ट] दर्शन होता है तथा जैसा स्वप्नमें वैसा ही पितृलोकमें और जैसा जलमें वैसा ही गन्धर्वलोकमें उसका [अस्पष्ट] भान होता है; किन्तु ब्रह्मलोकमें तो छाया और प्रकाशके समान वह [सर्वथा स्पष्ट] अनुभूत होता है ॥ ५ ॥

यथादर्शे प्रतिबिम्बभूतम् आत्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं तथेहात्मनि स्वबुद्धौ आदर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तम् आत्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः ।

जिस प्रकार लोक दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुए अपने-आपको अत्यन्त स्पष्टतया देखता है उसी प्रकार दर्पणके समान निर्मल हुई अपनी बुद्धिमें आत्माका स्पष्ट दर्शन होता है—ऐसा इसका अभिप्राय है ।

यथा स्वप्नेऽविविक्तं जाग्रद्वासनोद्भूतं तथा पितृलोकेऽविविक्तम्

जिस प्रकार स्वप्नमें जाग्रद्वासनाओंसे प्रकट हुआ दर्शन अस्पष्ट होता है उसी प्रकार पितृलोकमें

एव दर्शनमात्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात् । यथा चाप्सु अविभक्तावयवमात्मरूपं परीव ददृशे परिदृश्यत इव तथा गन्धर्वलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः । एवं च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते । छायातपयोः इवात्यन्तविविक्तं ब्रह्मलोक एव एकस्मिन् । स च दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात् । तस्मादात्मदर्शनायेहैव यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

भी अस्पष्ट आत्मदर्शन होता है; क्योंकि वहाँ जीव कर्मफलके उपभोगमें आसक्त रहता है । तथा जिस प्रकार जलमें अपना स्वरूप ऐसा दिखलायी देता है, मानो उसके अवयव विभक्त न हों उसी प्रकार गन्धर्वलोकमें भी अस्पष्टरूपसे ही आत्माका दर्शन होता है । अन्य लोकोंमें भी शास्त्रप्रमाणसे ऐसा ही [अर्थात् अस्पष्ट आत्मदर्शन ही] माना जाता है । एकमात्र ब्रह्मलोकमें ही छाया और प्रकाशके समान वह आत्मदर्शन अत्यन्त स्पष्टतया होता है । किन्तु अत्यन्त विशिष्ट कर्म और ज्ञानसे साध्य होनेके कारण वह ब्रह्मलोक तो बड़ा दुष्प्राप्य है । अतः अभिप्राय यह है कि इस मनुष्यलोकमें ही आत्मदर्शनके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५ ॥

कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते—

उस आत्माको किस प्रकार जानना चाहिये और उसके जाननेमें क्या प्रयोजन है ? इसपर कहते हैं—

आत्मज्ञानका प्रकार और प्रयोजन

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

पृथक्-पृथक् भूतोंसे उत्पन्न होनेवाली इन्द्रियोंके जो विभिन्न भाव तथा उनकी उत्पत्ति और प्रलय हैं उन्हें जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाशादिभ्यः पृथग् उत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात् केवलाच्चिन्मात्रात्मस्वरूपात्पृथग्भावं स्वभावविलक्षणात्मकतां तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ चोत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया नात्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान्न शोचति। आत्मनो नित्यैकस्वभावस्य अव्यभिचाराच्छोककारणत्वानुपपत्तेः। तथा च श्रुत्यन्तरम् "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७ । १ । ३) इति ॥ ६ ॥

अपने-अपने विषयको ग्रहण करनारूप प्रयोजनके कारण अपने कारणरूप आकाशादि भूतोंसे पृथक्-पृथक् उत्पन्न होनेवाली श्रोत्रादि इन्द्रियोंका जो अत्यन्त विशुद्धस्वरूप केवल चिन्मात्र आत्मस्वरूपसे पृथक्त्व अर्थात् स्वाभाविक विलक्षणरूपता है उसे तथा जाग्रत् और स्वप्नकी अपेक्षासे उन इन्द्रियोंके उदयास्तमय—उत्पत्ति और प्रलयको जानकर अर्थात् विवेकपूर्वक यह समझकर कि ये इन्द्रियोंकी ही अवस्थाएँ हैं, आत्माकी नहीं, धीर—बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता; क्योंकि सर्वदा एक स्वभावमें रहनेवाले आत्माका कभी व्यभिचार न होनेके कारण शोकका कोई कारण नहीं ठहरता। जैसा कि "आत्मज्ञानी शोकको पार कर जाता है" ऐसी एक श्रुति भी है ॥ ६ ॥

यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधि-

जिस आत्मासे इन्द्रियोंका पृथक्त्व दिखलाया गया है वह कहीं बाहर है—ऐसा नहीं समझना

गन्तव्यो यस्मात्प्रत्यगात्मा स सर्वस्य । तत्कथमित्युच्यते—

चाहिये; क्योंकि वह सबका अन्तरात्मा है। सो किस प्रकार? इसपर कहते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियोंसे मन पर (उत्कृष्ट) है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे महत्तत्त्व बढ़कर है तथा महत्तत्त्वसे अव्यक्त उत्तम है ॥ ७ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि । अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम् । पूर्ववदन्यत् । सत्त्वशब्दाद्बुद्धिरिहोच्यते ॥ ७ ॥

इन्द्रियोंसे मन पर है [तथा मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है] इत्यादि । इन्द्रियोंके सजातीय होनेसे इन्द्रियोंका ग्रहण करनेसे ही विषयोंका भी ग्रहण हो जाता है । अन्य सब पूर्ववत् (क० १ । ३ । १० के समान) समझना चाहिये । 'सत्त्व' शब्दसे यहाँ बुद्धि कही गयी है ॥ ७ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अव्यक्तसे भी पुरुष श्रेष्ठ है और वह व्यापक तथा अलिङ्ग है; जिसे जानकर मनुष्य मुक्त होता है और अमरत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कारणत्वात् । अलिङ्गो

अव्यक्तसे भी पुरुष श्रेष्ठ है । वह आकाशादि सम्पूर्ण व्यापक पदार्थोंका भी कारण होनेसे व्यापक है। और अलिङ्ग है—जिसके द्वारा

लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं बुद्ध्यादि तदविद्यमानमस्येति सोऽयमलिङ्ग एव । सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत् । यं ज्ञात्वा आचार्यतःशास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुः अविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च गच्छति सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात् पुरुष इति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥८॥

कोई वस्तु जानी जाती है वह बुद्धि आदि लिङ्ग कहलाते हैं; परन्तु पुरुषमें इनका अभाव है इसलिये यह अलिङ्ग अर्थात् सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे रहित है। जिसे आचार्य और शास्त्रद्वारा जानकर पुरुष जीवित रहते हुए ही अविद्या आदि हृदयकी ग्रन्थियोंसे मुक्त हो जाता है तथा शरीरका पतन होनेपर भी अमरत्वको प्राप्त होता है वह पुरुष अलिङ्ग है, और अव्यक्तसे भी पर है—इस प्रकार इसका पूर्ववाक्यसे ही सम्बन्ध है ॥ ८ ॥

कथं तर्ह्यलिङ्गस्य दर्शनम् उपपद्यत इत्युच्यते—

तो फिर जिसका कोई लिङ्ग (ज्ञापक चिह्न) नहीं है उस आत्माका दर्शन होना किस प्रकार सम्भव है ? सो कहा जाता है—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

इस आत्माका रूप दृष्टिमें नहीं ठहरता। इसे नेत्रसे कोई भी नहीं देख सकता। यह आत्मा तो मनका नियमन करनेवाली हृदयस्थिता बुद्धिद्वारा मननरूप सम्यग्दर्शनसे प्रकाशित [हुआ ही जाना जा सकता] है। जो इसे [ब्रह्मरूपसे] जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ ९ ॥

न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम् । अतो न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण, चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात्, पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिद् अप्येनं प्रकृतमात्मानम् ।

कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते । हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या । मनीषा मनसः सङ्कल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट् तया हृदा मनीषाविकल्पयित्र्या मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन अभिक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत् । आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः । तम् आत्मानं ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

इस प्रत्यगात्माका रूप संदर्शन—दृष्टिके विषयमें स्थिर नहीं होता । अतः कोई भी पुरुष इस प्रकृत आत्माको चक्षुसे—सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे [अर्थात् समस्त इन्द्रियोंमेंसे किसीसे] भी नहीं देख सकता अर्थात् उपलब्ध नहीं कर सकता । यहाँ चक्षुका ग्रहण सम्पूर्ण इन्द्रियोंका उपलक्षण करानेके लिये है ।

तो फिर उसे किस प्रकार देखें ? इसपर कहते हैं—हृदयस्थिता बुद्धिसे, जो कि सङ्कल्पादिरूप मनकी नियन्त्री होकर ईशन करनेके कारण 'मनीट्' है उस विकल्पशून्या बुद्धिसे मन अर्थात् मननरूप यथार्थ दर्शनद्वारा सब प्रकार समर्थित अर्थात् प्रकाशित हुआ वह आत्मा जाना जा सकता है । यहाँ 'आत्मा जाना जा सकता है' यह वाक्यशेष है । उस आत्माको जो लोग 'यह ब्रह्म है' ऐसा जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ ९ ॥

सा हृन्मनीट् कथं प्राप्यत इति तदर्थो योग उच्यते—

वह हृदयस्थित [सङ्कल्पशून्य] बुद्धि किस प्रकार प्राप्त होती है ? यह बतलानेके लिये योगसाधनका उपदेश किया जाता है—

परमपदप्राप्ति

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मनके सहित [आत्मामें] स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्थाको परमगति कहते हैं ॥ १० ॥

यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्यो निवर्तितान्यात्मन्येव पञ्च ज्ञानानि—ज्ञानार्थत्वाच्छ्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते—अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि तेन संकल्पादिव्यावृत्तेनान्तःकरणेन; बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

जिस समय अपने-अपने विषयोंसे निवृत्त हुई पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ—ज्ञानार्थक होनेके कारण श्रोत्रादि इन्द्रियाँ 'ज्ञान' कही जाती हैं—मनके साथ अर्थात् वे जिसका अनुवर्तन करनेवाली हैं उस सङ्कल्पादि व्यापारसे निवृत्त हुए अन्तःकरणके सहित [आत्मामें] स्थिर हो जाती हैं और निश्चयात्मिका बुद्धि भी अपने व्यापारोंमें चेष्टाशील नहीं होती—चेष्टा नहीं करती—व्यापार नहीं करती उस अवस्थाको ही परमगति कहते हैं ॥१०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

उस स्थिर इन्द्रियधारणाको ही योग कहते हैं। उस समय पुरुष प्रमादरहित हो जाता है; क्योंकि योग ही उत्पत्ति और नाशरूप है ॥ ११ ॥

तामीदृशीं तदवस्थां योगम् इति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम् । सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः । एतस्यां ह्यवस्थायामविद्याध्यारोपणवर्जितस्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा । स्थिराम् इन्द्रियधारणां स्थिरामचलाम् इन्द्रियधारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणमित्यर्थः ।

उस ऐसी अवस्थाको ही—जो वास्तवमें वियोग ही है—योग मानते हैं; क्योंकि योगीकी यह अवस्था सब प्रकारके अनर्थसंयोगकी वियोगरूपा है । इस अवस्थामें ही आत्मा अपने अविद्यादि आरोपसे रहित स्वरूपमें स्थित रहता है । [उस अवस्थाको ही] स्थिर इन्द्रियधारणा कहते हैं—स्थिर अर्थात् अचल इन्द्रियधारणा यानी बाह्य और आन्तरिक करणोंका धारण करना ।

अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति सामर्थ्यादवगम्यते । न हि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसंभवोऽस्ति । तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमादप्रमादो विधीयते । अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा तदानीमेव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वमित्यतः अभि-

तब उस समय साधक पुरुष अप्रमत्त—प्रमादरहित हो जाता है अर्थात् चित्तसमाधानके प्रति सर्वदा सयत्न रहता है; जिस समय कि वह योगमें प्रवृत्त होता है [उस समय ऐसी स्थिति होती है]—ऐसा इस वाक्यके सामर्थ्यसे जाना जाता है; क्योंकि बुद्धि आदिकी चेष्टाका अभाव हो जानेपर प्रमाद होना सम्भव नहीं है । अतः बुद्धि आदिकी चेष्टाका अभाव होनेसे पूर्व ही अप्रमादका विधान किया जाता है । अथवा जिसी समय इन्द्रियोंकी धारणा स्थिर होती है उसी समय निरङ्कुश अप्रमत्तत्व होता

धीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति । कुतः ? योगो हि यस्मात् प्रभवाप्ययौ उपजनापायधर्मक इत्यर्थोऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

है; इसीलिये 'उस समय अप्रमत्त हो जाता है' ऐसा कहा है। ऐसी बात क्यों है? क्योंकि योग ही प्रभव और अप्यय यानी उत्पत्ति और लयरूप धर्मवाला है; अतः तात्पर्य यह है कि अपाय (लय) की निवृत्तिके लिये प्रमादका अभाव करना चाहिये ॥ ११ ॥

बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद् ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावात् अनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म। यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके विपरीतं चासद् इत्यतश्चानर्थको योगः अनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते—

यदि ब्रह्म बुद्धि आदिकी चेष्टाका विषय होता तो 'यह वह [ब्रह्म] है, इस प्रकार विशेषरूपसे गृहीत किया जा सकता था; किन्तु बुद्धि आदिके निवृत्त हो जानेपर तो उसे गृहीत करनेके कारणका अभाव हो जानेसे उपलब्ध न होनेवाला वह ब्रह्म वस्तुतः है ही नहीं। लोकमें जो वस्तु इन्द्रियगोचर होती है वही 'है' इस प्रकार प्रसिद्ध होती है और इसके विपरीत [इन्द्रियगोचर न होनेवाली] वस्तु 'असत्' कही जाती है, अतः योग व्यर्थ है। अथवा उपलब्ध होनेवाला न होनेसे ब्रह्म 'नहीं है' इस प्रकार जानना चाहिये—ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है—

सत्यम्,

ठीक है—

क० उ० ११—

आत्मोपलब्धिका साधन सद्बुद्धि ही है

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥

वह आत्मा न तो वाणीसे, न मनसे और न नेत्रसे ही प्राप्त किया जा सकता है; वह 'है' ऐसा कहनेवालोंसे अन्यत्र (भिन्न पुरुषोंको) किस प्रकार उपलब्ध हो सकता है ? ॥ १२ ॥

नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्यर्थः । तथापि सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलम् इत्यवगतत्वादस्त्येव कार्यप्रविलापनस्य अस्तित्वनिष्ठत्वात् । तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति । यदापि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदापि सा सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते । बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे ।

तात्पर्य यह कि वह ब्रह्म न तो वाणीसे, न मनसे, न नेत्रसे और न अन्य इन्द्रियोंसे ही प्राप्त किया जा सकता है । तथापि सर्वविशेषरहित होनेपर भी 'वह जगत्का मूल है' इस प्रकार ज्ञात होनेके कारण वह है ही, क्योंकि कार्यका विलय किसी अस्तित्वके आश्रयसे ही हो सकता है । इसी प्रकार सूक्ष्मताकी तारतम्यपरम्परासे अनुगत होनेवाला यह सम्पूर्ण कार्यवर्ग भी सद्बुद्धिनिष्ठाको ही सूचित करता है । जिस समय विषयका विलय करते हुए बुद्धिका विलय किया जाता है उस समय भी वह सद्वृत्तिगर्भिता हुई ही लीन होती है । तथा सत् और असत्का यथार्थ स्वरूप जाननेमें तो हमारे लिये बुद्धि ही प्रमाण है ।

मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमसदित्येवं गृह्येत न त्वेतदस्ति सत्सदित्येव तु गृह्यते; यथा मृदादिकार्यं घटादि मृदाद्यन्वितम् । तस्माज्जगतो मूलमात्मास्तीत्येवोपलब्धव्यम् । कस्मात् ? अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधानादन्यत्र नास्तिकवादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यमभावान्तं प्रविलीयति इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद्ब्रह्म तत्त्वत उपलभ्यते न कथञ्चनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

यदि जगत्का कोई मूल न होता तो यह सम्पूर्ण कार्यवर्ग असन्मय ही होनेके कारण 'असत् है' इस प्रकार गृहीत होता। किन्तु ऐसी बात नहीं है; यह जगत् तो 'है–है' इस प्रकार ही गृहीत होता है, जिस प्रकार कि मृत्तिका आदिके कार्य घट आदि [अपने कारण] मृत्तिका आदिसे समन्वित ही गृहीत होते हैं। अतः जगत्का मूल आत्मा 'है' इस प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिये। क्यों ? क्योंकि आत्मा 'है' इस प्रकार कहनेवाले शास्त्रार्थानुसारी श्रद्धालु आस्तिक पुरुषोंसे भिन्न नास्तिकवादियोंको, जो ऐसा मानते हैं कि 'जगत्का मूल आत्मा नहीं है, जिसका अभाव ही अन्तिम परिणाम है ऐसा यह कार्यवर्ग कारणसे अनन्वित हुआ ही लीन हो जाता है'— ऐसे उन विपरीतदर्शियोंको वह ब्रह्म किस प्रकार तत्त्वतः उपलब्ध हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकता ॥१२॥

तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षम् आसुरम्—

अतः असद्वादियोंके आसुरी पक्षका निराकरण कर—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

वह आत्मा 'है' इस प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिये तथा उसे तत्त्वभावसे भी जानना चाहिये। इन दोनों प्रकारकी उपलब्धियोंमेंसे जिसे 'है' इस प्रकारकी उपलब्धि हो गयी है तत्त्वभाव उसके अभिमुख हो जाता है ॥ १३ ॥

अस्तीत्येवात्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो बुद्ध्याद्युपाधिः । यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय आत्मा कार्यं च कारणव्यतिरेकेण नास्ति "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति श्रुतेस्तदा यस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्यात्मनः तत्त्वभावो भवति तेन च रूपेण आत्मोपलब्धव्य इत्यनुवर्तते ।

बुद्धि आदि जिसकी उपाधि हैं तथा जिसका सत्त्व उसके कार्यवर्गमें अनुगत है उस आत्माको 'है' इस प्रकार ही उपलब्ध करना चाहिये। जिस समय आत्मा उस बुद्धि आदि उपाधिसे रहित और निर्विकार जाना जाता है तथा कार्यवर्ग "विकार वाणीका विलास और नाममात्र है, केवल मृत्तिका ही सत्य है" इस श्रुतिके अनुसार अपने कारणसे भिन्न नहीं है—ऐसा निश्चित होता है उस समय जिस निरुपाधिक अलिङ्ग और सत्-असत् आदि प्रतीतिके विषयत्वसे रहित आत्माका तत्त्वभाव होता है उस तत्त्वस्वरूपसे ही आत्माको उपलब्ध करना चाहिये—इस प्रकार यहाँ 'उपलब्धव्य' पदकी अनुवृत्ति की जाती है ।

तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभावयोः—

सोपाधिक अस्तित्व और निरुपाधिक तत्त्वभाव इन दोनोंमेंसे—

निर्धारणार्था षष्ठी—पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्यात्मनः सत्कार्योपाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्य इत्यर्थः पश्चात्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वभावः "नेति नेति" (बृ० उ० २। ३। ६, ३। ९। २६) इति "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" (बृ० उ० ३। ८। ८) "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने" (तै० उ० २। ७। १) इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः प्रसीदत्यभिमुखीभवति आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत इत्येतत् ॥ १३ ॥

यहाँ 'उभयोः' इस पदमें षष्ठी निर्धारणके लिये है—पहले तो 'है' इस प्रकार उपलब्ध हुए आत्माका अर्थात् सत्कार्यरूप उपाधिके किये हुए अस्तित्व-प्रत्ययसे उपलब्ध हुए आत्माका और फिर जिसकी सम्पूर्ण उपाधि निवृत्त हो गयी है और जो ज्ञात एवं अज्ञातसे भिन्न अद्वितीयस्वरूप है, उस "नेति-नेति[1]" "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्[2]" "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने[3]" इत्यादि श्रुतियोंसे निर्दिष्ट आत्माका तत्त्वभाव 'प्रसीदति'—अभिमुख होता है अर्थात् जिसे पहले 'है' इस प्रकार आत्माकी उपलब्धि हो गयी है उसे अपना स्वरूप प्रकट करनेके लिये [वह तत्त्वभाव अभिमुख प्रकाशित होता है] ॥ १३ ॥

अमर कब होता है ?

एवं परमार्थदर्शिनः— इस प्रकार परमार्थदर्शीकी—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

---

१. 'यह (स्थूल) नहीं है, यह (सूक्ष्म) नहीं है ।'

२. 'अस्थूल, असूक्ष्म, अह्रस्व ।'

३. 'अदृश्य (इन्द्रियोंके अविषय) में, अनात्म्य (अहंता-ममताहीन) में, अनिर्वचनीयमें, अनिलयन (आधाररहित) में ।'

जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ, जो कि इसके हृदयमें आश्रय करके रहती हैं, छूट जाती हैं उस समय वह मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है और इस शरीरसे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

कामत्यागेन अमृतत्वम्

यदा यस्मिन्काले सर्वे कामाः कामयितव्यस्यान्यस्याभावात्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते येऽस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः । बुद्धिर्हि कामानामाश्रयो नात्मा । "कामः संकल्पः" (बृ० उ० १ । ५ । ३) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च ।

जब—जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ कामनायोग्य अन्य पदार्थका अभाव होनेके कारण छूट जाती हैं—छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, जो कि बोध होनेसे पूर्व इस विद्वान्के हृदय—बुद्धिमें आश्रित रहती हैं—क्योंकि बुद्धि ही कामनाओंका आश्रय है, आत्मा नहीं; जैसा कि "कामना, संकल्प [और संशय—ये सब मन ही हैं]" इत्यादि एक दूसरी श्रुतिसे भी सिद्ध होता है।

अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधात् आसीत्स प्रबोधोत्तरकालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति । गमनप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद्गमनानुपपत्तेरत्रेहैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

तब फिर जो आत्मसाक्षात्कारसे पूर्व मरणधर्मा था वह जीव आत्मज्ञान होनेके अनन्तर अविद्या, कामना और कर्मरूप मृत्युका नाश हो जानेसे अमर हो जाता है। परलोकमें गमन करानेवाले मृत्युका विनाश हो जानेसे वहाँ जाना सम्भव न होनेके कारण वह इस लोकमें ही दीपनिर्वाणके समान सम्पूर्ण बन्धनोंके नष्ट हो जानेसे ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है ॥ १४ ॥

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते—

परन्तु कामनाओंका समूल नाश कब होता है ? इसपर कहते हैं—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥

जिस समय इस जीवनमें ही इसके हृदयकी सम्पूर्ण ग्रन्थियोंका छेदन हो जाता है उस समय यह मरणधर्मा अमर हो जाता है । बस सम्पूर्ण वेदान्तोंका इतना ही आदेश है ॥ १५ ॥

ग्रन्थिभेद

मयामृतत्वम्

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदम् उपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद् दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः । अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहम् इत्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद् ब्रह्मैवाहमस्मि असंसारीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदेवैतावन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशङ्का कर्तव्या ।

जिस समय यह—जीवित रहते हुए ही इसके हृदयकी—बुद्धिकी सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ अर्थात् दृढ बन्धनरूप अविद्याजनित प्रतीतियाँ छिन्न-भिन्न होती—भेदको प्राप्त होती अर्थात् नष्ट हो जाती हैं—'मैं यह शरीर हूँ, यह मेरा धन है, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि प्रकारके अनुभव अविद्या-प्रत्यय हैं; उसके विपरीत ब्रह्मात्मभावके अनुभवकी उत्पत्तिसे 'मैं असंसारी ब्रह्म ही हूँ' ऐसे बोधद्वारा अविद्यारूप ग्रन्थियोंके नष्ट हो जानेपर उसके निमित्तसे हुई कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं । तब वह मर्त्य (मरणधर्मा जीव) अमर हो जाता है । बस इतना ही सम्पूर्ण वेदान्तोंका अनुशासन—आदेश है; इससे अधिक कुछ और

अनुशासनमनुशिष्टिरुपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्यशेषः ॥१५॥

है ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये । यहाँ 'सर्ववेदान्तानाम्' यह वाक्यशेष है ॥ १५ ॥

निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यत इत्युक्तमत्र ब्रह्म समश्नुत इत्युक्तत्वात् । "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (बृ० उ० ४ । ४ । ६) इति श्रुत्यन्तराच्च ।

जिसमें सम्पूर्ण विशेषणोंका अभाव है उस सर्वव्यापक ब्रह्मको ही अपने आत्मस्वरूपसे जान लेनेके कारण जिसकी अविद्या आदि समस्त ग्रन्थियाँ टूट गयी हैं और जो जीवितावस्थामें ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया है उस विद्वान्‌का कहीं गमन नहीं होता—ऐसा पहले कहा गया, क्योंकि [चौदहवें मन्त्रमें] 'इस शरीरमें ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है'—ऐसा कहा है । "उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते वह ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है" इस एक दूसरी श्रुतिसे भी यही निश्चय होता है ।

ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो ये च तद्विपरीताः संसारभाजः तेषामेव गतिविशेष उच्यते—प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्याफलस्तुतये ।

किन्तु जो मन्द ब्रह्मज्ञानी और अन्य विद्या (उपासना) का परिशीलन करनेवाले ब्रह्मलोकप्राप्तिके अधिकारी हैं अथवा जो उनसे विपरीत [जन्म-मरणरूप] संसारको ही प्राप्त होनेवाले हैं, उन्हींकी किसी गतिविशेषका वर्णन यहाँ प्रकरणप्राप्त ब्रह्मविद्याके उत्कृष्ट फलकी स्तुतिके लिये किया जाता है ।

किं चान्यदग्निविद्या पृष्टा प्रयुक्ता च । तस्याश्च फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः । तत्र—

इसके सिवा नचिकेताके पूछनेपर यमराजने पहले अग्निविद्याका भी वर्णन किया था, उस अग्निविद्याके फलकी प्राप्तिका प्रकार भी बतलाना है ही । इसी अभिप्रायसे इस मन्त्रका आरम्भ किया जाता है । वहाँ [कहना यह है कि—]

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

इस हृदयकी एक सौ एक नाडियाँ हैं; उनमेंसे एक मूर्धाका भेदन करके बाहरको निकली हुई है । उसके द्वारा ऊर्ध्व—ऊपरकी ओर गमन करनेवाला पुरुष अमरत्वको प्राप्त होता है । शेष विभिन्न गतियुक्त नाडियाँ उत्क्रमण (प्राणोत्सर्ग) की हेतु होती हैं ॥ १६ ॥

सुषुम्नाभेदेन अमृतत्वम्

शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयाद्विनिःसृता नाड्यः शिरास्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वाभिनिःसृता निर्गता सुषुम्ना नाम । तयान्तकाले हृदय आत्मानं वशीकृत्य योजयेत् ।

पुरुषके हृदयसे सौ अन्य और सुषुम्ना नामकी एक—इस प्रकार [एक सौ एक] नाडियाँ—शिराएँ निकली हैं । उनमें सुषुम्नानाम्नी नाडी मस्तकका भेदन करके बाहर निकल गयी है । अन्तकालमें उसके द्वारा आत्माको अपने हृदयदेशमें वशीभूत करके समाहित करे ।

तया नाड्योर्ध्वमुपर्यायन्गच्छन्नादित्यद्वारेणामृतत्वममरण-

उस नाडीके द्वारा ऊर्ध्व—ऊपरकी ओर जानेवाला जीव सूर्यमार्गसे अमृतत्व-आपेक्षिक अमरणधर्मत्व-

धर्मत्वमापेक्षिकम् । "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" (वि० पु० २ । ८ । ९७) इति स्मृतेः । ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्मलोकगतान् । विष्वङ्नानाविधगतयः अन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसारप्रतिपत्त्यर्था एव भवन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

को प्राप्त हो जाता है, जैसा कि "सम्पूर्ण भूतोंके क्षयपर्यन्त रहनेवाला स्थान अमृतत्व कहलाता है" इस स्मृतिसे प्रमाणित होता है। अथवा [यह भी तात्पर्य हो सकता है कि] कालान्तरमें ब्रह्माके साथ ब्रह्मलोकके अनुपम भोगोंको भोगकर मुख्य अमृतत्वको प्राप्त करता है। इसके सिवा जिनकी गति विविध भाँतिकी हैं ऐसी अन्य सब नाडियाँ प्राणप्रयाणकी हेतु होती हैं, अर्थात् वे संसारप्राप्तिके लिये ही होती हैं ॥ १६ ॥

इदानीं सर्ववल्ल्यर्थोपसंहारार्थमाह—

अब सम्पूर्ण वल्लियोंके अर्थका उपसंहार करनेके लिये कहते हैं—

उपसंहार

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, जो अन्तरात्मा है सर्वदा जीवोंके हृदयदेशमें स्थित है। मूँजसे सींकके समान उसे धैर्यपूर्वक अपने शरीरसे बाहर निकाले [अर्थात् शरीरसे पृथक् करके अनुभव करे]। उसे शुक्र (शुद्ध) और अमृतरूप समझे, उसे शुक्र और अमृतरूप समझे ॥१७॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां सम्बन्धिनि हृदये संनिविष्टो यथाव्याख्यातः तं स्वादात्मीयाच्छरीरात्प्रवृहेत् उद्यच्छेन्निष्कर्षेत्पृथक्कुर्यादित्यर्थः। किमिवेत्युच्यते मुञ्जादिव इषीकामन्तःस्थां धैर्येणाप्रमादेन । तं शरीरान्निष्कृष्टं चिन्मात्रं विद्याद्विजानीयाच्छुक्रममृतं यथोक्तं ब्रह्मेति । द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थमितिशब्दश्च ॥ १७ ॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, जिसकी व्याख्या पहले (क० उ० २ । १ । १२-१३ में) की जा चुकी है और जो जीवोंके हृदयमें स्थित उनका अन्तरात्मा है उसे अपने शरीरसे बाहर करे—ऊपर नियन्त्रित करे—निकाले अर्थात् शरीरसे पृथक् करे । किस प्रकार पृथक् करे ? इसपर कहते हैं—धैर्य अर्थात् अप्रमादपूर्वक इस प्रकार अलग करे जैसे मूँजसे उसके भीतर रहनेवाली सींक की जाती है । शरीरसे पृथक् किये हुए उस (अङ्गुष्ठमात्र पुरुष) को ही पूर्वोक्त चिन्मात्र विशुद्ध और अमृतमय ब्रह्म जाने । यहाँ 'तं विद्याच्छुक्रममृतम्' इस पदकी द्विरुक्ति और 'इति' शब्द उपनिषद्की समाप्तिके लिये हैं ॥ १७ ॥

विद्यास्तुत्यर्थोऽयमाख्यायिकार्थोपसंहारोऽधुनोच्यते—

अब विद्याकी स्तुतिके लिये यह आख्यायिकाके अर्थका उपसंहार कहा जाता है—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥

मृत्युकी कही हुई इस विद्या और सम्पूर्ण योगविधिको पाकर नचिकेता ब्रह्मभावको प्राप्त, विरज (धर्माधर्मशून्य) और मृत्युहीन हो गया। दूसरा भी जो कोई अध्यात्मतत्त्वको इस प्रकार जानेगा वह भी वैसा ही हो जायगा ॥ १८ ॥

मृत्युप्रोक्तां यथोक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं सोपकरणं सफलमित्येतत्; नचिकेता वरप्रदानात् मृत्योर्लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः, किम्? ब्रह्मप्राप्तोऽभून्मुक्तोऽभवदित्यर्थः। कथम्? विद्याप्राप्त्या विरजो विगतधर्माधर्मो विमृत्युर्विगतकामाविद्यश्च सन्पूर्वमित्यर्थः।

मृत्युकी कही हुई इस पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या और कृत्स्न—सम्पूर्ण योगविधिको, उसके साधन और फलके सहित, वरप्रदानके कारण मृत्युसे प्राप्त कर नचिकेता, क्या हो गया? [इसपर कहते हैं–] ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया, अर्थात् मुक्त हो गया। सो किस प्रकार? [इसपर कहते हैं–] विद्याकी प्राप्तिद्वारा पहले विरज– धर्माधर्मसे रहित और विमृत्यु– काम और अविद्यासे रहित होकर [मुक्त हो गया] ऐसा इसका तात्पर्य है।

न केवलं नचिकेता एव अन्योऽपि नचिकेतोवदात्मविद् अध्यात्ममेव निरुपचरितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तत्त्वमेवेत्यभिप्रायः; नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम्। तदेवमध्यात्ममेवमुक्तप्रकारेण वेद विजानातीत्येवंवित्सोऽपि विरजः

केवल नचिकेता ही नहीं, बल्कि नचिकेताके समान जो दूसरा भी आत्मज्ञानी है अर्थात् जो अपने देहादिके अधिष्ठाता उपचारशून्य प्रत्यक्स्वरूपको—यही तत्त्व है, अन्य अप्रत्यक्रूप नहीं—ऐसा जानता है, जो उक्त प्रकारसे अपने उसी अध्यात्मरूपको जानता है अर्थात् जो उसी प्रकार जाननेवाला है वह भी विरज (धर्माधर्मसे

सन्ब्रह्मप्राप्त्या विमृत्युर्भवतीति वाक्यशेषः ॥ १८ ॥

रहित) होकर ब्रह्मप्राप्तिद्वारा मृत्युहीन हो जाता है—यह वाक्यशेष है ॥ १८ ॥

शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रतिपादननिमित्तदोषप्रशमनार्थेयं शान्तिः उच्यते—

अब शिष्य और आचार्यके प्रमादकृत अन्यायसे विद्याके ग्रहण और प्रतिपादनमें होनेवाले दोषोंकी निवृत्तिके लिये यह शान्ति कही जाती है—

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ १९ ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

परमात्मा हम [आचार्य और शिष्य] दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करे । हमारा साथ-साथ पालन करे । हम साथ-साथ विद्यासम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें । हमारा अध्ययन किया हुआ तेजस्वी हो । हम द्वेष न करें ॥ १९ ॥

सह नावावामवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन । कः ? स एव परमेश्वर उपनिषत्प्रकाशितः । किं च सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाशनेन नौ पालयतु । सहैवावां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै निष्पादयावहै । किं

विद्याके स्वरूपका प्रकाशन कर हम दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करे । कौन [रक्षा करे ? इसपर कहते हैं—] वह उपनिषत्प्रकाशित परमेश्वर ही [हमारी रक्षा करे] । तथा उसके फलको प्रकाशित कर वह हम दोनोंका साथ-साथ पालन करे । हम अपने विद्याकृत वीर्य-सामर्थ्यको साथ-साथ ही सम्पादित करें—प्राप्त करें । और

च तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयो-यदधीतं तत्स्वधीतमस्तु । अथवा तेजस्वि नावावाभ्यां यदधीतं तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्तु इत्यर्थः । मा विद्विषावहै शिष्याचार्यावन्योन्यं प्रमादकृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तं द्वेषं मा करवावहै इत्यर्थः । शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थमित्योमिति१९

हम तेजस्वियोंका जो अध्ययन किया हुआ है वह सुपठित हो। अथवा तेजस्वी हो अर्थात् हमलोगोंका जो अध्ययन किया हुआ है वह अत्यन्त तेजस्वी यानी वीर्यवान् हो। हम शिष्य और आचार्य परस्पर विद्वेष न करें अर्थात् हम प्रमादकृत अन्यायसे अध्ययन और अध्यापनमें हुए दोषोंके कारण परस्पर एक दूसरेसे द्वेष न करें। 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' इस प्रकार 'शान्तिः' शब्दका तीन बार उच्चारण [आध्यात्मिकादि] सम्पूर्ण दोषोंकी शान्तिके लिये किया गया है। इत्योम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥३॥ (६)

इति कठोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥



श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका



ॐ

मुण्डकोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित



प्रकाशक—

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९२ से १९९३ तक ७२५०
सं० १९९८ तीसरा संस्करण ३०००
सं० २००१ चौथा संस्करण ३०००

मूल्य ।≡) सात आना

निवेदन

मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेदके मन्त्रभागके अन्तर्गत है। इसमें तीन मुण्डक हैं और एक-एक मुण्डकके दो-दो खण्ड हैं। ग्रन्थके आरम्भमें ग्रन्थोक्त विद्याकी आचार्यपरम्परा दी गयी है। वहाँ बतलाया है कि यह विद्या ब्रह्माजीसे अथर्वाको प्राप्त हुई। और अथर्वासे क्रमशः अङ्गी और भारद्वाजके द्वारा अङ्गिराको प्राप्त हुई। उन अङ्गिरा मुनिके पास महागृहस्थ शौनकने विधिवत् आकर पूछा कि 'भगवन्! ऐसी कौन-सी वस्तु है जिस एकके जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है?' महर्षि शौनकका यह प्रश्न प्राणिमात्रके लिये बड़ा कुतूहलजनक है, क्योंकि सभी जीव अधिक-से-अधिक वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं।

इसके उत्तरमें महर्षि अङ्गिराने परा और अपरा नामक दो विद्याओं-का निरूपण किया है। जिसके द्वारा ऐहिक और आमुष्मिक अनात्म पदार्थोंका ज्ञान होता है उसे अपरा विद्या कहा है, तथा जिससे अखण्ड, अविनाशी एवं निष्प्रपञ्च परमार्थतत्त्वका बोध होता है उसे परा विद्या कहा गया है। सारा संसार अपरा विद्याका विषय है तथा संसारी पुरुषोंकी प्रवृत्ति भी उसीकी ओर है। उसीके द्वारा ऐसे किसी एक ही अखण्ड तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता जो सम्पूर्ण ज्ञानोंका अधिष्ठान हो, क्योंकि उसके विषयभूत जितने पदार्थ हैं वे सब-के-सब परिच्छिन्न ही हैं। अपरा विद्या वस्तुतः अविद्या ही है; व्यवहारमें उपयोगी होनेके कारण ही उसे विद्या कहा जाता है। अखण्ड और अव्यय तत्त्वके जिज्ञासुके लिये वह त्याज्य ही है। इसीलिये आचार्य अङ्गिराने यहाँ उसका उल्लेख किया है।

इस प्रकार विद्याके दो भेद कर फिर सम्पूर्ण ग्रन्थमें उन्हींका सविस्तर वर्णन किया गया है। ग्रन्थका पूर्वार्द्ध प्रधानतया अपरा विद्याका

निरूपण करता है और उत्तरार्धमें मुख्यतया परा विद्या और उसकी प्राप्तिके साधनोंका विवेचन है। इस उपनिषद्की वर्णनशैली बड़ी ही उदात्त एवं हृदयहारिणी है, जिससे स्वभावतः ही जिज्ञासुओंका हृदय इसकी ओर आकर्षित हो जाता है।

उपनिषदोंका जो प्रचलित क्रम है उसके अनुसार इसका अध्ययन प्रश्नोपनिषद्के पश्चात् किया जाता है। परन्तु प्रस्तुत पुस्तकके पृष्ठ १०२ पर भगवान् शङ्कराचार्य लिखते हैं—'वक्ष्यति च "न येषु जिह्ममनृतं न माया च" इति' अर्थात् 'जैसा कि आगे (प्रश्नोपनिषद्में) "जिन पुरुषोंमें अकुटिलता, अनृत और माया नहीं है" इत्यादि वाक्यद्वारा कहेंगे भी।' इस प्रकार प्रश्नोपनिषद्के प्रथम प्रश्नके अन्तिम मन्त्रका भविष्यत्कालिक उल्लेख करके आचार्य सूचित करते हैं कि पहले मुण्डकका अध्ययन करना चाहिये और उसके पश्चात् प्रश्नका। प्रश्नोपनिषद्का भाष्य आरम्भ करते हुए तो उन्होंने इसका स्पष्टतया उल्लेख किया है। अतः शाङ्करसम्प्रदायके वेदान्तविद्यार्थियोंको उपनिषद्भाष्यका इसी क्रमसे अध्ययन करना चाहिये। अस्तु, भगवान्से प्रार्थना है कि इस ग्रन्थके अनुशीलनद्वारा हमें ऐसी योग्यता प्रदान करें जिससे हम उनके सर्वाधिष्ठानभूत परात्पर स्वरूपका रहस्य हृदयङ्गम कर सकें।

अनुवादक



श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

द्वितीय मुण्डक

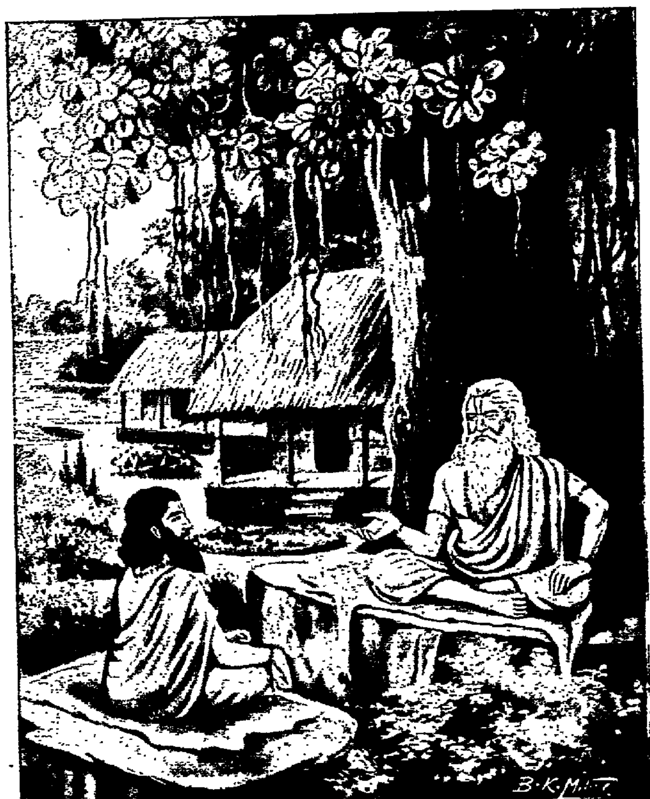
प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय मुण्डक

प्रथम खण्ड





अङ्गिरस और शौनकका संवाद

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

मुण्डकोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

भावाभावपदातीतं भावाभावात्मकं च यत् ।
तद् वन्दे भावनातीतं स्वात्मभूतं परं महः ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

हे देवगण ! हम कानोंसे कल्याणमय वचन सुनें; यज्ञकर्ममें समर्थ होकर नेत्रोंसे शुभ दर्शन करें; अपने स्थिर अङ्ग और शरीरोंसे स्तुति करनेवाले हमलोग देवताओंके लिये हितकर आयुका भोग करें। त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

महान् कीर्तिमान् इन्द्र हमारा कल्याण करे, परम ज्ञानवान् [अथवा परम धनवान्] पूषा हमारा कल्याण करे, अरिष्टोंके [नाशके] लिये चक्ररूप गरुड़ हमारा कल्याण करे तथा बृहस्पतिजी हमारा कल्याण करें। त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

सम्बन्धभाष्यम्

उपक्रमः ॐ ब्रह्मा देवानामित्याद्याथर्वणोपनिषत्। अस्याश्च विद्यासम्प्रदायकर्तृपारम्पर्यलक्षणसम्बन्धम् आदावेवाह स्वयमेव स्तुत्यर्थम्। एवं हि महद्भिः परमपुरुषार्थसाधनत्वेन गुरुणायासेन लब्धा विद्येति श्रोतृबुद्धिप्ररोचनाय विद्यां महीकरोति। स्तुत्या प्ररोचितायां हि विद्यायां सादराः प्रवर्तेरन्निति।

ब्रह्मविद्यायाः सम्बन्धप्रयोजननिरूपणम् प्रयोजनेन तु विद्यायाः साध्यसाधनलक्षणसम्बन्धम् उत्तरत्र वक्ष्यति 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' (मु० उ० २। २।८) इत्यादिना, अत्र चापरशब्दवाच्यायामृग्वेदादिलक्षणायां विधिप्रतिषेधमात्रपरायां विद्यायां संसार-

'ॐ ब्रह्मा देवानाम्' इत्यादि [वाक्यसे आरम्भ होनेवाली] उपनिषद् अथर्ववेदकी है। श्रुति इसकी स्तुतिके लिये इसके विद्यासम्प्रदायके कर्ताओंकी परम्परारूप सम्बन्धका सबसे पहले स्वयं ही वर्णन करती है। इस प्रकार यह दिखलाकर कि 'इस विद्याको परमपुरुषार्थके साधनरूपसे महापुरुषोंने अत्यन्त परिश्रमसे प्राप्त किया था' श्रुति श्रोताओंकी बुद्धिमें इसके लिये रुचि उत्पन्न करनेके लिये इसकी महत्ता दिखलाती है, जिससे कि लोग स्तुतिके कारण रुचिकर प्रतीत हुई विद्याके उपार्जनमें आदरपूर्वक प्रवृत्त हों।

अपने प्रयोजनके साथ ब्रह्मविद्याका साध्यसाधनरूप सम्बन्ध आगे चलकर 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि मन्त्रद्वारा बतलाया जायगा। यहाँ तो 'विधि-प्रतिषेधमात्रमें तत्पर अपर शब्दवाच्य ऋग्वेदादिरूप विद्या संसारके कारणभूत अज्ञान आदि दोषकी निवृत्ति करनेवाली नहीं है'—यह बात 'अविद्यायामन्तरे

कारणाविद्यादिदोषनिवर्तकत्वं नास्तीति स्वयमेवोक्त्वा परापरविद्याभेदकरणपूर्वकम् 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' (मु० उ० १ । २ । ८) इत्यादिना तथा परप्राप्तिसाधनं सर्वसाधनसाध्यविषयवैराग्यपूर्वकं गुरुप्रसादलभ्यां ब्रह्मविद्यामाह—'परीक्ष्य लोकान्' (मु० उ० १ । २ । १२) इत्यादिना । प्रयोजनं चासकृद्ब्रवीति 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३ । २ । ९) इति 'परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' (मु० उ० ३ । २ । ६) इति च ।

वर्तमानाः' इत्यादि वाक्योंसे विद्याके पर और अपर भेद करते हुए स्वयं ही बतलाकर फिर 'परीक्ष्य लोकान्' इत्यादि वाक्योंसे साधन-साध्यरूप सब प्रकारके विषयोंसे वैराग्यपूर्वक गुरुकृपासे प्राप्य ब्रह्मविद्याको ही परब्रह्मकी प्राप्तिका साधन बतलाया है । तथा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' इत्यादि वाक्योंसे उसका प्रयोजन तो बारंबार बतलाया है ।

संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनम्

ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणाम् अधिकारस्तथापि संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं न कर्मसहितेति 'भैक्षचर्यां चरन्तः' (मु० उ० १ । २ । ११) 'संन्यासयोगात्' (मु० उ० ३ । २ । ६) इति च ब्रुवन्दर्शयति ।

यद्यपि ज्ञानमात्रमें सभी आश्रमवालोंका अधिकार है तथापि ब्रह्मविद्या संन्यासगत होनेपर ही मोक्षका साधन होती है कर्मसहित नहीं—यह बात श्रुति 'भैक्षचर्यां चरन्तः' 'संन्यासयोगात्' इत्यादि कहती हुई प्रदर्शित करती है ।

ज्ञानकर्मविरोधनिरूपणम्

विद्याकर्मविरोधाच्च । न हि ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनेन सह कर्म स्वप्नेऽपि सम्पादयितुं शक्यम् विद्यायाः कालविशेषाभावाद-

इसके सिवा विद्या और कर्मका विरोध होनेके कारण भी यही सिद्ध होता है । ब्रह्मात्मैक्यदर्शनके साथ तो कर्मोंका सम्पादन स्वप्नमें भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि विद्यासम्पादनका कोई कालविशेष नहीं है और न उसका कोई नियत

नियतनिमित्तत्वात्कालसङ्कोचानुपपत्तिः ।

निमित्त ही है; अतः किसी काल-विशेषद्वारा उसका सङ्कोच कर देना उचित नहीं है ।

यत्तु गृहस्थेषु ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृत्वादि लिङ्गं न तत्स्थितन्यायं बाधितुमुत्सहते । न हि विधिशतेनापि तमःप्रकाशयोरेकत्र सद्भावः शक्यते कर्तुं किमुत लिङ्गैः केवलैरिति ।

गृहस्थोंमें जो ब्रह्मविद्याका सम्प्रदायकर्तृत्व आदि लिङ्ग (अस्तित्व-सूचक निदर्शन) देखा गया है वह पूर्वप्रदर्शित स्थिरतर नियमको बाधित करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि तम और प्रकाशकी एकत्र स्थिति तो सैकड़ों विधियोंसे भी नहीं की जा सकती, फिर केवल लिङ्गोंकी तो बात ही क्या है ?

एवमुक्तसम्बन्धप्रयोजनाया

उपनिषच्छब्द- उपनिषदोऽल्पाक्षरं

निरुक्तिः ग्रन्थविवरणमारभ्यते । य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत्, उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात् ।

इस प्रकार जिसके सम्बन्ध और प्रयोजनका निर्देश किया है उस [मुण्डक] उपनिषद्की यह संक्षिप्त व्याख्या आरम्भ की जाती है । जो लोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आत्मभावसे इस ब्रह्मविद्याके समीप जाते हैं यह उनके गर्भ, जन्म, जरा और रोग आदि अनर्थसमूहका छेदन करती है, अथवा उन्हें परब्रह्मको प्राप्त करा देती है, या संसारके कारणरूप अविद्या आदिका अत्यन्त अवसादन—विनाश कर देती है; इसीलिये इसे 'उपनिषद्' कहते हैं, क्योंकि 'उप' और 'नि' पूर्वक 'सद्' धातुका यही अर्थ माना गया है ।

आचार्यपरम्परा

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

सम्पूर्ण देवताओंमें पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ । वह विश्वका रचयिता और त्रिभुवनका रक्षक था । उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाको समस्त विद्याओंकी आश्रयभूत ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया ॥ १ ॥

ब्रह्मा परिवृढो महान्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानतिशेत इति । देवानां द्योतनवतामिन्द्रादीनां प्रथमो गुणैः प्रधानः सन् प्रथमोऽग्रे वा सम्बभूवाभिव्यक्तः सम्यक्स्वातन्त्र्येणेत्यभिप्रायः । न तथा यथा धर्माधर्मवशात् संसारिणोऽन्ये जायन्ते । "योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः···" (मनु० १ । ७) इत्यादिस्मृतेः । विश्वस्य सर्वस्य जगतः कर्तोत्पादयिता । भुवनस्योत्पन्नस्य गोप्ता पालयितेति विशेषणं

ब्रह्मा—परिवृढ (सबसे बढ़ा हुआ) अर्थात् महान्, जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यमें अन्य सबसे बढ़ा हुआ था, देवताओं—द्योतन करनेवालों (प्रकाशमानों), इन्द्रादिकोंमें प्रथम—गुणोंद्वारा प्रधानरूपसे अथवा सम्यक् स्वतन्त्रतापूर्वक सबसे पहले उत्पन्न हुआ था यह इसका तात्पर्य है; क्योंकि 'जो यह अतीन्द्रिय, अग्राह्य······है [वह परमात्मा स्वयं उत्पन्न हुआ]" इत्यादि स्मृतिके अनुसार वह, जैसे अन्य संसारी जीव उत्पन्न होते हैं उस तरह धर्म या अधर्मके वशीभूत होकर उत्पन्न नहीं हुआ ।

'विश्व अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का कर्ता—उत्पन्न करनेवाला तथा उत्पन्न हुए भुवनका गोप्ता—पालन करनेवाला' ये ब्रह्माके विशेषण

ब्रह्मणो विद्यास्तुतये । स एवं प्रख्यातमहत्त्वो ब्रह्मा ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणः परमात्मनो विद्यां ब्रह्मविद्यां 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्' (मु० उ० १ । २ । १३) इति विशेषणात्परमात्मविषया हि सा ब्रह्मणा वाग्रजेनोक्तेति ब्रह्मविद्या तां सर्वविद्याप्रतिष्ठां सर्वविद्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्सर्वविद्याश्रयामित्यर्थः; सर्वविद्यावेद्यं वा वस्त्वनयैव विज्ञायत इति, "येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" (छा० उ० ६ । १ । ३) इति श्रुतेः । सर्वविद्याप्रतिष्ठामिति च स्तौति । विद्यामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह । ज्येष्ठश्चासौ पुत्रश्चानेकेषु ब्रह्मणः सृष्टिप्रकारेष्वन्यतमस्य सृष्टिप्रकारस्य प्रमुखे पूर्वमथर्वा सृष्ट इति ज्येष्ठस्तस्मै ज्येष्ठपुत्राय प्राहोक्तवान् ॥ १ ॥

[उसकी उपदेश की हुई] विद्याकी स्तुतिके लिये हैं । जिसका महत्त्व इस प्रकार प्रसिद्ध है उस ब्रह्माने ब्रह्मविद्याको—ब्रह्म यानी परमात्माकी विद्याको, 'जिससे अक्षर और जो सत्य पुरुषको जानता है' ऐसे विशेषणसे युक्त होनेके कारण परमात्मसम्बन्धिनी ही है अथवा अग्रजन्मा ब्रह्माके द्वारा कही जानेके कारण जो ब्रह्मविद्या कहलाती है उस ब्रह्मविद्याको, जो समस्त विद्याओंकी अभिव्यक्तिकी हेतुभूत होनेसे, अथवा "जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है तथा अज्ञात ज्ञात हो जाता है" इस श्रुतिके अनुसार इसीसे सर्वविद्यावेद्य वस्तुका ज्ञान होता है, इसलिये जो सर्वविद्याप्रतिष्ठा यानी सम्पूर्ण विद्याओंकी आश्रयभूता है, अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वासे कहा । यहाँ 'सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्' इस पदसे विद्याकी स्तुति करते हैं । जो ज्येष्ठ (सबसे बड़ा) पुत्र हो उसे ज्येष्ठ पुत्र कहते हैं । ब्रह्माकी सृष्टिके अनेकों प्रकारोंमें किसी एक सृष्टिप्रकारके आदिमें सबसे पहले अथर्वाको ही उत्पन्न किया गया था, इसलिये वह ज्येष्ठ है । उस ज्येष्ठ पुत्रसे कहा ॥ १ ॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा-
थर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह
भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

अथर्वाको ब्रह्माने जिसका उपदेश किया था वह ब्रह्मविद्या पूर्वकालमें अथर्वाने अङ्गीको सिखायी । अङ्गीने उसे भरद्वाजके पुत्र सत्यवहसे कहा तथा भरद्वाजपुत्र (सत्यवह) ने इस प्रकार श्रेष्ठसे कनिष्ठको प्राप्त होती हुई वह विद्या अङ्गिरासे कही ॥ २ ॥

यामेतामथर्वणे प्रवदेतावदद्ब्रह्मविद्यां ब्रह्मा तामेव ब्रह्मणः प्राप्तामथर्वा पुरा पूर्वमुवाचोक्तवानङ्गिरेऽङ्गिर्नाम्ने ब्रह्मविद्याम् । स चाङ्गिर्भारद्वाजाय भरद्वाजगोत्राय सत्यवहाय सत्यवहनाम्ने प्राह प्रोक्तवान् । भारद्वाजोऽङ्गिरसे स्वशिष्याय पुत्राय वा परावरां परस्मात्परस्मादवरेण प्राप्तेति परावरा परापरसर्वविद्याविषयव्याप्तेर्वा तां परावरामङ्गिरसे प्राहेत्यनुषङ्गः ॥ २ ॥

जिस ब्रह्मविद्याको ब्रह्माने अथर्वासे कहा था, ब्रह्मासे प्राप्त हुई उसी ब्रह्मविद्याको पूर्वकालमें अथर्वाने अङ्गिर्से यानी अङ्गिर्नामक मुनिसे कहा । फिर उस अङ्गिर् मुनिने उसे भारद्वाज सत्यवहसे यानी भरद्वाजगोत्रमें उत्पन्न हुए सत्यवहनामक मुनिसे कहा । तथा भारद्वाजने अपने शिष्य अथवा पुत्र अङ्गिरासे वह परावरा—पर (उत्कृष्ट) से अवर (कनिष्ठ) को प्राप्त हुई, अथवा पर और अवर सब विद्याओंके विषयोंकी व्याप्तिके कारण 'परावरा' कही जानेवाली वह विद्या अङ्गिरासे कही । इस प्रकार 'परावराम्' इस कर्मपदका पूर्वोक्त 'प्राह' क्रियासे सम्बन्ध है ॥ २ ॥

शौनककी गुरूपसत्ति और प्रश्न

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ । कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

शौनकनामक प्रसिद्ध महागृहस्थने अङ्गिराके पास विधिपूर्वक जाकर पूछा—'भगवन्! किसके जान लिये जानेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है?' ॥ ३ ॥

शौनकः शुनकस्यापत्यं महाशालो महागृहस्थोऽङ्गिरसं भारद्वाजशिष्यमाचार्यं विधिवद्यथाशास्त्रमित्येतत्; उपसन्न उपगतः सन्पप्रच्छ पृष्टवान् । शौनकाङ्गिरसोः संबन्धादर्वाग् विधिवद्विशेषणादुपसदनविधेः पूर्वेषामनियम इति गम्यते । मर्यादाकरणार्थं मध्यदीपिकान्यायार्थं वा विशेषणम्; अस्मदादिष्वप्युपसदनविधेरिष्टत्वात् ।

महाशाल—महागृहस्थ शौनक—शुनकके पुत्रने भारद्वाजके शिष्य आचार्य अङ्गिराके पास विधिवत् अर्थात् शास्त्रानुसार जाकर पूछा । शौनक और अङ्गिराके सम्बन्धसे पश्चात् 'विधिवत्' विशेषण मिलनेसे यह जाना जाता है कि इनसे पूर्व आचार्योंमें [गुरूपसदनका] कोई नियम नहीं था । अतः इसकी मर्यादा निर्दिष्ट करनेके लिये अथवा मध्यदीपिकान्यायके लिये* यह विशेषण दिया गया है, क्योंकि यह उपसदनविधि हमलोगोंमें भी माननीय है ।

किमित्याह—कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते नु इति वितर्के, भगवो

शौनकने क्या पूछा, सो बतलाते हैं—भगवः—हे भगवन्! 'कस्मिन्नु' किस वस्तुके जान लिये

* देहलीपर दीपक रखनेसे उसका प्रकाश भीतर-बाहर दोनों ओर पड़ता है—इसीको मध्यदीपिका या देहलीदीपन्याय कहते हैं । अतः यदि यह कथन इस न्यायसे ही हो तो यह समझना चाहिये कि गुरूपसदन-विधि इससे पूर्व भी थी और उससे पीछे हमलोगोंके लिये भी आवश्यक है; और यदि यह कथन मर्यादा निर्दिष्ट करनेके लिये हो तो यह समझना चाहिये कि यहींसे इस पद्धतिका प्रारम्भ हुआ ।

हे भगवन्सर्वं यदिदं विज्ञेयं विज्ञातं विशेषेण ज्ञातमवगतं भवतीति एकस्मिञ्ज्ञाते सर्वविद्भवतीति शिष्टप्रवादं श्रुतवाञ्शौनकस्तद्विशेषं विज्ञातुकामः सन्कस्मिन्न्विति वितर्कयन्पप्रच्छ। अथवा लोकसामान्यदृष्ट्या ज्ञात्वैव पप्रच्छ। सन्ति लोके सुवर्णादिशकलभेदाः सुवर्णत्वाद्येकत्वविज्ञानेन विज्ञायमाना लौकिकैः। तथा किं न्वस्ति सर्वस्य जगद्भेदस्यैकं कारणम्, यदेकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति।

नन्वविदिते हि कस्मिन्निति प्रश्नोऽनुपपन्नः। किमस्ति तदिति तदा प्रश्नो युक्तः। सिद्धे ह्यस्तित्वे

जानेपर यह सब विज्ञेय पदार्थ विज्ञात—विशेषरूपसे ज्ञात यानी अवगत हो जाता है? यहाँ 'नु' का प्रयोग वितर्क (संशय) के लिये किया गया है। शौनकने 'एकहीको जान लेनेपर मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है' ऐसी कोई सभ्य पुरुषोंकी कहावत सुनी थी। उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छासे ही उसने 'कस्मिन्नु' इत्यादि रूपसे वितर्क करते हुए पूछा। अथवा लोकोंकी सामान्य दृष्टिसे जान-बूझकर ही पूछा। लोकमें सुवर्णादि खण्डोंके ऐसे भेद हैं जो सुवर्णरूप होनेके कारण लौकिक पुरुषोंद्वारा [स्वर्णदृष्टिसे] उनकी एकताका ज्ञान होनेपर जान लिये जाते हैं। इसी प्रकार [प्रश्न होता है कि] 'सम्पूर्ण जगद्भेदका वह एक कारण कौन-सा है जिस एकके ही जान लिये जानेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है?'

शङ्का— जिस वस्तुका ज्ञान नहीं होता उसके विषयमें 'कस्मिन्' (किसको) * इस प्रकार प्रश्न करना तो बन नहीं सकता। उस समय तो 'क्या वह है?' ऐसा प्रश्न ही उचित है; फिर उसका अस्तित्व सिद्ध हो जानेपर ही

* क्योंकि 'किस' या 'कौन' सर्वनामका प्रयोग वहीं होता है जहाँ अनेकोंकी सत्ता स्वीकारकर उनमेंसे किसी एकका निश्चय करना होता है।

कस्मिन्निति स्यात्, यथा कस्मिन्निधेयमिति ।

न; अक्षरबाहुल्यादायासभीरुत्वात्प्रश्नः सम्भवत्येव कस्मिन्न्वेकस्मिन्विज्ञाते सर्ववित्स्याद् इति ॥ ३ ॥

'कस्मिन्' ऐसा प्रश्न हो सकता है। जैसा कि [अनेक आधारोंका ज्ञान होनेपर] 'किसमें रक्खा जाय' ऐसा प्रश्न किया जाता है।

समाधान—ऐसा मत कहो, क्योंकि [तुम्हारे कथनानुसार प्रश्न करनेसे] अक्षरोंकी अधिकता होती है और अधिक आयासका भय रहता है, अतः 'किस एकके ही जान लेनेपर मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है !' ऐसा प्रश्न बन सकता है ॥ ३ ॥

अङ्गिराका उत्तर—विद्या दो प्रकारकी है

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ ४ ॥

उससे उसने कहा—'ब्रह्मवेत्ताओंने कहा है कि दो विद्याएँ जाननेयोग्य हैं—एक परा और दूसरी अपरा' ॥ ४ ॥

तस्मै शौनकायाङ्गिरा आह किलोवाच । किमित्युच्यते । द्वे विद्ये वेदितव्ये इत्येवं ह स्म किल यद्ब्रह्मविदो वेदार्थाभिज्ञाः परमार्थदर्शिनो वदन्ति । के ते इत्याह—परा च परमात्मविद्या । अपरा च धर्माधर्मसाधनतत्फलविषया ।

उस शौनकसे अङ्गिराने कहा। क्या कहा ? सो बतलाते हैं— 'दो विद्याएँ वेदितव्य अर्थात् जाननेयोग्य हैं ऐसा जो ब्रह्मविद्—वेदके अर्थको जाननेवाले परमार्थदर्शी हैं वे कहते हैं। वे दो विद्याएँ कौन-सी हैं ? इसपर कहते हैं—परा अर्थात् परमात्मविद्या और अपरा—धर्म, अधर्मके साधन और उनके फलसे सम्बन्ध रखनेवाली विद्या।'

ननु कस्मिन्विदिते सर्वविद्भवतीति शौनकेन पृष्टं

शङ्का—शौनकने तो यह पूछा था कि 'किसको जान लेनेपर पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है।' उसके

तस्मिन्वक्तव्येऽपृष्टमाहाङ्गिरा द्वे विद्ये इत्यादिना ।

उत्तरमें जो कहना चाहिये था उसकी जगह 'दो विद्याएँ हैं' आदि बातें तो अङ्गिराने बिना पूछी ही कही हैं ।

नैष दोषः; क्रमापेक्षत्वात् प्रतिवचनस्य । अपरा हि विद्याविद्या सा निराकर्तव्या । तद्विषये हि विदिते न किञ्चित्तत्त्वतो विदितं स्यादिति । निराकृत्य हि पूर्वपक्षं पश्चात्सिद्धान्तो वक्तव्यो भवतीति न्यायात् ॥ ४ ॥

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उत्तर तो क्रमकी अपेक्षा रखता है । अपरा विद्या तो अविद्या ही है; अतः उसका निराकरण किया जाना चाहिये । उसके विषयमें जान लेनेपर तो तत्त्वतः कुछ भी नहीं जाना जाता, क्योंकि यह नियम है कि 'पहले पूर्वपक्षका खण्डन कर पीछे सिद्धान्त कहा जाता है' ॥ ४ ॥

परा और अपरा विद्याका स्वरूप

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥

उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—यह अपरा है तथा जिससे उस अक्षर परमात्माका ज्ञान होता है वह परा है ॥ ५ ॥

तत्र कापरेत्युच्यते—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्येते चत्वारो वेदाः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्यङ्गानि षडेषापरा विद्या ।

उनमें अपरा विद्या कौन-सी है, सो बतलाते हैं । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चार वेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये छः वेदाङ्ग अपरा विद्या कहे जाते हैं ।

अथेदानीमियं परा विद्या उच्यते यथा तद्वक्ष्यमाणविशेषणम् अक्षरमधिगम्यते प्राप्यते; अधिपूर्वस्य गमेः प्रायशः प्राप्त्यर्थत्वात् । न च परप्राप्तेरवगमार्थस्य भेदोऽस्ति । अविद्याया अपाय एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम् ।

अब यह परा विद्या बतलायी जाती है, जिससे आगे (छठे मन्त्रमें) कहे जानेवाले विशेषणोंसे युक्त उस अक्षरका अधिगम अर्थात् प्राप्ति होती है, क्योंकि 'अधि'पूर्वक 'गम' धातु प्रायः 'प्राप्ति' अर्थमें प्रयुक्त होती है; तथा परमात्माकी प्राप्ति और उसके ज्ञानके अर्थमें कोई भेद भी नहीं है; क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति ही परमात्माकी प्राप्ति है, इससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं ।

विद्यायाः परापरभेदमीमांसा

ननु ऋग्वेदादिबाह्या तर्हि सा कथं परा विद्या स्यान्मोक्षसाधनं च । "या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥" (मनु० १२ । ९) इति हि स्मरन्ति । कुदृष्टित्वान्निष्फलत्वादनादेया स्यात् । उपनिषदां च ऋग्वेदादिबाह्यत्वं स्यात् । ऋग्वेदादित्वे तु पृथक्करणमनर्थकम् अथ परेति ।

शङ्का—तब तो वह (ब्रह्मविद्या) ऋग्वेदादिसे बाह्य है, अतः वह परा विद्या अथवा मोक्षकी साधनभूत किस प्रकार हो सकती है ? स्मृतियाँ तो कहती हैं कि "जो वेदबाह्य स्मृतियाँ और जो कोई कुदृष्टियाँ (कुविचार) हैं वे परलोकमें निष्फल और नरककी साधन मानी गयी हैं ।" अतः कुदृष्टि होनेसे निष्फल होनेके कारण वह ग्राह्य नहीं हो सकती । तथा इससे उपनिषद् भी ऋग्वेदादिसे बाह्य माने जायँगे और यदि इन्हें ऋग्वेदादिमें ही माना जायगा तो 'अथ परा' आदि वाक्यसे जो परा विद्याको पृथक् बतलाया गया है वह व्यर्थ हो जायगा ।

न; वेद्यविषयविज्ञानस्य विवक्षितत्वात्। उपनिषद्वेद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह परा विद्येति प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशिः। वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षितः। शब्दराश्यधिगमेऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाक्षराधिगमः सम्भवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः परा विद्येति कथनं चेति ॥ ५ ॥

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि [परा विद्यासे] वेद्यविषयक ज्ञान बतलाना अभीष्ट है। यहाँ प्रधानतासे यही बतलाना इष्ट है कि उपनिषद्वेद्य अक्षरविषयक विज्ञान ही परा विद्या है, उपनिषद्की शब्दराशि नहीं। और 'वेद' शब्दसे सर्वत्र शब्दराशि ही कही जाती है। शब्दसमूहका ज्ञान हो जानेपर भी गुरूपसत्ति आदिरूप प्रयत्नान्तर तथा वैराग्यके बिना अक्षरब्रह्मका ज्ञान नहीं हो सकता; इसीलिये ब्रह्मविद्याका पृथक्करण और 'वह परा विद्या है' ऐसा कहा गया है ॥ ५ ॥

परविद्याया वाक्यार्थज्ञानजन्यत्वम्

यथा विधिविषये कर्त्राद्यनेककारकोपसंहारद्वारेण वाक्यार्थज्ञानकालाद् अन्यत्रानुष्ठेयोऽर्थोऽस्ति अग्निहोत्रादिलक्षणो न तथेह परविद्याविषये; वाक्यार्थज्ञानसमकाल एव तु पर्यवसितो भवति। केवलशब्दप्रकाशितार्थज्ञानमात्रनिष्ठाव्यतिरिक्ताभावात्।

जिस प्रकार विधि (कर्मकाण्ड) के सम्बन्धमें [उसका प्रतिपादन करनेवाले] वाक्योंका अर्थ जाननेके समयसे भिन्न कर्ता आदि अनेकों कारकों (क्रियानिष्पत्तिके साधनों) के उपसंहारद्वारा अग्निहोत्र आदि अनुष्ठेय अर्थ रह जाता है, उस प्रकार परा विद्याके सम्बन्धमें नहीं होता। इसका कार्य तो वाक्यार्थज्ञानके समकालमें ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि केवल शब्दोंके योगसे प्रकाशित होनेवाले अर्थज्ञानमें स्थिति कर देनेसे भिन्न इसका और कोई प्रयोजन नहीं है। अतः

तस्मादिह परां विद्यां सविशेषणेन अक्षरेण विशिनष्टि यत्तदद्रेश्यम् इत्यादिना । वक्ष्यमाणं बुद्धौ संहृत्य सिद्धवत्परामृश्यते— यत्तदिति ।

यहाँ 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यादि विशेषणों-से विशेषित अक्षरब्रह्मका निर्देश करते हुए उस परा विद्याको विशेषित करते हैं । आगे जो कुछ कहना है उसे अपनी बुद्धिमें बिठाकर 'यत्तद्' इत्यादि वाक्यसे उसका सिद्ध वस्तुके समान उल्लेख करते हैं—

परविद्याप्रदर्शन

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि-पादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षुःश्रोत्रादिहीन है, इसी प्रकार अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतोंका कारण है उसे विवेकी लोग सब ओर देखते हैं ॥ ६ ॥

अद्रेश्यमदृश्यं सर्वेषां बुद्धी-न्द्रियाणामगम्यमित्येतत् । दृशेर्ब-हिःप्रवृत्तस्य पञ्चेन्द्रियद्वारकत्वात् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियाविषयमित्येतत् । अगोत्रं गोत्रमन्वयो मूलमित्य-नर्थान्तरमगोत्रमनन्वयमित्यर्थः । न हि तस्य मूलमस्ति येन अन्वितं स्यात् । वर्ण्यन्त इति

वह जो अद्रेश्य—अदृश्य अर्थात् समस्त ज्ञानेन्द्रियोंका अ-विषय है, क्योंकि बाहरको प्रवृत्त हुई दृक्शक्ति पञ्चज्ञानेन्द्रियरूप द्वारवाली है; अग्राह्य अर्थात् कर्मेन्द्रियोंका अविषय है; अगोत्र—गोत्र अन्वय अथवा मूल—ये किसी अन्य अर्थके वाचक नहीं हैं [अर्थात् इनका एक ही अर्थ है] अतः अगोत्र यानी अनन्वय है, क्योंकि उस अक्षर [अक्षरब्रह्म] का कोई मूल नहीं है जिससे वह अन्वित हो; जिनका वर्णन किया जाय वे

वर्णा द्रव्यधर्माः स्थूलत्वादयः शुक्लत्वादयो वा । अविद्यमाना वर्णा यस्य तदवर्णमक्षरम् । अचक्षुःश्रोत्रं चक्षुश्च श्रोत्रं च नामरूपविषये करणे सर्वजन्तूनां ते अविद्यमाने यस्य तदचक्षुःश्रोत्रम्, 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति चेतनावत्त्वविशेषणात् प्राप्तं संसारिणामिव चक्षुःश्रोत्रादिभिः करणैरर्थसाधकत्वं तदिहाचक्षुःश्रोत्रमिति वार्यते "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे० उ० ३ । १९) इत्यादिदर्शनात् ।

किं च तदपाणिपादं कर्मेन्द्रियरहितमित्येतत् । यत एवमग्राह्यमग्राहकं चातो नित्यम्, अविनाशि, विभुं विविधं ब्रह्मादिस्थावरान्तप्राणिभेदैर्भवति इति विभुम् । सर्वगतं व्यापकमाकाश-

स्थूलत्वादि या शुक्लत्वादि द्रव्यके धर्म ही वर्ण हैं—वे वर्ण जिसमें विद्यमान नहीं हैं वह अक्षर अवर्ण है; अचक्षुःश्रोत्र—चक्षु (नेत्रेन्द्रिय) और श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) ये सम्पूर्ण प्राणियोंकी रूप और शब्दको गृहीत करनेवाली इन्द्रियाँ हैं, वे जिसमें नहीं हैं उसे ही 'अचक्षुः-श्रोत्र' कहते हैं । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस श्रुतिमें पुरुषके लिये चेतनावत्त्व विशेषण दिया गया है, अतः अन्य संसारी जीवोंके समान उसके लिये भी चक्षुःश्रोत्रादि इन्द्रियों-से अर्थसाधकत्व प्राप्त होता है, यहाँ 'अचक्षुःश्रोत्रम्' कहकर उसीका निषेध किया जाता है, जैसा कि उसके विषयमें "बिना नेत्रवाला होकर भी देखता है, बिना कान-वाला होकर भी सुनता है" इत्यादि कथन देखा गया है ।

यही नहीं, वह अपाणिपाद अर्थात् कर्मेन्द्रियोंसे भी रहित है । क्योंकि इस प्रकार वह अग्राह्य और अग्राहक भी है, इसलिये वह नित्य—अविनाशी है । तथा विभु—ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त प्राणि-भेदसे वह विविध (अनेक प्रकारका) हो जाता है, इसलिये विभु है, सर्वगत—व्यापक है और शब्दादि

वस्तुसूक्ष्मं शब्दादिस्थूलत्व-कारणरहितत्वात् । शब्दादयो ह्याकाशवाय्वादीनामुत्तरोत्तरं स्थूलत्वकारणानि तदभावात् सुसूक्ष्मम्। किं च तदव्ययमुक्तधर्म-त्वादेव न व्येतीत्यव्ययम्। न हि अनङ्गस्य स्वाङ्गापचयलक्षणो व्ययः सम्भवति शरीरस्येव। नापि कोशा-पचयलक्षणो व्ययः सम्भवति राज्ञ इव। नापि गुणद्वारको व्ययः सम्भवत्यगुणत्वात्सर्वात्म-कत्वाच्च ।

स्थूलताके कारणोंसे रहित होनेके कारण आकाशके समान अत्यन्त सूक्ष्म है, शब्दादि गुण ही आकाश-वायु आदिकी उत्तरोत्तर स्थूलताके कारण हैं, उनसे रहित होनेके कारण वह [अक्षरब्रह्म] सुसूक्ष्म है। तथा उपर्युक्त धर्मवाला होनेसे ही कभी उसका व्यय (ह्रास) नहीं होता इसलिये वह अव्यय है; क्योंकि अङ्गहीन वस्तुका शरीरके समान अपने अङ्गोंका क्षयरूप व्यय नहीं हो सकता, न राजाके समान कोशक्षयरूप व्यय ही सम्भव है और न निर्गुण तथा सर्वात्मक होनेके कारण उसका गुणक्षयद्वारा ही व्यय हो सकता है ।

यदेवंलक्षणं भूतयोनिं भूतानां कारणं पृथिवीव स्थावरजङ्ग-मानां परिपश्यन्ति सर्वत आत्म-भूतं सर्वस्याक्षरं पश्यन्ति धीरा धीमन्तो विवेकिनः। ईदृशमक्षरं यया विद्ययाधिगम्यते सा परा विद्येति समुदायार्थः ॥ ६ ॥

पृथिवी जैसे स्थावर-जङ्गम जगत्का कारण है उसी प्रकार जिस ऐसे लक्षणोंवाले भूतयोनि— भूतोंके कारण सबके आत्मभूत अक्षरब्रह्मको धीर—बुद्धिमान्—विवेकी पुरुष सब ओर देखते हैं, ऐसा अक्षर जिस विद्यासे जाना जाता है वही परा विद्या है—यह इस सम्पूर्ण मन्त्रका तात्पर्य है ॥६॥

अक्षरब्रह्मका विश्वकारणत्व

भूतयोन्यक्षरमित्युक्तम्। तत्कथं

पहले कहा जा चुका है कि अक्षरब्रह्म भूतोंकी योनि है। उसका

भूतयोनित्वमित्युच्यते प्रसिद्धदृष्टान्तैः—

वह भूतयोनित्व किस प्रकार है, सो प्रसिद्ध दृष्टान्तोंद्वारा बतलाया जाता है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

जिस प्रकार मकड़ी जालेको बनाती और निगल जाती है, जैसे पृथिवीमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुषसे केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उस अक्षरसे यह विश्व प्रकट होता है।

यथा लोके प्रसिद्धम्—ऊर्णनाभिर्लूताकीटः किञ्चित्कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यतिरिक्तानेव तन्तून्बहिः प्रसारयति पुनस्तानेव गृह्णते च गृह्णाति स्वात्मभावमेवापादयति। यथा च पृथिव्यामोषधयो व्रीह्यादिस्थावरान्ता इत्यर्थः । स्वात्माव्यतिरिक्ता एव प्रभवन्ति। यथा च सतो विद्यमानाज्जीवतः पुरुषात्केशलोमानि केशाश्च लोमानि च सम्भवन्ति विलक्षणानि ।

जिस प्रकार लोकमें प्रसिद्ध है कि ऊर्णनाभि—मकड़ी किसी अन्य उपकरणकी अपेक्षा न कर स्वयं ही अपने शरीरसे अभिन्न तन्तुओंको रचती अर्थात् उन्हें बाहर फैलाती है और फिर उन्हींको गृहीत भी कर लेती है, यानी अपने शरीरसे अभिन्न कर देती है, तथा जैसे पृथिवीमें व्रीहि-यव इत्यादिसे लेकर वृक्षपर्यन्त समस्त ओषधियाँ उससे अभिन्न ही उत्पन्न होती हैं और जैसे सत्—विद्यमान अर्थात् जीवित पुरुषसे उससे विलक्षण केश और लोम उत्पन्न होते हैं ।

यथैते दृष्टान्तास्तथा विलक्षणं सलक्षणं च निमित्तान्तरानपेक्षाद्यथोक्तलक्षणादक्षरात्सम्भवति

जैसे कि ये दृष्टान्त हैं उसी प्रकार इस संसारमण्डलमें इससे विभिन्न और समान लक्षणोंवाला यह विश्व—समस्त जगत् किसी अन्य

समुत्पद्यत इह संसारमण्डले विश्वं समस्तं जगत् । अनेकदृष्टान्तोपादानं तु सुखार्थप्रबोधनार्थम् ॥ ७ ॥

निमित्तकी अपेक्षा न करनेवाले उस उपर्युक्त लक्षणविशिष्ट अक्षरसे ही उत्पन्न होता है । ये अनेक दृष्टान्त केवल विषयको सरलतासे समझनेके लिये ही लिये गये हैं ॥ ७ ॥

सृष्टिक्रम

यद्ब्रह्मण उत्पद्यमानं विश्वं तदनेन क्रमेणोत्पद्यते न युगपद्बदरमुष्टिप्रक्षेपवदिति क्रमनियमविवक्षार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—

ब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाला जो जगत् है वह इस क्रमसे उत्पन्न होता है, बेरोंकी मुट्ठी फेंक देनेके समान एक साथ उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार उस क्रमके नियमको बतलानेकी इच्छावाले इस मन्त्रका आरम्भ किया जाता है—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥

[ज्ञानरूप] तपके द्वारा ब्रह्म कुछ उपचय (स्थूलता) को प्राप्त हो जाता है, उसीसे अन्न उत्पन्न होता है । फिर अन्नसे क्रमशः प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म और कर्मसे अमृतसंज्ञक कर्मफल उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

तपसा ज्ञानेनोत्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोन्यक्षरं ब्रह्म चीयत उपचीयत उत्पिपादयिषदिदं जगदङ्कुरमिव बीजमुच्छूनतां

उत्पत्तिविधिका ज्ञाता होनेके कारण तप अर्थात् ज्ञानसे भूतोंका कारणरूप अक्षरब्रह्म उपचित होता है; अर्थात् इस जगत्को उत्पन्न करनेकी इच्छा करते हुए वह कुछ स्थूलताको प्राप्त हो जाता है, जैसे अङ्कुररूपमें परिणत होता हुआ बीज कुछ स्थूल हो जाता अथवा पुत्र उत्पन्न

गच्छति पुत्रमिव पिता हर्षेण ।

एवं सर्वज्ञतया सृष्टिस्थिति-संहारशक्तिविज्ञानवत्तयोपचितात् ततो ब्रह्मणोऽन्नमद्यते भुज्यत इत्यन्नमव्याकृतं साधारणं संसारिणां व्याचिकीर्षितावस्थारूपेण अभिजायत उत्पद्यते । ततश्च अव्याकृताद्व्याचिकीर्षितावस्थातः अन्नात्प्राणो हिरण्यगर्भो ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठितजगत्साधारणोऽविद्याकामकर्मभूतसमुदायबीजाङ्कुरो जगदात्माभिजायत इत्यनुषङ्गः ।

तस्माच्च प्राणान्मनो मनआख्यं सङ्कल्पविकल्पसंशयनिर्णयाद्यात्मकमभिजायते । ततोऽपि सङ्कल्पाद्यात्मकान्मनसः सत्यं सत्याख्यमाकाशादि भूतपञ्चकम् अभिजायते । तस्मात्सत्याख्याद्भूतपञ्चकाद् अण्डक्रमेण सप्तलोका भूरादयः । तेषु मनुष्यादिप्राणि-

करनेकी इच्छावाला पिता हर्षसे उल्लसित हो जाता है ।

इस प्रकार सर्वज्ञ होनेके कारण सृष्टि, स्थिति और संहार-शक्तिकी विज्ञानवत्तासे वृद्धिको प्राप्त हुए उस ब्रह्मसे अन्न—जो खाया यानी भोजन किया जाय उसे अन्न कहते हैं, वह सबका साधारण कारणरूप अव्याकृत संसारियोंकी व्याचिकीर्षित (व्यक्त की जानेवाली) अवस्थारूपसे उत्पन्न होता है । उस अव्याकृतसे यानी व्याचिकीर्षित अवस्थावाले अन्नसे प्राण—हिरण्यगर्भ यानी ब्रह्मकी ज्ञान और क्रियाशक्तियोंसे अधिष्ठित, व्यष्टि जीवोंका समष्टिरूप तथा अविद्या, काम, कर्म और भूतोंके समुदायरूप बीजका अङ्कुर जगदात्मा उत्पन्न होता है । यहाँ प्राण शब्दका 'अभिजायते' क्रियासे सम्बन्ध है ।

तथा उस प्राणसे मन यानी संकल्प-विकल्प-संशय-निर्णयात्मक मननामक अन्तःकरण उत्पन्न होता है । उस सङ्कल्पादिरूप मनसे भी सत्य—सत्यनामक आकाशादि भूतपञ्चककी उत्पत्ति होती है । फिर उस सत्यसंज्ञक भूतपञ्चकसे ब्रह्माण्डक्रमसे भूः आदि सात लोक उत्पन्न होते हैं । उनमें मनुष्यादि प्राणियोंके वर्ण

वर्णाश्रमक्रमेण कर्माणि । कर्मसु च निमित्तभूतेष्वमृतं कर्मजं फलम् । यावत्कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि न विनश्यन्ति तावत्फलं न विनश्यति इत्यमृतम् ॥ ८ ॥

और आश्रमके क्रमसे कर्म होते हैं तथा उन निमित्तभूत कर्मोंसे अमृत—कर्मजनित फल होता है । जबतक सौ करोड़ कल्पतक भी कर्मोंका नाश नहीं होता तबतक उनका फल भी नष्ट नहीं होता; इसलिये कर्मफलको 'अमृत' कहा है ॥ ८ ॥

उक्तमेवार्थमुपसंजिहीर्षुर्मन्त्रो वक्ष्यमाणार्थमाह—

पूर्वोक्त अर्थका ही उपसंहार करनेकी इच्छावाला [यह नवम] मन्त्र आगे कहा जानेवाला अर्थ कहता है—

प्रकरणका उपसंहार

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ ९ ॥

जो सबको [सामान्यरूपसे] जाननेवाला और सबका विशेषज्ञ है तथा जिसका ज्ञानमय तप है उस [अक्षरब्रह्म] से ही यह ब्रह्म (हिरण्यगर्भ), नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

य उक्तलक्षणोऽक्षराख्यः सर्वज्ञः सामान्येन सर्वं जानातीति सर्वज्ञः । विशेषेण सर्वं वेत्तीति सर्ववित् । यस्य ज्ञानमयं ज्ञानविकारमेव सार्वज्ञ्यलक्षणं तपो नायासलक्षणं तस्माद्यथोक्तात् सर्वज्ञादेतदुक्तं कार्यलक्षणं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं जायते । किं च

जो ऊपर कहे हुए लक्षणोंवाला अक्षरसंज्ञक ब्रह्म सर्वज्ञ—सबको सामान्यरूपसे जानता है, इसलिये सर्वज्ञ और विशेषरूपसे सब कुछ जानता है इसलिये सर्ववित् है, जिसका ज्ञानमय अर्थात् सर्वज्ञतारूप ज्ञानविकार ही तप है—आयासरूप तप नहीं है उस उपर्युक्त सर्वज्ञसे ही यह पूर्वोक्त हिरण्यगर्भसंज्ञक कार्यब्रह्म उत्पन्न होता है ।

नामासौ देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादिलक्षणम्, रूपमिदं शुक्लं नीलमित्यादि, अन्नं च व्रीहियवादिलक्षणं जायते पूर्वमन्त्रोक्तक्रमेण, इत्यविरोधो द्रष्टव्यः ॥ ९ ॥

तथा उसीसे पूर्वोक्त मन्त्रके क्रमानुसार यह देवदत्त-यज्ञदत्त इत्यादि नाम, यह शुक्ल-नील इत्यादि रूप तथा व्रीहि-यवादिरूप अन्न उत्पन्न होता है। अतः पूर्वमन्त्रसे इसका अविरोध समझना चाहिये ॥ ९ ॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके
प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

कर्मनिरूपण

पूर्वापरसम्बन्धनिरूपणम्

साङ्गा वेदा अपरा विद्योक्ता ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादिना। यत्तदद्रेश्यम् इत्यादिना नामरूपम् अन्नं च जायत इत्यन्तेन ग्रन्थेन उक्तलक्षणमक्षरं यया विद्यया अधिगम्यत इति परा विद्या सविशेषणोक्ता। अतः परमनयोर्विद्ययोर्विषयौ विवेक्तव्यौ संसारमोक्षाविस्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते।

ऊपर 'ऋग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादि [पञ्चम] मन्त्रसे अङ्गोंसहित वेदोंको अपरा विद्या बतलाया है। तथा 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यादिसे लेकर 'नामरूपमन्नं च जायते' यहाँतकके ग्रन्थसे जिसके द्वारा उपर्युक्त लक्षणवाले अक्षरका ज्ञान होता है उस परा विद्याका उसके विशेषणोंसहित वर्णन किया। इसके पश्चात् इन दोनों विद्याओंके विषय संसार और मोक्षका विवेक करना है; इसीलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है।

संसारमोक्षयोः स्वरूपनिर्देशः

तत्रापरविद्याविषयः कर्त्रादिसाधनक्रियाफलभेदरूपः संसारोऽनादिः अनन्तो दुःखस्वरूपत्वाद्धातव्यः प्रत्येकं शरीरिभिः सामस्त्येन नदीस्रोतोवदव्यवच्छेदरूपसम्बन्धः, तदुपशमलक्षणो मोक्षः परविद्याविषयोऽनाद्यनन्तोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः शुद्धः प्रसन्नः स्वात्मप्रतिष्ठालक्षणः परमानन्दोऽद्वय इति ।

उनमें अपरा विद्याका विषय संसार है, जो कर्ता-करण आदि साधनोंसे होनेवाले कर्म और उसके फलरूप भेदवाला, अनादि, अनन्त और नदीके प्रवाहके समान अविच्छिन्न सम्बन्धवाला है तथा दुःखरूप होनेके कारण प्रत्येक देहधारीके लिये सर्वथा त्याज्य है। उस (संसार) का उपशमरूप मोक्ष परा विद्याका विषय है और वह अनादि, अनन्त, अजर, अमर, अमृत, अभय, शुद्ध, प्रसन्न, स्वस्वरूपमें स्थितिरूप तथा परमानन्द एवं अद्वितीय है।

पूर्वं तावदपरविद्याया विषयप्रदर्शनार्थमारम्भः । तद्दर्शने हि तन्निर्वेदोपपत्तेः । तथा च वक्ष्यति—'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्' (मु० उ० १ । २ । १२) इत्यादिना । न ह्यप्रदर्शिते परीक्षोपपद्यत इति तत्प्रदर्शयन्नाह—

उन दोनोंमें पहले अपरा विद्याका विषय दिखलानेके लिये आरम्भ किया जाता है, क्योंकि उसे जान लेनेपर ही उससे विराग हो सकता है। ऐसा ही 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्' इत्यादि वाक्योंसे आगे कहेंगे भी। बिना दिखलाये हुए उसकी परीक्षा नहीं हो सकती; अतः उस (कर्मफल) को दिखलाते हुए कहते हैं—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ ॥

बुद्धिमान् ऋषियोंने जिन कर्मोंका मन्त्रोंमें साक्षात्कार किया था वही यह सत्य है, त्रेतायुगमें उन कर्मोंका अनेक प्रकार विस्तार हुआ। सत्य (कर्मफल) की कामनासे युक्त होकर उनका नित्य आचरण करो; लोकमें यही तुम्हारे लिये सुकृत (कर्मफलकी प्राप्ति) का मार्ग है ॥ १ ॥

तदेतत्सत्यमवितथम् । किं तत्?मन्त्रेष्वृग्वेदाद्याख्येषु कर्माणि अग्निहोत्रादीनि मन्त्रैरेव प्रकाशितानि कवयो मेधाविनो वसिष्ठादयो यान्यपश्यन्दृष्टवन्तः। यत्तदेतत्सत्यमेकान्तपुरुषार्थसाधनत्वात् । तानि च वेदविहितान्यृषिदृष्टानि कर्माणि त्रेतायां त्रयीसंयोगलक्षणायां हौत्राध्वर्यवौद्गात्रप्रकारायामधिकरणभूतायां बहुधा बहुप्रकारं सन्ततानि प्रवृत्तानि कर्मिभिः क्रियमाणानि त्रेतायां वा युगे प्रायशः प्रवृत्तानि ।

वही यह सत्य अर्थात् अमिथ्या है। वह क्या ? ऋग्वेदादि मन्त्रोंमें मन्त्रोंद्वारा ही प्रकाशित जिन अग्निहोत्रादि कर्मोंको कवियों अर्थात् वसिष्ठादि मेधावियोंने देखा था, वही पुरुषार्थका एकमात्र साधन होनेके कारण यह सत्य है। वे ही वेदविहित और ऋषिदृष्ट कर्म त्रेतामें—[ऋग्वेदविहित] हौत्र, [यजुर्वेदोक्त] आध्वर्यव और [सामवेदविहित] औद्गात्र ही जिसके प्रकारभेद हैं उस अधिकरणभूत त्रयीसंयोगरूप त्रेतामें अनेक प्रकार सन्तत—प्रवृत्त हुए, अथवा कर्मठोंद्वारा किये जाकर प्रायशः त्रेतायुगमें प्रवृत्त हुए।

अतो यूयं तान्याचरथ निर्वर्तयत नियतं नित्यं सत्यकामा यथाभूतकर्मफलकामाः सन्तः । एष वो युष्माकं पन्था मार्गः सुकृतस्य स्वयं निर्वर्तितस्य कर्मणो लोके, फलनिमित्तं लोक्यते दृश्यते भुज्यत इति कर्मफलं

अतः सत्यकाम यानी यथाभूत कर्मफलकी इच्छावाले होकर तुम उनका नियत—नित्य आचरण करो। यही तुम्हारे सुकृत—स्वयं किये हुए कर्मोंके लोककी प्राप्तिके लिये मार्ग है। फलके निमित्तसे लोकित, दृष्ट अथवा भोगा जाता है इसलिये कर्मफल 'लोक' कहलाता है; उस

लोक उच्यते; तदर्थं तत्प्राप्त्य एष मार्ग इत्यर्थः। यान्येतानि अग्निहोत्रादीनि त्रय्यां विहितानि कर्माणि तान्येष पन्था अवश्य-फलप्राप्तिसाधनमित्यर्थः ॥ १ ॥

(कर्मफल) के लिये अर्थात् उसकी प्राप्तिके लिये यही मार्ग है। तात्पर्य यह है कि वेदत्रयीमें विहित जो ये अग्निहोत्र आदि कर्म हैं वे ही यह मार्ग यानी अवश्य फलप्राप्तिका साधन हैं ॥ १ ॥

अग्निहोत्रका वर्णन

तत्राग्निहोत्रमेव तावत्प्रथमं प्रदर्शनार्थमुच्यते सर्वकर्मणां प्राथम्यात्। तत्कथम्?

उनमें सबसे पहले प्रदर्शित करनेके लिये अग्निहोत्रका ही वर्णन किया जाता है, क्योंकि [अग्नि-साध्य कर्मोंमें] उसीकी प्रधानता है। सो किस प्रकार?

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥ २ ॥

जिस समय अग्निके प्रदीप्त होनेपर उसकी ज्वाला उठने लगे उस समय दोनों आज्यभागोंके* मध्यमें [प्रातः और सायंकाल] आहुतियाँ डाले ॥ २ ॥

यदैवेन्धनैरभ्याहितैः सम्यगिद्धे समिद्धे हव्यवाहने लेलायते चलत्यर्चिस्तदा तस्मिन्काले लेलायमाने चलत्यर्चिष्याज्यभागावाज्यभागयोरन्तरेण मध्य

जिस समय सब ओर आधान किये हुए ईंधनद्वारा सम्यक् प्रकार-से इद्ध अर्थात् प्रज्वलित होनेपर अग्निसे ज्वाला उठने लगे तब—उस समय ज्वालाओंके चञ्चल हो उठने-पर आज्यभागोंके अन्तर—मध्यमें

* दर्श-पौर्णमास यज्ञमें आहवनीय अग्निके उत्तर और दक्षिण ओर 'अग्नये स्वाहा' तथा 'सोमाय स्वाहा' इन मन्त्रोंसे दो घृताहुतियाँ दी जाती हैं। उन्हें 'आज्यभाग' कहते हैं। इनके बीचका भाग 'आवापस्थान' कहलाता है। शेष सब आहुतियाँ उसीमें दी जाती हैं।

आवापस्थान आहुतीः प्रतिपादयेत्प्रक्षिपेद्देवतामुद्दिश्य। अनेकाहप्रयोगापेक्षयाहुतीरिति बहुवचनम् ॥ २ ॥

आवापस्थानमें देवताओंके उद्देश्यसे आहुतियाँ देनी चाहिये। अनेक दिनतक होनेवाले प्रयोगकी अपेक्षासे यहाँ 'आहुतीः' इस बहुवचनका प्रयोग किया गया है ॥ २ ॥

विधिहीन कर्मका कुफल

एष सम्यगाहुतिप्रक्षेपादिलक्षणः कर्ममार्गो लोकप्राप्तये पन्थास्तस्य च सम्यक्करणं दुष्करम्। विपत्तयस्त्वनेका भवन्ति। कथम्?

यह यथाविधि आहुतिप्रदानरूप कर्ममार्ग [स्वर्गादि] लोकोंकी प्राप्तिका साधन है। इसका यथावत् होना बड़ा ही दुष्कर है। इसमें अनेकों विपत्तियाँ आ सकती हैं। किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—]

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास-
मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-
मासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥ ३ ॥

जिसका अग्निहोत्र दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य और आग्रयण—इन कर्मोंसे रहित, अतिथि-पूजनसे वर्जित, यथासमय किये जानेवाले हवन और वैश्वदेवसे रहित अथवा अविधिपूर्वक हवन किया होता है, उसकी मानो सात पीढ़ियोंका वह नाश कर देता है ॥ ३ ॥

यस्याग्निहोत्रिणोऽग्निहोत्रमदर्शं दर्शाख्येन कर्मणा वर्जितम्। अग्निहोत्रिणोऽवश्यकर्तव्यत्वाद् दर्शस्य। अग्निहोत्रसम्बन्ध्यग्निहोत्रविशेषणमिव भवति। तदक्रिय-

जिस अग्निहोत्रीका अग्निहोत्र अदर्श—दर्शनामक कर्मसे रहित होता है, क्योंकि अग्निहोत्रियोंको दर्शकर्म अवश्य करना चाहिये। अग्निहोत्रसे सम्बन्ध रखनेवाला होनेके कारण [यह दर्शकर्म] अग्निहोत्रके विशेषणके समान

भाणमित्येतत् । तथापौर्णमासम् इत्यादिष्वप्यग्निहोत्रविशेषणत्वं द्रष्टव्यम्, अग्निहोत्राङ्गत्वस्य अविशिष्टत्वात् । अपौर्णमासं पौर्णमासकर्मवर्जितम्, अचातुर्मास्यं चातुर्मास्यकर्मवर्जितम्, अनाग्रयणमाग्रयणं शरदादिकर्तव्यं तच्च न क्रियते यस्य, तथातिथिवर्जितं चातिथिपूजनं चाहन्यहन्यक्रियमाणं यस्य, स्वयं सम्यगग्निहोत्रकालेऽहुतम्, अदर्शादिवदवैश्वदेवं वैश्वदेवकर्मवर्जितम्, हूयमानमप्यविधिना हुतं न यथाहुतमित्येतद् एवं दुःसम्पादितमसम्पादितम् अग्निहोत्राद्युपलक्षितं कर्म किं करोतीत्युच्यते ।

प्रयुक्त हुआ है। अतः जिसके द्वारा इसका अनुष्ठान नहीं किया जाता। इसी प्रकार 'अपौर्णमासम्' आदिमें भी अग्निहोत्रका विशेषणत्व देखना चाहिये, क्योंकि अग्निहोत्रके अङ्ग होनेमें उन [पौर्णमास आदि] की दर्शसे समानता है। [अतः जिनका अग्निहोत्र] अपौर्णमास—पौर्णमास कर्मसे रहित, अचातुर्मास्य—चातुर्मास्य कर्मसे रहित, अनाग्रयण—शरदादि ऋतुओंमें [नवीन अन्नसे] किया जानेवाला जो आग्रयण कर्म है वह जिस (अग्निहोत्र) का नहीं किया जाता वह अनाग्रयण है, तथा अतिथिवर्जित—जिसमें नित्यप्रति अतिथि-पूजन नहीं किया गया, ऐसा होता है और जो स्वयं भी, जिसमें विधिपूर्वक अग्निहोत्रकालमें हवन नहीं किया गया, ऐसा है तथा जो अदर्श आदिके समान अवैश्वदेव—वैश्वदेवकर्मसे रहित है और यदि [उसमें] हवन भी किया गया है तो अविधिपूर्वक ही किया गया है, यानी यथोचित रीतिसे जिसमें हवन नहीं किया गया ऐसा है; इस प्रकार अनुचित रीतिसे किया हुआ अथवा बिना किया हुआ अग्निहोत्र आदिसे उपलक्षित कर्म क्या करता है ? सो बतलाया जाता है—

आसप्तमान्सप्तमसहितांस्तस्य कर्तुर्लोकान्हिनस्ति हिनस्तीव आयासमात्रफलत्वात्। सम्यक्क्रियमाणेषु हि कर्मसु कर्मपरिणामानुरूपेण भूरादयः सत्यान्ताः सप्त लोकाः फलं प्राप्यन्ते। ते लोका एवंभूतेनाग्निहोत्रादिकर्मणा त्वप्राप्यत्वाद्धिंस्यन्त इव। आयासमात्रं त्वव्यभिचारीत्यतो हिनस्तीत्युच्यते।

वह कर्म केवल परिश्रममात्र फलवाला होनेके कारण उस कर्ताके सातों—सप्तम लोकसहित सम्पूर्ण लोकोंको नष्ट—विध्वस्त-सा कर देता है। कर्मोंका यथावत् अनुष्ठान किया जानेपर ही कर्मफलके अनुसार भूर्लोकसे लेकर सत्यलोकपर्यन्त सात लोक फलरूपसे प्राप्त होते हैं। वे लोक इस प्रकारके अग्निहोत्रादि कर्मसे तो अप्राप्य होनेके कारण मानो नष्ट ही कर दिये जाते हैं। हाँ उसका परिश्रममात्र फल तो अव्यभिचारी—अनिवार्य है, इसीलिये 'हिनास्ति' [अर्थात् वह अग्निहोत्र उसके सातों लोकोंको नष्ट कर देता है] ऐसा कहा है।

पिण्डदानाद्यनुग्रहेण वा सम्बध्यमानाः पितृपितामहप्रपितामहाः पुत्रपौत्रप्रपौत्राः स्वात्मोपकाराः सप्त लोका उक्तप्रकारेणाग्निहोत्रादिना न भवन्तीति हिंस्यन्त इत्युच्यते॥ ३॥

अथवा पिण्डदानादि अनुग्रहके द्वारा यजमानसे सम्बद्ध पिता, पितामह और प्रपितामह [ये तीन पूर्वपुरुष] तथा पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र [ये तीन आगे होनेवाली सन्ततियाँ ये ही अपने सहित] अपना उपकार करनेवाले सात लोक हैं। ये उक्त प्रकारके अग्निहोत्र आदिसे प्राप्त नहीं होते; इसलिये 'नष्ट कर दिये जाते हैं' इस प्रकार कहा जाता है॥ ३॥

अग्निकी सात जिह्वाएँ

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥

काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुची देवी—ये उस (अग्नि) की लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं ॥ ४ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः । काल्याद्या विश्वरुच्यन्ता लेलायमाना अग्नेर्हविराहुतिग्रसनार्था एताः सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥

काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुची देवी—ये अग्निकी लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं । कालीसे लेकर विश्वरुचीतक—ये अग्निकी सात चञ्चल जिह्वाएँ हवि—आहुतिका ग्रास करनेके लिये हैं ॥ ४ ॥

विधिवत् अग्निहोत्रादिसे स्वर्गप्राप्ति

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥

जो पुरुष इन देदीप्यमान अग्निशिखाओंमें यथासमय आहुतियाँ देता हुआ [अग्निहोत्रादि कर्मका] आचरण करता है उसे ये सूर्यकी किरणें होकर वहाँ ले जाती हैं जहाँ देवताओंका एकमात्र स्वामी रहता है ॥ ५ ॥

एतेष्वग्निजिह्वाभेदेषु योऽग्नि-होत्री चरते कर्माचरत्यग्निहोत्रादि भ्राजमानेषु दीप्यमानेषु । यथा-कालं च यस्य कर्मणो यः कालस्तत्कालं यथाकालं यजमा-नमाददायन्नाददाना आहुतयो यजमानेन निर्वर्तितास्तं नयन्ति प्रापयन्त्येता आहुतयो या इमा अनेन निर्वर्तिताः सूर्यस्य रश्मयो भूत्वा रश्मिद्वारैरित्यर्थः । यत्र यस्मिन्स्वर्गे देवानां पतिरिन्द्र एकः सर्वानुपरि अधि वसतीत्य-धिवासः ॥ ५ ॥

जो अग्निहोत्री इन भ्राजमान—दीप्तिमान् अग्निजिह्वाके भेदोंमें यथा-काल यानी जिस कर्मका जो काल है उस कालका अतिक्रमण न करते हुए अग्निहोत्रादि कर्मका आचरण करता है, उस यजमानको इसकी दी हुई वे आहुतियाँ सूर्यकी किरणें होकर अर्थात् सूर्यकी किरणोंद्वारा वहाँ पहुँचा देती हैं जहाँ—जिस स्वर्गलोकमें देवताओंका एकमात्र पति इन्द्र सबके ऊपर अधिवास—अधिष्ठान करता है ।५।

कथं सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्तीत्युच्यते—

वे सूर्यकी किरणोंद्वारा यजमानको किस प्रकार ले जाती हैं, सो बतलाया जाता है—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ ६ ॥

वे दीप्तिमती आहुतियाँ 'आओ, आओ, यह तुम्हारे सुकृतसे प्राप्त हुआ पवित्र ब्रह्मलोक है' ऐसी प्रिय वाणी कहकर यजमानका अर्चन (सत्कार) करती हुई उसे ले जाती हैं ॥ ६ ॥

एह्येहीत्याह्वयन्त्यः सुवर्च-सो दीप्तिमत्यः किं च प्रियाम् इष्टां वाचं स्तुत्यादिलक्षणामभि-

वे दीप्तिमती आहुतियाँ 'आओ, आओ' इस प्रकार पुकारती तथा प्रिय यानी स्तुति आदिरूप इष्टवाणी बोल-

वदन्त्य उच्चारयन्त्योऽर्चयन्त्यः पूजयन्त्यश्चैष वो युष्माकं पुण्यः सुकृतः पन्था ब्रह्मलोकः फलरूपः। एवं प्रियां वाचमभिवदन्त्यो वहन्तीत्यर्थः । ब्रह्मलोकः स्वर्गः प्रकरणात् ॥ ६ ॥

कर उसका अर्चन—पूजन करती हुई अर्थात् 'यह तुम्हारे सुकृतका फलस्वरूप पवित्र ब्रह्मलोक है' इस प्रकार प्रिय वाणी कहती हुई उसे ले जाती हैं । यहाँ स्वर्गहीको ब्रह्मलोक कहा है, क्योंकि प्रकरणसे यही ठीक मालूम होता है ॥६॥

ज्ञानरहित कर्मकी निन्दा

एतच्च ज्ञानरहितं कर्मैतावत्फलमविद्याकामकर्मकार्यमतोऽसारं दुःखमूलमिति निन्द्यते—

इस प्रकार यह ज्ञानरहित कर्म इतने ही फलवाला है । यह अविद्या काम और कर्मका कार्य है; इसलिये असार और दुःखकी जड़ है, सो इसकी निन्दा की जाती है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दंति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ ॥

जिनमें [ज्ञानबाह्य होनेसे] अवर—निकृष्टकर्म आश्रित कहा गया है वे [सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और यजमानपत्नी] ये अठारह यज्ञरूप (यज्ञके साधन) अस्थिर एवं नाशवान् बतलाये गये हैं । जो मूढ़ 'यही श्रेय है' इस प्रकार इनका अभिनन्दन करते हैं, वे फिर भी जरा-मरणको प्राप्त होते रहते हैं ॥ ७ ॥

प्लवा विनाशिन इत्यर्थः । हि यस्मादेतेऽदृढा अस्थिरा यज्ञरूपा यज्ञस्य रूपाणि यज्ञरूपा यज्ञनिर्वर्तका अष्टादशाष्टादश-

'प्लव' का अर्थ विनाशी है ! क्योंकि सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और पत्नी—ये अठारह यज्ञरूप—यज्ञके रूप यानी यज्ञके सम्पादक,

संख्याकाः षोडशर्त्विजः पत्नी यजमानश्चेत्यष्टादश, एतदाश्रयं कर्मोक्तं कथितं शास्त्रेण, येष्वष्टादशस्ववरं केवलं ज्ञानवर्जितं कर्म; अतस्तेषामवरकर्माश्रयाणामष्टादशानामदृढतया प्लवत्वात्प्लवते सह फलेन तत्साध्यं कर्म; कुण्डविनाशादिवत्क्षीरदध्यादीनां तत्स्थानां नाशः ।

यत एवमेतत्कर्म श्रेयः श्रेयःकरणमिति येऽभिनन्दन्त्यभिहृष्यन्त्यविवेकिनो मूढा अतस्ते जरां च मृत्युं च जरामृत्युं किञ्चित्कालं स्वर्गे स्थित्वा पुनरेवापि यन्ति भूयोऽपि गच्छन्ति ॥७॥

जिनमें केवल ज्ञानरहित कर्म आश्रित है, अदृढ़—अस्थिर हैं और शास्त्रोंमें इन्हींके आश्रित कर्म बतलाया है; अतः उस अवर कर्मके उन अठारह आश्रयोंके अदृढतावश प्लव अर्थात् विनाशशील होनेके कारण उनसे निष्पन्न होनेवाला कर्म, कूँडेके नाशसे उसमें रक्खे हुए दूध और दही आदिके नाशके समान, नष्ट हो जाता है ।

क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये जो अविवेकी मूढ पुरुष 'यह कर्म श्रेय यानी श्रेयका साधन है' ऐसा मानकर अभिनन्दित—अत्यन्त हर्षित होते हैं वे इस (हर्ष) के द्वारा जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं; अर्थात् कुछ समय स्वर्गमें रहकर फिर भी उसी जन्म-मरणको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

अविद्याग्रस्त कर्मठोंकी दुर्दशा

किञ्च— | तथा—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥

अविद्याके मध्यमें रहनेवाले और अपनेको बड़ा बुद्धिमान् तथा

पण्डित माननेवाले वे मूढ पुरुष अन्धेसे ले जाये जाते हुए अन्धेके समान पीडित होते सब ओर भटकते रहते हैं ॥ ८ ॥

अविद्यायामन्तरे मध्ये वर्तमाना अविवेकप्रायाः स्वयं वयमेव धीरा धीमन्तः पण्डिता विदितवेदितव्याश्चेति मन्यमाना आत्मानं सम्भावयन्तस्ते च जङ्घन्यमाना जरारोगाद्यनेकानर्थव्रातैः हन्यमाना भृशं पीड्यमानाः परियन्ति विभ्रमन्ति मूढाः । दर्शनवर्जितत्वादन्धेनैवाचक्षुष्केणैव नीयमानाः प्रदर्श्यमानमार्गा यथा लोकेऽन्धा अक्षिरहिता गर्तकण्टकादौ पतन्ति तद्वत् ॥ ८ ॥

अविद्याके मध्यमें रहनेवाले बहुधा अविवेकी किन्तु 'हम ही बड़े बुद्धिमान् और पण्डित—ज्ञेय वस्तुको जाननेवाले हैं' ऐसा मानकर अपनेको सम्मानित करनेवाले वे मूढ पुरुष—जरा-रोग आदि अनेक अनर्थजालसे जङ्घन्यमान—हन्यमान अर्थात् अत्यन्त पीडित होते सब ओर घूमते—भटकते रहते हैं। जिस प्रकार लोकमें दृष्टिहीन होनेके कारण अन्धे अर्थात् नेत्रहीनसे ले जाये जाते हुए—मार्ग प्रदर्शित किये जाते हुए अन्धे—नेत्रहीन पुरुष गड्ढे और काँटे आदिमें गिरते रहते हैं उसी प्रकार [वे भी पीडा-पर-पीडा उठाते रहते हैं] ॥ ८ ॥

किञ्च— | तथा—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा-
त्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९ ॥

बहुधा अविद्यामें ही रहनेवाले वे मूर्खलोग 'हम कृतार्थ हो गये हैं' इस प्रकार अभिमान किया करते हैं। क्योंकि कर्मठलोगोंको कर्मफल-

विषयक रागके कारण तत्त्वका ज्ञान नहीं होता, इसलिये वे दुःखार्त्त होकर [कर्मफल क्षीण होनेपर] स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं ॥ ९ ॥

अविद्यायां बहुधा बहुप्रकारं वर्तमाना वयमेव कृतार्थाः कृतप्रयोजना इत्येवमभिमन्यन्त्यभिमानं कुर्वन्ति बाला अज्ञानिनः । यद्यस्मादेवं कर्मिणो न प्रवेदयन्ति तत्त्वं न जानन्ति रागात्कर्मफलरागाभिभवनिमित्तं तेन कारणेन आतुरा दुःखार्ताः सन्तः क्षीणलोकाः क्षीणकर्मफलाः स्वर्गलोकाच्च्यवन्ते ॥ ९ ॥

अविद्यामें बहुधा—अनेक प्रकारसे विद्यमान वे अज्ञानी पुरुष 'केवल हम ही कृतार्थ—कृतकृत्य हो गये हैं' इसी प्रकार अभिमान किया करते हैं । क्योंकि इस प्रकार वे कर्मीलोग रागवश यानी कर्मफलसम्बन्धी रागसे बुद्धिके अभिभूत हो जानेके कारण तत्त्वको नहीं जान पाते इसलिये वे आतुर—दुःखार्त्त होकर कर्मफल क्षीण हो जानेपर स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं ॥९॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥

इष्ट और पूर्त कर्मोंको ही सर्वोत्तम माननेवाले वे महामूढ किसी अन्य वस्तुको श्रेयस्कर नहीं समझते । वे स्वर्गलोकके उच्च स्थानमें अपने कर्मफलोंका अनुभव कर इस [मनुष्य] लोक अथवा इससे भी निकृष्ट लोकमें प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥

इष्टं यागादि श्रौतं कर्म, पूर्तं वापीकूपतडागादि स्मार्तं मन्यमाना एतदेवातिशयेन पुरुषार्थसाधनं वरिष्ठं प्रधानमिति

इष्ट यानी यागादि श्रौतकर्म और पूर्त—वापी-कूप-तडागादि स्मार्तकर्म 'ये ही अधिकतासे पुरुषार्थके साधन हैं, अतः ये ही सर्वश्रेष्ठ यानी प्रधान हैं' इस

चिन्तयन्तोऽन्यदात्मज्ञानाख्यं श्रेयःसाधनं न वेदयन्ते न जानन्ति, प्रमूढाः पुत्रपशुबन्ध्वादिषु प्रमत्ततया मूढाः । ते च नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठ उपरिस्थाने सुकृते भोगायतनेऽनुभूत्वानुभूय कर्मफलं पुनरिमं लोकं मानुषमस्माद्धीनतरं वा तिर्यङ्नरकादिलक्षणं यथाकर्मशेषं विशन्ति ॥१०॥

प्रकार मानते अर्थात् चिन्तन करते हुए वे प्रमूढ—प्रमत्ततावश पुत्र, पशु और बान्धवादिमें मूढ हुए लोग आत्मज्ञानसंज्ञक किसी और श्रेयःसाधनको नहीं जानते । वे नाक यानी स्वर्गके पृष्ठ—उच्च स्थानमें अपने सुकृत—भोगायतन (पुण्यभोगके लिये प्राप्त हुए दिव्य देह) में कर्मफलका अनुभव कर अपने अवशिष्ट कर्मानुसार फिर इसी मनुष्यलोक अथवा इससे निकृष्टतर तिर्यङ्नरकादिरूप योनियोंमें प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ११ ॥

किन्तु जो शान्त और विद्वान् लोग वनमें रहकर भिक्षावृत्तिका आचरण करते हुए तप और श्रद्धाका सेवन करते हैं वे पापरहित होकर सूर्यद्वार (उत्तरायणमार्ग) से वहाँ जाते हैं जहाँ वह अमृत और अव्ययस्वरूप पुरुष रहता है ॥ ११ ॥

ये पुनस्तद्विपरीता ज्ञानयुक्ता वानप्रस्थाः संन्यासिनश्च तपःश्रद्धे हि तपः स्वाश्रमविहितं कर्म श्रद्धा हिरण्यगर्भादिविषया विद्या;

किन्तु इसके विपरीत जो ज्ञानसम्पन्न वानप्रस्थ और संन्यासी लोग तप और श्रद्धाका—अपने आश्रमविहित कर्मका नाम 'तप' है और हिरण्यगर्भादिविषयक विद्याको 'श्रद्धा' कहते हैं, उन तप और

ते तपःश्रद्ध उपवसन्ति सेवन्तेऽरण्ये वर्तमानाः सन्तः; शान्ता उपरतकरणग्रामाः; विद्वांसो गृहस्थाश्च ज्ञानप्रधाना इत्यर्थः। भैक्ष्यचर्यां चरन्तः परिग्रहाभावादुपवसन्त्यरण्य इति सम्बन्धः सूर्यद्वारेण सूर्योपलक्षितेनोत्तरायणेन पथा ते विरजा विरजसः क्षीणपुण्यपापकर्माणः सन्त इत्यर्थः; प्रयान्ति प्रकर्षेण यान्ति यत्र यस्मिन्सत्यलोकादावमृतः स पुरुषः प्रथमजो हिरण्यगर्भो ह्यव्ययात्माव्ययस्वभावो यावत्संसारस्थायी। एतदन्तास्तु संसारगतयोऽपरविद्यागम्याः।

श्रद्धाका वनमें रहकर सेवन करते हैं; तथा जो शान्त—जिनकी इन्द्रियाँ विषयोंसे निवृत्त हो गयी हैं ऐसे विद्वान् लोग तथा ज्ञानप्रधान गृहस्थ लोग परिग्रह न करनेके कारण भिक्षाचर्याका आचरण करते हुए वनमें रहते हैं वे विरज अर्थात् जिनके पाप-पुण्य क्षीण हो गये हैं ऐसे होकर सूर्यद्वारसे—सूर्योपलक्षित उत्तरमार्गसे वहाँ प्रयाण करते—प्रकर्षतः गमन करते हैं जहाँ—जिस सत्यलोकादिमें वह अमृत और अव्ययात्मा—संसारकी स्थितिपर्यन्त रहनेवाला अव्ययस्वभाव पुरुष अर्थात् सबसे पहले उत्पन्न हुआ हिरण्यगर्भ रहता है। अपरा विद्यासे प्राप्त होनेवाली सांसारिक गतियाँ तो बस यहींतक हैं।

ननु—एतं मोक्षमिच्छन्ति केचित्।

शङ्का—परन्तु कोई-कोई तो इसीको मोक्ष समझते हैं?

न; "इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः" (मु० उ० ३।२।२) "ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति" (मु० उ० ३।२।५) इत्यादिश्रुतिभ्योऽप्रकरणाच्च। अपर-

समाधान—ऐसा समझना उचित नहीं है। "उसकी सम्पूर्ण कामनाएँ यहीं लीन हो जाती हैं" "वे संयतचित्त धीर पुरुष उस सर्वगत ब्रह्मको सब ओर प्राप्त कर सभीमें प्रवेश कर जाते हैं" इत्यादि श्रुतियोंसे [ब्रह्मवेत्ताको इसी लोकमें सम्पूर्ण कामनाओंसे मुक्ति और सर्वात्मभावकी प्राप्ति बतलायी गयी है]। इसके सिवा

विद्याप्रकरणे हि प्रवृत्ते न ह्यकस्मान्मोक्षप्रसङ्गोऽस्ति । विरजस्त्वं त्वापेक्षिकम् । समस्तमपरविद्याकार्यं साध्यसाधनलक्षणं क्रियाकारकफलभेदभिन्नं द्वैतम् एतावदेव यद्धिरण्यगर्भप्राप्त्यवसानम् । तथा च मनुनोक्तं स्थावराद्यां संसारगतिमनुक्रामता "ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च । उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः" (मनु० १२ । ५०) इति ॥११॥

यह मोक्षका प्रकरण भी नहीं है। अपरा विद्याके प्रकरणके चालू रहते हुए अकस्मात् मोक्षका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। और उसकी विरजस्कता (निष्पापता) तो आपेक्षिक है । अपरा विद्याका साध्य-साधनरूप, क्रिया-कारक और फलरूप भेदोंसे भिन्न तथा द्वैतरूप समस्त कार्य इतना ही है जिसका कि हिरण्यगर्भकी प्राप्तिमें पर्यवसान होता है । स्थावरोंसे लेकर क्रमशः संसारगतिकी गणना करते हुए मनुजीने भी ऐसा ही कहा है—"ब्रह्मा, मरीचि आदि प्रजापतिगण, यमराज, महत्तत्त्व और अव्यक्त [इनके लोकोंको प्राप्त होना]—यह विद्वानोंने उत्तम सात्त्विकी गति बतलायी है" ॥११॥

ऐहिक और पारलौकिक भोगोंकी असारता देखनेवाले पुरुषके लिये संन्यास और गुरूपसदनका विधान

अथेदानीमस्मात्साध्यसाधनरूपात्सर्वस्मात्संसाराद्विरक्तस्य परस्यां विद्यायामधिकारप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

तत्पश्चात् अब इस साध्य-साधनरूप सम्पूर्ण संसारसे विरक्त हुए पुरुषका परा विद्यामें अधिकार दिखानेके लिये यह कहा जाता है—

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥

कर्मद्वारा प्राप्त हुए लोकोंकी परीक्षा कर ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो जाय, [क्योंकि संसारमें] अकृत (नित्य पदार्थ) नहीं है, और कृतसे [हमें प्रयोजन क्या है ?] अतः उस नित्य वस्तुका साक्षात् ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तो हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके ही पास जाना चाहिये ॥ १२ ॥

परीक्ष्य यदेतदृग्वेदाद्यपरविद्याविषयं स्वाभाविक्यविद्याकामकर्मदोषवत्पुरुषानुष्ठेयमविद्यादिदोषवन्तमेव पुरुषं प्रति विहितत्वात्तदनुष्ठानकार्यभूताश्च लोका ये दक्षिणोत्तरमार्गलक्षणाः फलभूताः, ये च विहिताकरणप्रतिषेधातिक्रमदोषसाध्या नरकतिर्यक्प्रेतलक्षणास्तानेतान्परीक्ष्य प्रत्यक्षानुमानोपमानागमैः सर्वतो याथात्म्येनावधार्य लोकान् संसारगतिभूतान् अव्यक्तादिस्थावरान्तान्व्याकृताव्याकृतलक्षणान् बीजाङ्कुरवदितरेतरोत्पत्तिनिमित्ताननेकानर्थशतसहस्र-

यह जो ऋग्वेदादि अपरविद्याविषयक, तथा अविद्यादि दोषयुक्त पुरुषके लिये ही विहित होनेके कारण स्वभावसे ही अविद्या काम और कर्मरूप दोषसे युक्त पुरुषोंद्वारा अनुष्ठान किये जानेयोग्य कर्म है तथा उसके अनुष्ठानके कार्यभूत अर्थात् फलस्वरूप दक्षिण एवं उत्तरमार्गरूप लोक हैं और विहित कर्मके न करने एवं प्रतिषिद्धके करनेके दोषसे प्राप्त होनेवाली जो नरक, तिर्यक् तथा प्रेतादि योनियाँ हैं उन इन सभीकी परीक्षा कर अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—इन चारों प्रमाणोंसे सब प्रकार उनका यथावत् निश्चय कर जो बीज और अङ्कुरके समान एक-दूसरेकी उत्पत्तिके कारण हैं, अनेकों—सैकड़ों-हजारों अनर्थोंसे व्याप्त हैं, केलेके भीतरी भागके

सङ्कुलान्कदलीगर्भवदसारान् मायामरीच्युदकगन्धर्वनगराकार-स्वप्नजलबुद्बुदफेनसमान्प्रति-क्षणप्रध्वंसान्पृष्ठतः कृत्वाविद्या-कामदोषप्रवर्तितकर्मचितान्धर्मा-धर्मनिर्वर्तितानित्येतत् । ब्राह्मण-स्यैव विशेषतोऽधिकारः सर्वत्या-गेन ब्रह्मविद्यायामिति ब्राह्मण-ग्रहणम् । परीक्ष्य लोकान्किं कुर्यात् इत्युच्यते—निर्वेदम् । निःपूर्वो विदिरत्र वैराग्यार्थे वैराग्य-मायात्कुर्यादित्येतत् ।

स वैराग्यप्रकारः प्रदर्श्यते । इह संसारे नास्ति कश्चिदप्यकृतः पदार्थः । सर्वे एव हि लोकाः कर्मचिताः कर्मकृतत्वाच्चानित्याः, न नित्यं किञ्चिदस्तीत्यभिप्रायः । सर्वं तु कर्मानित्यस्यैव साधनम् । यस्माच्चतुर्विधमेव हि सर्वं कर्म कार्यमुत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं

समान सारहीन हैं, माया, मृगजल और गन्धर्वनगरके समान भ्रमपूर्ण तथा स्वप्न, जलबुद्बुद और फेनके सदृश क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं और अविद्या एवं कामरूप दोषसे प्रवर्तित कर्मोंसे प्राप्त यानी धर्मा-धर्मजनित हैं उन व्यक्त-अव्यक्तरूप तथा संसारगतिभूत अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त लोकोंकी ओरसे मुख मोड़कर ब्राह्मण [उनसे विरक्त हो जाय] । सर्व-त्यागके द्वारा ब्राह्मणका ही ब्रह्म-विद्यामें विशेषरूपसे अधिकार है; इसलिये यहाँ 'ब्राह्मण' पदका ग्रहण किया गया है । इस प्रकार लोकोंकी परीक्षा कर वह क्या करे, सो बत-लाते हैं— 'निर्वेद करे' । यहाँ 'निः' पूर्वक 'विद्' धातु वैराग्य अर्थमें है; अतः तात्पर्य यह है कि 'वैराग्य करे' ।

अब वह वैराग्यका प्रकार दिखलाया जाता है । इस संसारमें कोई भी अकृत (नित्य) पदार्थ नहीं है । सभी लोक कर्मसे सम्पादन किये जानेवाले हैं और कर्मकृत होनेके कारण अनित्य हैं । तात्पर्य यह कि इस संसारमें नित्य कुछ भी नहीं है । सारा कर्म अनित्य फलका ही साधन है । क्योंकि सारे कर्म, कार्य, उत्पाद्य, आप्य और विकार्य अथवा संस्कार्य चार ही प्रकारके

विकार्यं वा, नातः परं कर्मणो विशेषोऽस्ति। अहं च नित्येन अमृतेनाभयेन कूटस्थेनाचलेन ध्रुवेणार्थेनार्थी न तद्विपरीतेन। अतः किं कृतेन कर्मणायासबहुलेनानर्थसाधनेनेत्येवं निर्विण्णोऽभयं शिवमकृतं नित्यं पदं यत्तद्विज्ञानार्थं विशेषेणाधिगमार्थं स निर्विण्णो ब्राह्मणो गुरुमेवाचार्यं शमदमदयादिसम्पन्नमभिगच्छेत्। शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यादित्येतद् गुरुमेवेत्यवधारणफलम्।

हैं, इनसे भिन्न कर्मका और कोई प्रकार नहीं है। किन्तु मैं तो एक नित्य, अमृत, अभय, कूटस्थ, अचल और ध्रुव पदार्थकी इच्छा करनेवाला हूँ; उससे विपरीत स्वभाववालेकी मुझे आवश्यकता नहीं है। अतः इस श्रमबहुल एवं अनर्थके साधनभूत कृत—कर्मसे मुझे क्या प्रयोजन है? इस प्रकार विरक्त होकर जो अभय, शिव, अकृत और नित्यपद है उसके विज्ञानके लिये—विशेषतया जाननेके लिये वह विरक्त ब्राह्मण शम-दमादिसम्पन्न गुरु यानी आचार्यके पास ही जाय। शास्त्रज्ञ होनेपर भी स्वतन्त्रतापूर्वक ब्रह्मज्ञानका अन्वेषण न करे—यही 'गुरुमेव' इस पदसमूहमें आये हुए निश्चयात्मक 'एव' पदका अभिप्राय है।

समित्पाणिः समिद्भारगृहीतहस्तः श्रोत्रियमध्ययनश्रुतार्थसम्पन्नं ब्रह्मनिष्ठं हित्वा सर्वकर्माणि केवलेऽद्वये ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सोऽयं ब्रह्मनिष्ठो जपनिष्ठस्तपोनिष्ठ इति यद्वत्। न हि कर्मिणो ब्रह्मनिष्ठता सम्भवति

समित्पाणिः अर्थात् हाथमें समिधाओंका भार लेकर श्रोत्रिय यानी अध्ययन और श्रवण किये अर्थसे सम्पन्न तथा ब्रह्मनिष्ठ [गुरुके पास जाय]—सम्पूर्ण कर्मोंको त्यागकर जिसकी केवल अद्वितीय ब्रह्ममें ही निष्ठा है वह ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है; जपनिष्ठ तपोनिष्ठ आदिके समान ही यह 'ब्रह्मनिष्ठ' शब्द है। कर्मठ पुरुषको ब्रह्मनिष्ठा कभी नहीं हो सकती,

कर्मात्मज्ञानयोर्विरोधात् । स तं गुरुं विधिवदुपसन्नः प्रसाद्य पृच्छेदक्षरं पुरुषं सत्यम् ॥ १२ ॥

क्योंकि कर्म और आत्मज्ञानका परस्पर विरोध है। इस प्रकार उन गुरुदेवके पास विधिपूर्वक जाकर उन्हें प्रसन्न कर सत्य और अक्षर पुरुषके सम्बन्धमें पूछे ॥ १२ ॥

गुरुके लिये उपदेशप्रदानकी विधि

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ १३ ॥

वह विद्वान् गुरु अपने समीप आये हुए उस पूर्णतया शान्तचित्त एवं जितेन्द्रिय शिष्यको उस ब्रह्मविद्याका तत्त्वतः उपदेश करे जिससे उस सत्य और अक्षर पुरुषका ज्ञान होता है ॥ १३ ॥

तस्मै स विद्वान् गुरुर्ब्रह्मविद् उपसन्नायोपगताय सम्यग्यथाशास्त्रमित्येतत्, प्रशान्तचित्ताय उपरतदर्पादिदोषाय शमान्विताय बाह्येन्द्रियोपरमेण च युक्ताय सर्वतो विरक्तायेत्येतत् । येन विज्ञानेन यया विद्यया परयाक्षरमद्रेश्यादिविशेषणं तदेवाक्षरं पुरुषशब्दवाच्यं पूर्णत्वात् पुरि शयनाच्च सत्यं तदेव परमार्थस्वाभाव्यादक्षरं चाक्षरणादक्षतत्वादक्षयत्वाच्च वेद विजानाति तां ब्रह्मविद्यां तत्त्वतो यथावत्

वह विद्वान्—ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने समीप आये हुए उस सम्यक्—यथाशास्त्र प्रशान्तचित्त—गर्व आदि दोषोंसे रहित तथा शमसम्पन्न—बाह्य इन्द्रियोंकी उपरतिसे युक्त और सब ओरसे विरक्त हुए शिष्यको, जिस विज्ञान अथवा जिस परा विद्यासे उस अद्रेश्यादि विशेषणवाले तथा पूर्ण होने या शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण 'पुरुष' शब्दवाच्य अक्षरको, जो क्षरण (च्युत होना) क्षत (व्रण) और क्षय (नाश) से रहित होनेके कारण 'अक्षर' कहलाता है, जानता है उस ब्रह्मविद्याका

प्रोवाच प्रब्रूयादित्यर्थः । आचार्यस्याप्ययं नियमो यन्न्यायप्राप्तसच्छिष्यनिस्तारणमविद्यामहोदधेः ॥ १३ ॥	तत्त्वतः—यथावत् उपदेश करे—यह इसका भावार्थ है । आचार्यके लिये भी यही नियम है कि न्यायानुसार अपने समीप आये हुए सच्छिष्यको अविद्यामहासमुद्रसे पार कर दे ॥ १३ ॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

समाप्तमिदं प्रथमं मुण्डकम् ।

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

वक्ष्यमाणग्रन्थस्य प्रयोजनम् अपरविद्यायाः सर्वं कार्यमुक्तम् । स च संसारो यत्सारो यस्मान्मूलादक्षरात् सम्भवति यस्मिंश्च प्रलीयते तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यम् । यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति तत्परस्या ब्रह्मविद्याया विषयः स वक्तव्य इत्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते—	यहाँतक अपरा विद्याका सारा कार्य कहा । यही संसार है; उसका जो सार है, जिस अपने मूलभूत अक्षरसे वह उत्पन्न होता है और जिसमें उसका लय होता है वह पुरुषसंज्ञक अक्षर ब्रह्म ही सत्य है, जिसका ज्ञान होनेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है, वह परा विद्याका विषय है । उसे बतलाना है, इसीलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

अग्निसे स्फुलिङ्गोंके समान ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ १ ॥

वह यह (अक्षरब्रह्म) सत्य है । जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्निसे उसीके समान रूपवाले हजारों स्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) निकलते हैं, हे सोम्य ! उसी प्रकार उस अक्षरसे अनेकों भाव प्रकट होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं ॥ १ ॥

यदपरविद्याविषयं कर्मफललक्षणं सत्यं तदापेक्षिकम् । इदं तु परविद्याविषयं परमार्थसल्लक्षणत्वात् । तदेतत्सत्यं यथाभूतं विद्याविषयम्, अविद्याविषयत्वाच्चानृतमितरत् । अत्यन्तपरोक्षत्वात्कथं नाम प्रत्यक्षवत्सत्यमक्षरं प्रतिपद्येरन्निति दृष्टान्तमाह—

जो अपरा विद्याका विषय कर्मफलरूप सत्य है वह आपेक्षिक है; परन्तु यह परा विद्याका विषय परमार्थसत्स्वरूप होनेके कारण [निरपेक्ष सत्य है] । वह यह विद्याविषयक सत्य ही यथार्थ सत्य है; इससे इतर तो अविद्याका विषय होनेके कारण मिथ्या है । उस सत्य अक्षरको अत्यन्त परोक्ष होनेके कारण किस प्रकार प्रत्यक्षवत् जानें ? इसके लिये श्रुतिने यह दृष्टान्त दिया है—

यदा सुदीप्तात्सुष्ठु दीप्ताद् इद्धात्पावकादग्नेर्विस्फुलिङ्गा अग्न्यवयवाः सहस्रशोऽनेकशः प्रभवन्ते निर्गच्छन्ति सरूपा अग्निसलक्षणा एव तथोक्तलक्षणाद् अक्षराद्विविधा नानादेहोपाधि-

जिस प्रकार सुदीप्त—अच्छी तरह दीप्त अर्थात् प्रज्वलित हुए अग्निसे उसीके-से रूपवाले सहस्रों—अनेकों विस्फुलिङ्ग—अग्निके अवयव निकलते हैं उसी प्रकार हे सोम्य ! उक्त लक्षणवाले अक्षर-ब्रह्मसे विविध—अनेक देहरूप

भेदमनुविधीयमानत्वाद्विविधा हे सोम्य भावा जीवा आकाशादिव घटादिपरिच्छिन्नाः सुषिरभेदा घटाद्युपाधिप्रभेदमनुभवन्ति, एवं नानानामरूपकृतदेहोपाधिप्रभवमनुप्रजायन्ते तत्र चैव तस्मिन्नेवाक्षरेऽपि यन्ति देहोपाधिविलयमनुलीयन्ते घटादिविलयमन्विव सुषिरभेदाः।

यथाकाशस्य सुषिरभेदोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वं घटाद्युपाधिकृतमेव तद्वदक्षरस्यापि नामरूपकृतदेहोपाधिनिमित्तमेव जीवोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वम् ॥ १ ॥

उपाधिभेदके अनुसार विहित होनेके कारण अनेक प्रकारके भाव—जीव उस नाना नाम-रूपकृत देहोपाधिके जन्मके साथ उसी प्रकार उत्पन्न हो जाते हैं जैसे घटादि उपाधिभेदके अनुसार आकाशसे उन घटादिसे परिच्छिन्न बहुत-से छिद्र (घटाकाशादि)। तथा जिस प्रकार घटादिके नष्ट होनेपर वे [घटाकाशादि] छिद्र लीन हो जाते हैं उसी प्रकार देहरूप उपाधिके लीन होनेपर वे सब उस अक्षरमें ही लीन हो जाते हैं।

जिस प्रकार छिद्रभेदोंकी उत्पत्ति और प्रलयमें आकाशका निमित्तत्व घटादि उपाधिके ही कारण है उसी प्रकार जीवोंकी उत्पत्ति और प्रलयमें नामरूपकृत देहोपाधिके कारण ही अक्षरब्रह्मका निमित्तत्व है ॥ १ ॥

नामरूपबीजभूतादव्याकृताख्यात्स्वविकारापेक्षया परादक्षरात्परं यत्सर्वोपाधिभेदवर्जितमक्षरस्यैव स्वरूपमाकाशस्येव सर्वमूर्तिवर्जितं नेति नेतीत्यादिविशेषणं विवक्षन्नाह—

अपने विकारोंकी अपेक्षा महान् तथा नामरूपके बीजभूत अव्याकृत-संज्ञक अक्षरसे भी उत्कृष्ट जो अक्षर परमात्माका आकाशके समान सब प्रकारके आकारोंसे रहित 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंसे विशेषित एवं सम्पूर्ण औपाधिक भेदोंसे रहित स्वरूप है उसे बतलानेकी इच्छासे श्रुति कहती है—

ब्रह्मका पारमार्थिक स्वरूप

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ २ ॥

[वह अक्षरब्रह्म] निश्चय ही दिव्य, अमूर्त, पुरुष; बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवं श्रेष्ठ अक्षरसे भी उत्कृष्ट है ॥ २ ॥

दिव्यो द्योतनवान्स्वयंज्योतिष्ट्वात् । दिवि वा स्वात्मनि भवोऽलौकिको वा । हि यस्मादमूर्तः सर्वमूर्तिवर्जितः पुरुषः पूर्णः पुरिशयो वा, दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरः सह बाह्याभ्यन्तरेण वर्तत इति । अजो न जायते कुतश्चित्स्वतोऽन्यस्यजन्मनि मित्तस्य चाभावात्; यथा जलबुद्बुदादेर्वाय्वादि, यथा नभःसुषिरभेदानां घटादि । सर्वभावविकाराणां जनिमूलत्वात् तत्प्रतिषेधेन सर्वे प्रतिषिद्धा भवन्ति । सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽतोऽजरोऽमृतोऽक्षरो ध्रुवोऽभय इत्यर्थः ।

[वह अक्षरब्रह्म] स्वयंप्रकाश होनेके कारण दिव्य—प्रकाशित होनेवाला है, अथवा दिवि—अपने स्वरूपमें ही स्थित या अलौकिक है; क्योंकि वह अमूर्त—सब प्रकारके आकारसे रहित, पुरुष—पूर्ण अथवा शरीररूप पुरमें शयन करनेवाला, सबाह्याभ्यन्तर—बाहर और भीतरके सहित सर्वत्र वर्तमान और अज—जो किसीसे उत्पन्न न हो—ऐसा है; क्योंकि अपनेसे भिन्न कोई उसके जन्मका निमित्त है ही नहीं; जिस प्रकार कि जलसे उत्पन्न होनेवाले बुद्बुदोंका कारण वायु आदि है तथा घटाकाशादि भेदोंका हेतु घट आदि पदार्थ हैं [उसी प्रकार उस अजन्माके जन्मका कोई भी कारण नहीं है] । वस्तुके सारे विकारोंका मूल जन्म ही है; अतः उस (जन्म) का प्रतिषेध कर दिये जानेपर वे सभी प्रतिषिद्ध हो जाते हैं । क्योंकि वह परमात्मा सबाह्याभ्यन्तर अज है इसलिये वह अजर, अमर, अक्षर, ध्रुव और भयशून्य है—यह इसका तात्पर्य है ।

यद्यपि देहाद्युपाधिभेददृष्टीनामविद्यावशाद् देहभेदेषु सप्राणः समनाः सेन्द्रियः सविषय इव प्रत्यवभासते तलमलादिमदिव आकाशं तथापि तु स्वतः परमार्थदृष्टीनामप्राणोऽविद्यमानः क्रियाशक्तिभेदवांश्चलनात्मको वायुर्यस्मिन्नसावप्राणः। तथामना अनेकज्ञानशक्तिभेदवत्सङ्कल्पाद्यात्मकं मनोऽप्यविद्यमानं यस्मिन्सोऽयममनाः । अप्राणो ह्यमनाश्चेति प्राणादि वायुभेदाः कर्मेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च तथा च बुद्धिमनसी बुद्धीन्द्रियाणि तद्विषयाश्च प्रतिषिद्धा वेदितव्याः । तथा श्रुत्यन्तरे—"ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७) इति।

यस्माच्चैवं प्रतिषिद्धोपाधिद्वयः तस्माच्छुभ्रः शुद्धः । अतोऽक्षरान्नामरूपबीजोपाधिलक्षितस्वरूपात्सर्वकार्यकरणबीजत्वेनोप-

जिस प्रकार [दृष्टिदोषसे] आकाश तल-मलादियुक्त भासता है उसी प्रकार देहादि उपाधिभेदमें दृष्टि रखनेवालोंको यद्यपि विभिन्न देहोंमें [वह अक्षर ब्रह्म] प्राण, मन, इन्द्रिय एवं विषयसे युक्त-सा भासता है तो भी परमार्थस्वरूपदर्शियोंको तो वह अप्राण – जिसमें क्रियाशक्ति भेदवाला चलनात्मक वायु न रहता हो तथा अमना— जिसमें ज्ञानशक्तिके अनेकों भेदवाला सङ्कल्पादिरूप मन भी न हो, [इस प्रकार प्राण और मनसे रहित ही भासता है ।] 'अप्राणः' और 'अमनाः' इन दोनों विशेषणोंसे प्राणादि वायुभेद, कर्मेन्द्रियाँ और उनके विषय तथा बुद्धि, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषय प्रतिषिद्ध हुए समझने चाहिये; जैसा कि एक दूसरी श्रुति उसे 'मानो ध्यान करता हुआ-सा, मानो चेष्टा करता हुआ-सा'—ऐसा बतलाती है ।

इस प्रकार क्योंकि वह [प्राण और मन इन] दोनों उपाधियोंसे रहित है इसलिये वह शुभ्र—शुद्ध है । अतः नामरूपकी बीजभूत उपाधिसे जिसका स्वरूप लक्षित होता है उस अक्षरसे—सम्पूर्ण कार्य-करणके बीजरूपसे उपलक्षित

लक्ष्यमाणत्वात्परं तदुपाधिलक्षण-मव्याकृताख्यमक्षरं सर्वविकारेभ्यः तस्मात्परतोऽक्षरात्परो निरुपाधिकः पुरुष इत्यर्थः ।

होनेके कारण उन उपाधियोंवाला अव्याकृतसंज्ञक वह अक्षर अपने सम्पूर्ण विकारसे श्रेष्ठ है; उस सर्वोत्कृष्ट अक्षरसे भी वह निरुपाधिक पुरुष उत्कृष्ट है—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

यस्मिंस्तदाकाशाख्यमक्षरं संव्यवहारविषयमोतं प्रोतं च कथं पुनरप्राणादिमत्त्वं तस्येत्युच्यते । यदि हि प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुष इव स्वेनात्मना सन्ति तदा पुरुषस्य प्राणादिना विद्यमानेन प्राणादिमत्त्वं भवेन्न तु ते प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुष इव स्वेनात्मना सन्ति तदा, अतोऽप्राणादिमान्परः पुरुषः; यथानुत्पन्ने पुत्रेऽपुत्रो देवदत्तः ॥ २ ॥

किन्तु जिसमें सम्पूर्ण व्यवहार-का विषयभूत वह आकाशसंज्ञक अक्षरतत्त्व ओतप्रोत है वह प्राणादिसे रहित कैसे हो सकता है ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—यदि प्राणादि अपनी उत्पत्तिसे पूर्व भी पुरुषके समान स्वस्वरूपसे विद्यमान रहते तो उन विद्यमान प्राणादिके कारण पुरुषका प्राणादि-युक्त होना माना जा सकता था । किन्तु उस समय वे अपनी उत्पत्तिसे पूर्व पुरुषके समान स्वरूपतः हैं नहीं; इसलिये, जिस प्रकार पुत्र उत्पन्न न होनेतक देवदत्त पुत्रहीन कहा जाता है उसी प्रकार परम पुरुष भी अप्राणादिमान् है ॥ २ ॥

ब्रह्मका सर्वकारणत्व

कथं ते न सन्ति प्राणादय इत्युच्यते, यस्मात्—

वे प्राणादि उस अक्षरमें क्यों नहीं हैं ? सो बतलाते हैं—क्योंकि—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥

इस (अक्षर पुरुष) से ही प्राण उत्पन्न होता है तथा इससे ही

मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सारे संसारको धारण करनेवाली पृथिवी [उत्पन्न होती है] ॥ ३ ॥

एतस्मादेव पुरुषान्नामरूपबीजोपाधिलक्षिताज्जायत उत्पद्यतेऽविद्याविषयविकारभूतो नामधेयोऽनृतात्मकः प्राणः "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) "अनृतम्" इति श्रुत्यन्तरात् । न हि तेनाविद्याविषयेणानृतेन प्राणेन सप्राणत्वं परस्य स्यादपुत्रस्य स्वप्नदृष्टेनेव पुत्रेण सपुत्रत्वम् ।

एवं मनः सर्वाणि चेन्द्रियाणि विषयाश्चैतस्मादेव जायन्ते तस्मात्सिद्धमस्य निरुपचरितमप्राणादिमत्त्वमित्यर्थः । यथा च प्रागुत्पत्तेः परमार्थतोऽसन्तस्तथा प्रलीनाश्चेति द्रष्टव्याः । यथा करणानि मनश्चेन्द्रियाणि तथा शरीरविषयकारणानि भूतानि

नाम-रूपकी बीजभूत [अविद्यारूप] उपाधिसे उपलक्षित* इस पुरुषसे ही अविद्याका विषय विकारभूत केवल नाममात्र तथा मिथ्या प्राण उत्पन्न होता है; जैसा कि "विकार वाणीका विलास और नाममात्र है" "वह मिथ्या है" ऐसी अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है। उस अविद्याविषयक मिथ्या प्राणसे परब्रह्मका सप्राणत्व सिद्ध नहीं हो सकता, जैसे कि स्वप्नमें देखे हुए पुत्रसे पुत्रहीन व्यक्ति पुत्रवान् नहीं हो सकता ।

इस प्रकार मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और उनके विषय भी इसीसे उत्पन्न होते हैं । अतः उसका मुख्यरूपसे अप्राणादिमान् होना सिद्ध हुआ । वे जिस प्रकार अपनी उत्पत्तिसे पूर्व वस्तुतः असत् ही थे उसी प्रकार लीन होनेपर भी असत् ही रहते हैं—ऐसा समझना चाहिये । जिस प्रकार करण—मन और इन्द्रियाँ [इससे उत्पन्न होते हैं] उसी प्रकार शरीर और इन्द्रियोंके विषयोंके कारणस्वरूप भूतवर्ग

* निरुपाधिक विशुद्ध ब्रह्ममें किसी भी विकारकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है । इसलिये जब उससे किसीकी उत्पत्तिका प्रतिपादन किया जायगा तो उसमें अविद्या या मायाके सम्बन्धका आरोप करके ही किया जायगा ।

खमाकाशं वायुरन्तर्बाह्य आवहादिभेदः, ज्योतिरग्निः, आप उदकम्, पृथिवी धरित्री विश्वस्य सर्वस्य धारिणी एतानि च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोत्तरोत्तरगुणानि पूर्वपूर्वगुणसहितान्येतस्मादेव जायन्ते ॥ ३ ॥

आकाश, आवहादि भेदोंवाला बाह्य वायु, अग्नि, जल और विश्व यानी सबको धारण करनेवाली पृथिवी—ये पाँच भूत, जो पूर्व-पूर्व गुणके सहित उत्तरोत्तर क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन गुणोंसे युक्त हैं, उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

संक्षेपतः परविद्याविषयमक्षरं निर्विशेषं पुरुषं सत्यं दिव्यो ह्यमूर्त इत्यादिना मन्त्रेणोक्त्वा पुनस्तदेव सविशेषं विस्तरेण वक्तव्यमिति प्रववृते; संक्षेपविस्तरोक्तो हि पदार्थः सुखाधिगम्यो भवति सूत्रभाष्योक्तिवदिति । योऽपि प्रथमजात्प्राणाद्धिरण्यगर्भाज्जायतेऽण्डस्यान्तर्विराट् स तत्त्वान्तरितत्वेन लक्ष्यमाणोऽप्येतस्मादेव पुरुषाज्जायत एतन्मयश्चेत्येतदर्थमाह । तं च विशिनष्टि—

परविद्याके विषयभूत निर्विशेष सत्य पुरुषका 'दिव्यो ह्यमूर्तः' इत्यादि मन्त्रसे संक्षेपतः वर्णन कर अब उसी तत्त्वका सविशेषरूपसे विस्तारपूर्वक वर्णन करना है—इसीके लिये यह श्रुति प्रवृत्त होती है; क्योंकि सूत्र और उसके भाष्यके समान [पहले] संक्षेपमें और [फिर] विस्तारपूर्वक कहा हुआ पदार्थ सुगमतासे समझमें आ जाता है। जो ब्रह्माण्डान्तर्वर्ती विराट् प्रथम उत्पन्न हुए प्राण यानी हिरण्यगर्भसे उत्पन्न होता है वह अन्य तत्त्वरूपसे लक्षित कराया जानेपर भी इस पुरुषसे ही उत्पन्न होता है और पुरुषरूप ही है—यही बात यह मन्त्र बतलाता है और उसके विशेषणोंका उल्लेख करता है—

सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्मका विश्वरूप.

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥

अग्नि (द्युलोक) जिसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कर्ण हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, सारा विश्व जिसका हृदय है और जिसके चरणोंसे पृथिवी प्रकट हुई है वह देव सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

अग्निर्द्युलोकः "असौ वाव लोको गौतमाग्निः" (छा० उ० ५ । ४ । १) इति श्रुतेः, मूर्धा यस्योत्तमाङ्गं शिरः । चक्षुषी चन्द्रश्च सूर्यश्चेति चन्द्रसूर्यौ यस्येति सर्वत्रानुषङ्गः कर्तव्यः, अस्येत्यस्य पदस्य वक्ष्यमाणस्य यस्येति विपरिणामं कृत्वा । दिशः श्रोत्रे यस्य । वाग्विवृता उद्घाटिताः प्रसिद्धा वेदा यस्य । वायुः प्राणो यस्य । हृदयमन्तःकरणं विश्वं समस्तं जगदस्य यस्येत्येतत् । सर्वं ह्यन्तःकरणविकारमेव जगन्मनस्येव सुषुप्ते प्रलयदर्शनात् । जागरितेऽपि तत एवाग्निविस्फुलिङ्गवद्विप्रतिष्ठानात् । यस्य

अग्नि अर्थात् "हे गौतम ! यह [स्वर्ग] लोक ही अग्नि है" इस श्रुतिके अनुसार द्युलोक ही जिसका मूर्धा—उत्तमाङ्ग यानी शिर है, चन्द्र-सूर्य यानी चन्द्रमा और सूर्य ही नेत्र हैं। इस मन्त्रमें आगे कहे हुए 'अस्य' पदको 'यस्य' में परिणत कर उसकी सर्वत्र अनुवृत्ति करनी चाहिये। दिशाएँ जिसके कर्ण हैं, विवृत—उद्घाटित यानी प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी हैं, वायु जिसका प्राण है, विश्व—समस्त जगत् जिसका हृदय—अन्तःकरण है; सम्पूर्ण जगत् अन्तःकरणका ही विकार है, क्योंकि सुषुप्तिमें मनहीमें उसका प्रलय होता देखा जाता है और जाग्रत् अवस्थामें अग्निसे स्फुलिङ्गके समान उसे उसीसे निकलकर स्थित

-च पद्भ्यां जाता पृथिवी । एष देवो विष्णुरनन्तः प्रथमशरीरी त्रैलोक्यदेहोपाधिः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा ॥ ४ ॥

होता देखते हैं। तथा जिसके चरणोंसे पृथिवी उत्पन्न हुई है यह त्रैलोक्यदेहोपाधिक प्रथम शरीरी अनन्त देव विष्णु ही समस्त भूतोंका अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥



स हि सर्वभूतेषु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता सर्वकारणात्मा पञ्चाग्निद्वारेण च याः संसरन्ति प्रजास्ता अपि तस्मादेव पुरुषात्प्रजायन्त इत्युच्यते—

सबका कारणरूप वह परमात्मा ही समस्त प्राणियोंमें द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है तथा पञ्चाग्निके द्वारा* जो प्रजाएँ जन्म-मृत्युरूप संसारको प्राप्त होती हैं वे भी उस पुरुषसे ही उत्पन्न होती हैं—यह बात अगले मन्त्रसे बतलायी जाती है—

अक्षर पुरुषसे चराचरकी उत्पत्तिका क्रम

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः
सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायां
बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥ ५ ॥

उस पुरुषसे ही, सूर्य जिसका समिधा है वह अग्नि उत्पन्न हुआ है। [उस द्युलोकरूप अग्निसे निष्पन्न हुए] सोमसे मेघ और [मेघसे] पृथिवीतलमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। पुरुष स्त्रीमें [ओषधियोंसे उत्पन्न हुआ] वीर्य सींचता है; इस प्रकार पुरुषसे ही यह बहुत-सी प्रजा उत्पन्न हुई है ॥ ५ ॥

---

* स्वर्ग, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री—इन पाँचोंका छान्दोग्योपनिषद्के पञ्चम प्रपाठकके तृतीय खण्डमें पञ्चाग्निरूपसे वर्णन किया है ।

तस्मात्परस्मात्पुरुषात्प्रजावस्थानविशेषरूपोऽग्निः । स विशेष्यते; समिधो यस्य सूर्यः समिध इव समिधः । सूर्येण हि द्युलोकः समिध्यते । ततो हि द्युलोकाग्निनिष्पन्नात् सोमात्पर्जन्यो द्वितीयोऽग्निः सम्भवति । तस्माच्च पर्जन्याद् ओषधयः पृथिव्यां सम्भवन्ति । ओषधिभ्यः पुरुषाग्नौ हुताभ्य उपादानभूताभ्यः । पुमानग्नौ रेतः सिञ्चति योषितायां योषिति योषाग्नौ स्त्रियामिति । एवं क्रमेण बह्वीर्बह्व्यः प्रजा ब्राह्मणाद्याः पुरुषात्परस्मात्सम्प्रसूताः समुत्पन्नाः ॥ ५ ॥

उस परम पुरुषसे प्रजाका अवस्थाविशेषरूप अग्नि उत्पन्न हुआ । उसकी विशेषता बतलाते हैं—सूर्य जिसका समिधा (इन्धन) है—[अग्निहोत्रके] समिधाके समान ही समिधा है, क्योंकि सूर्यसे ही द्युलोक समिद्ध (प्रदीप्त) होता है । उस द्युलोकरूप अग्निसे निष्पन्न हुए सोमसे [पञ्चाग्नियोंमें] दूसरा अग्नि मेघ उत्पन्न होता है । फिर उस मेघसे पृथिवीतलमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं । पुरुषरूप अग्निमें हवन की हुई वीर्यकी कारणरूप ओषधियोंसे [वीर्य होता है] । उस वीर्यको पुरुषरूप अग्नि योषित्—योषिद्रूप अग्नि यानी स्त्रीमें सींचता है । इस क्रमसे यह ब्राह्मणादिरूप बहुत-सी प्रजा परम पुरुषसे ही उत्पन्न हुई है ॥ ५ ॥

कर्म और उनके साधन भी पुरुषप्रसूत ही हैं

किं च कर्मसाधनानि फलानि च तस्मादेवेत्याह; कथम् ?

यही नहीं, कर्मके साधन और फल भी उसीसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसा श्रुति कहती है—सो किस प्रकार ?

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥

उस पुरुषसे ही ऋचाएँ, साम, यजुः, दीक्षा, सम्पूर्ण यज्ञ, क्रतु,

दक्षिणा, संवत्सर, यजमान, लोक और जहाँतक चन्द्रमा पवित्र करता है तथा सूर्य तपता है वे लोक उत्पन्न हुए हैं ॥ ६ ॥

तस्मात्पुरुषादृचो नियताक्षरपादावसाना गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टा मन्त्राः। साम पाञ्चभक्तिकं च साप्तभक्तिकं च स्तोभादिगीतविशिष्टम्। यजूंषि अनियताक्षरपादावसानानि वाक्यरूपाण्येवं त्रिविधा मन्त्राः। दीक्षा मौञ्ज्यादिलक्षणा कर्तृनियमविशेषाः। यज्ञाश्च सर्वेऽग्निहोत्रादयः। क्रतवः सयूपाः। दक्षिणाश्चैकगवाद्यपरिमितसर्वस्वान्ताः। संवत्सरश्च कालः कर्माङ्गः। यजमानश्च कर्ता। लोकास्तस्य कर्मफलभूतास्ते विशेष्यन्ते; सोमो यत्र येषु लोकेषु पवते पुनाति लोकान्यत्र येषु

उस पुरुषसे ही ऋचाएँ—जिनके पाद नियत अक्षरोंमें समाप्त होनेवाले हैं वे गायत्री आदि छन्दोंवाले मन्त्र, साम—पाञ्चभक्तिक अथवा साप्तभक्तिक स्तोभादि* गानविशिष्ट मन्त्र तथा यजुः—जिनके पादोंका अन्त नियमित अक्षरोंमें नहीं होता ऐसे वाक्यरूप मन्त्र—इस प्रकार ये तीनों प्रकारके मन्त्र [उत्पन्न हुए हैं। तथा उसीसे] दीक्षा—मौञ्जी-बन्धन आदि यज्ञकर्ताके नियमविशेष, अग्निहोत्रादि सम्पूर्ण यज्ञ, क्रतु—यूपसहित यज्ञ, दक्षिणा—एक गौसे लेकर अपने अपरिमित सर्वस्वदानपर्यन्त, संवत्सर—कर्मका अङ्गभूत काल, यजमान—यज्ञकर्ता, तथा उसके कर्मके फलस्वरूप लोक उत्पन्न हुए हैं। उन लोकोंकी विशेषताएँ बतलाते हैं—जिन लोकोंमें चन्द्रमा लोकोंको पवित्र करता है और जिनमें सूर्य तपता रहता है वे विद्वान् और अविद्वान् कर्ताके

* जिस मन्त्रमें हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन—ये पाँच अवयव रहते हैं उसे 'पाञ्चभक्तिक' और जिसमें उपद्रव तथा आदि—ये दो अवयव और होते हैं उसे 'साप्तभक्तिक' कहते हैं। 'हुं फट्' आदि अर्थशून्य वर्णोंका नाम 'स्तोभ' है।

सूर्यस्तपति च ते च दक्षिणायनोत्तरायणमार्गद्वयगम्या विद्वदविद्वत्कर्तृफलभूताः ॥ ६ ॥

कर्मफलभूत दक्षिणायन-उत्तरायण इन दो मार्गसे प्राप्त होनेवाले लोक उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥



तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥

उससे ही [कर्मके अङ्गभूत] बहुत-से देवता उत्पन्न हुए। तथा साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, व्रीहि, यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि [ये सब भी उसीसे उत्पन्न हुए हैं] ॥ ७ ॥

तस्माच्च पुरुषात्कर्माङ्गभूता देवा बहुधा वस्वादिगणभेदेन सम्प्रसूताः सम्यक्प्रसूताः। साध्या देवविशेषाः। मनुष्याः कर्माधिकृताः। पशवो ग्राम्यारण्याः। वयांसि पक्षिणः। जीवनं च मनुष्यादीनां प्राणापानौ व्रीहियवौ हविरर्थौ। तपश्च कर्माङ्गं पुरुषसंस्कारलक्षणं स्वतन्त्रं च फलसाधनम्। श्रद्धा यत्पूर्वकः सर्वपुरुषार्थसाधनप्रयोगश्चित्तप्रसाद आस्तिक्यबुद्धिस्तथा सत्यमनृतवर्जनं यथाभूतार्थवचनं चापीडाकरम्। ब्रह्मचर्यं मैथुना-

उस पुरुषसे ही वसु आदि गणके भेदसे कर्मके अङ्गभूत बहुत-से देवता उत्पन्न हुए हैं। तथा साध्यगण देवताओंकी जातिविशेष, कर्मके अधिकारी मनुष्य, गाँव और जंगलमें रहनेवाले पशु, वयस्—पक्षी, मनुष्यके जीवनरूप प्राण-अपान (श्वासोच्छ्वास) हविके लिये व्रीहि और यव, पुरुषका संस्कार करनेवाला तथा स्वतन्त्रतासे फल देनेवाला कर्मका अङ्गभूत तप, श्रद्धा—जिसके कारण सम्पूर्ण पुरुषार्थसाधनोंका प्रयोग, चित्त-प्रसाद और आस्तिक्यबुद्धि होती है, तथा सत्य—मिथ्याका त्याग एवं यथार्थ और किसीको पीडा न देनेवाला वचन, ब्रह्मचर्य—मैथुन

समाचारः । विधिश्चेतिकर्तव्यता ॥ ७ ॥

न करना और ऐसा करना चाहिये—इस प्रकारकी विधि [ये सब भी उस पुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं] ॥७॥

इन्द्रिय, विषय और इन्द्रियस्थानादि भी ब्रह्मजनित ही हैं

किं च—

तथा—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्
सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा
गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥

उस पुरुषसे ही सात प्राण (मस्तकस्थ सात इन्द्रियाँ) उत्पन्न हुए हैं । उसीसे उनकी सात दीप्तियाँ, सात समिधा (विषय), सात होम (विषयज्ञान) और जिनमें वे सञ्चार करते हैं वे सात स्थान प्रकट हुए हैं । [इस प्रकार] प्रति देहमें स्थापित ये सात-सात पदार्थ [उस पुरुषसे ही हुए हैं] ॥ ८ ॥

सप्त शीर्षण्याः प्राणास्तस्मादेव पुरुषात्प्रभवन्ति । तेषां च सप्तार्चिषो दीप्तयः स्वविषयावद्योतनानि । तथा सप्तसमिधः सप्त विषयाः, विषयैर्हि समिध्यन्ते प्राणाः । सप्त होमास्तद्विषयविज्ञानानि "यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति" (महानारा० २५ । १) इति श्रुत्यन्तरात् ।

[दो नेत्र, दो श्रवण, दो घ्राण और एक रसना—ये] सात मस्तकस्थ प्राण उसी पुरुषसे उत्पन्न होते हैं । तथा अपने-अपने विषयोंको प्रकाशित करनेवाली उनकी सात दीप्तियाँ, सात समिध—उनके सात विषय, क्योंकि प्राण (इन्द्रियवर्ग) अपने विषयोंसे ही समिद्ध (प्रदीप्त) हुआ करते हैं । सात होम अर्थात् अपने विषयोंके विज्ञान, जैसा कि "इसका जो विज्ञान है उसीको हवन करता है" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है, [ये सब इस पुरुषसे ही प्रकट हुए हैं] ।

किं च सप्तेमे लोका इन्द्रियस्थानानि येषु चरन्ति सञ्चरन्ति प्राणाः। प्राणा येषु चरन्तीति प्राणानां विशेषणमिदं प्राणापानादिनिवृत्त्यर्थम्। गुहायां शरीरे हृदये वा स्वापकाले शेरत इति गुहाशयाः, निहिताः स्थापिता धात्रा सप्त सप्त प्रतिप्राणिभेदम्।

यानि चात्मयाजिनां विदुषां कर्माणि कर्मफलानि चाविदुषां च कर्माणि तत्साधनानि कर्मफलानि च सर्वं चैतत्परस्मादेव पुरुषात्सर्वज्ञात्प्रसूतमिति प्रकरणार्थः॥ ८॥

तथा ये सात लोक—इन्द्रियस्थान, जिनमें कि ये प्राण सञ्चार करते हैं। 'जिनमें प्राण सञ्चार करते हैं' यह प्राणोंका विशेषण [उनके प्रसिद्ध अर्थ] प्राणापानादिकी आशंका निवृत्त करनेके लिये है। जो सुषुप्ति-अवस्थामें गुहा—शरीर अथवा हृदयमें शयन करते हैं वे गुहाशय तथा विधाताद्वारा प्रत्येक प्राणीमें निहित—स्थापित ये सात-सात पदार्थ [इस पुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं]।

इस प्रकार जो भी आत्मयाजी विद्वानोंके कर्म और कर्मफल तथा अज्ञानियोंके कर्म, कर्मफल और उनके साधन हैं वे सब उस परम पुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं—यह इस प्रकरणका अर्थ है॥ ८॥

पर्वत, नदी और ओषधि आदिका ब्रह्मजन्यत्व

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-
ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च
येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥ ९॥

इसीसे समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं; इसीसे अनेक रूपोंवाली नदियाँ बहती हैं; इसीसे सम्पूर्ण ओषधियाँ और रस प्रकट हुए हैं, जिस (रस) से भूतोंसे परिवेष्टित हुआ यह अन्तरात्मा स्थित होता है॥ ९॥

अतः पुरुषात्समुद्राः सर्वे क्षाराद्याः, गिरयश्च हिमवदादयोऽस्मादेव पुरुषात्सर्वे । स्यन्दन्ते स्रवन्ति गङ्गाद्याः सिन्धवो नद्यः सर्वरूपा बहुरूपा अस्मादेव पुरुषात् सर्वा ओषधयो व्रीहियवाद्याः । रसश्च मधुरादिः षड्विधो येन रसेन भूतैः पञ्चभिः स्थूलैः परिवेष्टितस्तिष्ठते तिष्ठति ह्यन्तरात्मा लिङ्गं सूक्ष्मं शरीरम् । तद्ध्यन्तराले शरीरस्यात्मनश्चात्मवद्वर्तत इत्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥

इस पुरुषसे ही क्षारादि सात समुद्र और इसीसे हिमालय आदि समस्त पर्वत उत्पन्न हुए हैं । गङ्गा आदि अनेक रूपोंवाली नदियाँ भी इसीसे प्रवाहित होती हैं । इसी पुरुषसे व्रीहि, यव आदि सम्पूर्ण ओषधियाँ तथा मधुरादि छः प्रकारका रस उत्पन्न हुआ है, जिस रससे कि पाँच स्थूल भूतोंद्वारा परिवेष्टित हुआ अन्तरात्मा—लिंगदेह यानी सूक्ष्म शरीर स्थित रहता है । यह शरीर और आत्माके मध्यमें आत्माके समान स्थित है, इसलिये अन्तरात्मा कहलाता है ॥ ९ ॥

ब्रह्म और जगत्का अभेद तथा ब्रह्मज्ञानसे अविद्या-ग्रन्थिका नाश

एवं पुरुषात्सर्वमिदं सम्प्रसूतम् । अतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं पुरुष इत्येव सत्यम् । अतः—

इस प्रकार यह सब पुरुषसे ही उत्पन्न हुआ है; अतः विकार वाणीका आरम्भ और नाममात्रके लिये तथा मिथ्या ही है, केवल पुरुष ही सत्य है । इसलिये—

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद्यो वेद
निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥ १० ॥

यह सारा जगत्, कर्म और तप (ज्ञान) पुरुष ही है । वह पर और अमृतरूप ब्रह्म है । उसे जो सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित जानता है, हे सोम्य ! वह इस लोकमें अविद्याकी ग्रन्थिका छेदन कर देता है ॥ १० ॥

पुरुष एवेदं विश्वं सर्वम् । न विश्वं नाम पुरुषादन्यत्किञ्चिदस्ति । अतो यदुक्तं तदेवेदम्

पुरुष ही यह विश्व—सारा जगत् है; पुरुषसे भिन्न 'विश्व' कोई वस्तु नहीं है । अतः 'हे भगवन् !

अभिहितं 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति'। एतस्मिन्हि परस्मिन्नात्मनि सर्वकारणे पुरुषे विज्ञाते पुरुष एवेदं विश्वं नान्यदस्तीति विज्ञातं भवतीति।

किसको जान लेनेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है?' ऐसा जो प्रश्न किया गया था उसीका यहाँ उत्तर दिया गया है कि 'सबके कारणस्वरूप इस परमात्माको जान लेनेपर ही यह ज्ञान हो जाता है कि यह विश्व पुरुष ही है; उससे भिन्न नहीं है।'

किं पुनरिदं विश्वमित्युच्यते।

किन्तु यह विश्व है क्या? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—

कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम्। तपो ज्ञानं तत्कृतं फलमन्यदेतावद्धीदं सर्वम्। तच्चैतद्ब्रह्मणः कार्यम्। तस्मात्सर्वं ब्रह्म परामृतं परममृतम् अहमेवेति यो वेद निहितं स्थितं गुहायां हृदि सर्वप्राणिनां स एवं विज्ञानादविद्याग्रन्थिं ग्रन्थिमिव दृढीभूतामविद्यावासनां विकिरति विक्षिपति नाशयतीह जीवन्नेव न मृतः सन् हे सोम्य प्रियदर्शन १०

अग्निहोत्रादिरूप कर्म, तप यानी ज्ञान, उसका फल तथा इसी प्रकारका यह और सब भी [विश्व कहलाता है]। यह सब ब्रह्मका ही कार्य है। इसलिये यह सब पर अमृत ब्रह्म है और परामृत ब्रह्म मैं ही हूँ—ऐसा जो पुरुष सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित उस ब्रह्मको जानता है हे सोम्य—हे प्रियदर्शन! वह अपने ऐसे विज्ञानसे अविद्याग्रन्थिको यानी ग्रन्थि (गाँठ) के समान दृढ़ हुई अविद्याकी वासनाको इस लोकमें जीवित रहते ही काट डालता है—मरकर नहीं॥ १०॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके

प्रथमः खण्डः॥ १॥

द्वितीय खण्ड

ब्रह्मका स्वरूपनिर्देश तथा उसे जाननेके लिये आदेश

अरूपं सदक्षरं केन प्रकारेण विज्ञेयमित्युच्यते—

रूपहीन होनेपर भी उस अक्षरको किस प्रकार जानना चाहिये—यह बतलाया जाता है—

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥

यह ब्रह्म प्रकाशस्वरूप सबके हृदयमें स्थित, गुहाचर नामवाला और महत्पद है। इसीमें चलनेवाले, प्राणन करनेवाले और निमेषोन्मेष करनेवाले ये सब समर्पित हैं। तुम इसे सदसद्रूप, प्रार्थनीय, प्रजाओंके विज्ञानसे परे और सर्वोत्कृष्ट जानो ॥ १ ॥

आविः प्रकाशं संनिहितं वागाद्युपाधिभिर्ज्वलति भ्राजतीति श्रुत्यन्तराच्छब्दादीनुपलभमानवदवभासते। दर्शनश्रवणमननविज्ञानाद्युपाधिधर्मैराविर्भूतं सल्लक्ष्यते हृदि सर्वप्राणिनाम्। यदेतदाविर्ब्रह्म संनिहितं सम्यक् स्थितं हृदि तद्गुहाचरं नाम। गुहायां चरतीति दर्शनश्रवणा-

आविः—प्रकाशस्वरूप, संनिहित—समीपस्थित; वागादि उपाधियोंद्वारा प्रज्वलित होता है, प्रकाशित होता है—ऐसी एक अन्य श्रुतिके अनुसार वह शब्दादि विषयोंको उपलब्ध करता-सा जान पड़ता है अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान आदि उपाधिके धर्मोंसे आविर्भूत हुआ दिखायी देता है [अतः संनिहित है]। इस प्रकार जो प्रकाशमान ब्रह्म हृदयमें संनिहित—सम्यक् स्थित है वह गुहाचर—दर्शन-श्रवणादि

दिप्रकारैर्गुहाचरमिति प्रख्यातम् । महत्सर्वमहत्त्वात् । पदं पद्यते सर्वेणेति सर्वपदार्थास्पदत्वात् । कथं तन्महत्पदमित्युच्यते । यतोऽत्रास्मिन्ब्रह्मण्येतत्सर्वं समर्पितं प्रवेशितं रथनाभाविवाराः । एजच्चलत्पक्ष्यादि, प्राणत्प्राणितीति प्राणापानादिमन्मनुष्यपश्वादि, निमिषच्च यन्निमेषादिक्रियावद्यच्चानिमिषच्चशब्दात्समस्तमेतदत्रैव ब्रह्मणि समर्पितम् ।

एतद्यदास्पदं सर्वं जानथ हे शिष्या अवगच्छथ तदात्मभूतं भवतां सदसत्स्वरूपम् । सदसतोर्मूर्तामूर्तयोः स्थूलसूक्ष्मयोस्तद्व्यतिरेकेणाभावात् । वरेण्यं वरणीयं तदेव हि सर्वस्य नित्य-

प्रकारोंसे गुहा (बुद्धि) में सञ्चार करता है इसलिये गुहाचर नामसे विख्यात है । [वही महत्पद है] सबसे बड़ा होनेके कारण वह 'महत्' है और सबसे प्राप्त किया जाता है अथवा सारे पदार्थोंका आश्रय है, इसलिये 'पद' है ।

वह 'महत्पद' किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—क्योंकि इस ब्रह्ममें ही, रथकी नाभिमें अरोंके समान यह सब कुछ समर्पित अर्थात् भली प्रकार प्रवेशित है । एजत्—चलने-फिरनेवाले पक्षी आदि, प्राणत्—जो प्राणन करते हैं वे प्राणापानादिमान् मनुष्य और पशु आदि, निमिषत् च—जो निमेषादि क्रियावाले और च शब्दके सामर्थ्यसे जो निमेष नहीं करनेवाले हैं वे भी इस प्रकार ये सब इस ब्रह्ममें ही समर्पित हैं ।

हे शिष्यगण ! ये सब जिस [ब्रह्मरूप] आश्रयवाले हैं उसे तुम जानो—समझो; वह सदसत्स्वरूप तुम्हारा आत्मा है, क्योंकि उससे भिन्न कोई सत् या असत्—मूर्त्त या अमूर्त्त अर्थात् स्थूल या सूक्ष्म है ही नहीं । और वही नित्य होनेके कारण सबका वरेण्य—वरणीय—प्रार्थनीय

त्वात्प्रार्थनीयम् । परं व्यतिरिक्तं विज्ञानात्प्रजानामिति व्यवहितेन सम्बन्धः यल्लौकिकविज्ञानागोचरमित्यर्थः । यद्वरिष्ठं वरतमं सर्वपदार्थेषु वरेषु तद्ध्येकं ब्रह्मातिशयेन वरं सर्वदोषरहितत्वात् ॥ १ ॥

है । तथा प्रजाओंके विज्ञानसे परे यानी व्यतिरिक्त है—इस प्रकार इस [पर शब्द] का व्यवधानयुक्त [प्रजानाम्] पदसे सम्बन्ध है । तात्पर्य यह कि जो लौकिक विज्ञानका अविषय है, और वरिष्ठ यानी सम्पूर्ण श्रेष्ठ पदार्थोंमें श्रेष्ठतम है, क्योंकि सम्पूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण एक वह ब्रह्म ही अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

ब्रह्ममें मनोनिवेश करनेका विधान

किं च— | तथा—

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥ २ ॥

जो दीप्तिमान् और अणुसे भी अणु है तथा जिसमें सम्पूर्ण लोक और उनके निवासी स्थित हैं वही यह अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है तथा वही वाक् और मन है । वही यह सत्य और अमृत है । हे सोम्य ! उसका [मनोनिवेशद्वारा] वेधन करना चाहिये; तू उसका वेधन कर ॥२॥

यदर्चिमद्दीप्तिमत्, दीप्त्या ह्यादित्यादि दीप्यत इति दीप्तिमद्ब्रह्म । किं च यदणुभ्यः श्यामाकादिभ्योऽप्यणु च सूक्ष्मम् । चशब्दात्स्थूलेभ्योऽप्यतिशयेन स्थूलं पृथिव्यादिभ्यः । यस्मिंल्लोका भूरादयो निहिताः स्थिताः, ये

जो अर्चिमत् यानी दीप्तिमान् है; ब्रह्मकी दीप्तिसे ही सूर्य आदि देदीप्यमान होते हैं, इसलिये ब्रह्म दीप्तिमान् है । और जो श्यामाक आदि अणुओंसे भी अणु—सूक्ष्म है । 'च' शब्दसे यह समझना चाहिये कि जो पृथिवी आदि स्थूल पदार्थोंसे भी अत्यन्त स्थूल है ।

च लोकिनो लोकनिवासिनो मनुष्यादयश्चैतन्याश्रया हि सर्वे प्रसिद्धाः। तदेतत्सर्वाश्रयमक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनो वाक्च मनश्च सर्वाणि च करणानि तदन्तश्चैतन्यं चैतन्याश्रयो हि प्राणेन्द्रियादिसर्वसंघातः "प्राणस्य प्राणम्" (बृ० उ० ४ । ४ । १८) इति श्रुत्यन्तरात् ।

जिसमें भूर्लोक आदि सम्पूर्ण लोक तथा उन लोकोंके निवासी मनुष्यादि स्थित हैं, क्योंकि सारे पदार्थ चैतन्यके ही आश्रित प्रसिद्ध हैं, वही सबका आश्रयभूत यह अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है तथा वही वाणी और मन आदि समस्त इन्द्रियवर्ग है; उन सभीमें चैतन्य ओतप्रोत है, क्योंकि प्राण और इन्द्रिय आदिका सारा संघात चैतन्यके ही आश्रित है, जैसा कि "वह प्राणका प्राण है" इत्यादि एक अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

यत्प्राणादीनामन्तश्चैतन्यमक्षरं तदेतत्सत्यमवितथमतोऽमृतमविनाशि तद्वेद्धव्यं मनसा ताडयितव्यम् । तस्मिन्मनःसमाधानं कर्तव्यमित्यर्थः । यस्मादेवं हे सोम्य विद्ध्यक्षरे चेतः समाधत्स्व ॥ २ ॥

[इस प्रकार] प्राणादिके भीतर रहनेवाला जो अक्षर चैतन्य है वही यह सत्य यानी अवितथ है; अतः वह अमृत—अविनाशी है । उसका वेधन यानी मनसे ताडन करना चाहिये । अर्थात् उसमें मनको समाहित करना चाहिये । हे सोम्य ! क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये तू वेधन कर यानी अपने चित्तको उस अक्षरमें लगा दे ॥२॥

ब्रह्मवेधनकी विधि

कथं वेद्धव्यमित्युच्यते—

उसका किस प्रकार वेधन करना चाहिये, सो बतलाया जाता है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ ३ ॥

हे सोम्य ! उपनिषद्वेद्य महान् अस्त्ररूप धनुष् लेकर उसपर उपासनाद्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ा; और फिर उसे खींचकर ब्रह्म-भावानुगत चित्तसे उस अक्षररूप लक्ष्यका ही वेधन कर ॥ ३ ॥

धनुरिष्वासनं गृहीत्वादायौपनिषदमुपनिषत्सु भवं प्रसिद्धं महास्त्रं महच्च तदस्त्रं च महास्त्रं धनुस्तस्मिन्शरम्; किंविशिष्टम् इत्याह—उपासानिशितं सन्तताभिध्यानेन तनूकृतं संस्कृतमित्येतत्, सन्धयीत सन्धानं कुर्यात् । सन्धाय चायम्याकृष्य सेन्द्रियम् अन्तःकरणं स्वविषयाद्विनिवर्त्य लक्ष्य एवावर्जितं कृत्वेत्यर्थः । न हि हस्तेनेव धनुष आयमनमिह सम्भवति । तद्भावगतेन तस्मिन् ब्रह्मण्यक्षरे लक्ष्ये भावना भावः तद्गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेव यथोक्तलक्षणमक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

औपनिषद—उपनिषदोंमें वर्णित यानी उपनिषत्प्रसिद्ध महास्त्र—महान् अस्त्ररूप धनुष्—शरासन लेकर उसपर बाण चढ़ावे—किस प्रकारका बाण चढ़ावे ? इसपर कहते हैं—उपासनासे निशित यानी निरन्तर ध्यान करनेसे पैनाया हुआ—संस्कार किया हुआ बाण चढ़ावे । फिर बाण चढ़ानेके अनन्तर उसे खींचकर अर्थात् इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणको उनके विषयोंसे हटा अपने लक्ष्यमें ही जोड़कर—क्योंकि इस धनुषको हाथसे धनुष चढ़ानेके समान नहीं खींचा जा सकता—तद्भावगत अर्थात् अपने लक्ष्य उस अक्षरब्रह्ममें जो भावना है उस भावमें गये हुए चित्तसे हे सोम्य ! ऊपर कहे हुए लक्षणोंवाले अपने उसी लक्ष्य अक्षर-ब्रह्मका वेधन कर ॥ ३ ॥

वेधनके लिये ग्रहण किये जानेवाले धनुषादिका स्पष्टीकरण

यदुक्तं धनुरादि तदुच्यते—

ऊपर जो धनुष आदि बतलाये गये हैं उनका उल्लेख किया जाता है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४ ॥

प्रणव धनुष है, [सोपाधिक] आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है । उसका सावधानतापूर्वक वेधन करना चाहिये और बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रणव ओङ्कारो धनुः । यथेष्वासनं लक्ष्ये शरस्य प्रवेशकारणं तथात्मशरस्याक्षरे लक्ष्ये प्रवेशकारणमोङ्कारः प्रणवेन ह्यभ्यस्यमानेन संस्क्रियमाणस्तदालम्बनोऽप्रतिबन्धेनाक्षरेऽवतिष्ठते; यथा धनुरास्त इषुर्लक्ष्ये । अतः प्रणवो धनुरिव धनुः । शरो ह्यात्मोपाधिलक्षणः पर एव जले सूर्यादिवदिह प्रविष्टो देहे सर्वबौद्धप्रत्ययसाक्षितया । स शर इव स्वात्मन्येवार्पितोऽक्षरे ब्रह्मण्यतो ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । लक्ष्य इव मनःसमाधित्सुभिः आत्मभावेन लक्ष्यमाणत्वात् ।

प्रणव यानी ओङ्कार धनुष है । जिस प्रकार शरासन (धनुष) लक्ष्यमें बाणके प्रवेश कर जानेका साधन है उसी प्रकार [सोपाधिक] आत्मारूप बाणके अपने लक्ष्य अक्षरमें प्रवेश करनेका कारण ओङ्कार है । अभ्यास किये हुए प्रणवके द्वारा ही संस्कृत होकर वह उसके आश्रयसे बिना किसी बाधाके अक्षरब्रह्ममें इस प्रकार स्थित होता है, जैसे धनुषसे छोड़ा हुआ बाण अपने लक्ष्यमें । अतः धनुषके समान होनेसे प्रणव ही धनुष है । तथा आत्मा ही बाण है, जो कि जलमें प्रतिबिम्बित हुए सूर्य आदिके समान इस शरीरमें सम्पूर्ण बौद्ध प्रतीतियोंके साक्षीरूपसे प्रविष्ट हो रहा है । वह बाणके समान अपने ही आत्मा (स्वरूपभूत) अक्षरब्रह्ममें अनुप्रविष्ट हो रहा है । इसलिये ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है, क्योंकि मनको समाहित करनेकी इच्छावाले पुरुषोंको वही आत्मभावसे लक्षित होता है ।

तत्रैवं सत्यप्रमत्तेन बाह्यविषयोपलब्धितृष्णाप्रमादवर्जितेन सर्वतो विरक्तेन जितेन्द्रियेणैकाग्रचित्तेन वेद्धव्यं ब्रह्म लक्ष्यम्। ततस्तद्वेधनादूर्ध्वं शरवत्तन्मयो भवेत्। यथा शरस्य लक्ष्यैकात्मत्वं फलं भवति तथा देहाद्यात्मप्रत्ययतिरस्करणेनाक्षरैकात्मत्वं फलमापादयेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

अतः ऐसा होनेके अनन्तर अप्रमत्त—बाह्य विषयोंकी उपलब्धिकी तृष्णारूप प्रमादसे रहित होकर अर्थात् सब ओरसे विरक्त यानी जितेन्द्रिय होकर एकाग्रचित्तसे ब्रह्मरूप अपने लक्ष्यका वेधन करना चाहिये। और फिर उसका वेधन करनेके अनन्तर बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार बाणका अपने लक्ष्यसे एकरूप हो जाना ही फल है उसी प्रकार देहादिमें आत्मत्वकी प्रतीतिका तिरस्कार कर उस अक्षरब्रह्मसे एकात्मत्वरूप फल प्राप्त करे ॥ ४ ॥

आत्मसाक्षात्कारके लिये पुनः विधि

अक्षरस्यैव दुर्लक्ष्यत्वात्पुनः पुनर्वचनं सुलक्षणार्थम्—

कठिनतासे लक्षित होनेवाला होनेके कारण उस अक्षरका ही, भली प्रकार लक्ष्य करानेके लिये बार-बार वर्णन किया जाता है—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष-
मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥

जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण प्राणोंके सहित मन ओतप्रोत है उस एक आत्माको ही जानो, और सब बातोंको छोड़ दो; यही अमृत (मोक्षप्राप्ति) का सेतु (साधन) है ॥ ५ ॥

यस्मिन्नक्षरे पुरुषे द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षं चोतं समर्पितं मनश्च सह प्राणैः करणैरन्यैः सर्वैस्तमेव सर्वाश्रयमेकमद्वितीयं जानथ जानीत हे शिष्याः । आत्मानं प्रत्यक्स्वरूपं युष्माकं सर्वप्राणिनां च ज्ञात्वा चान्या वाचोऽपरविद्यारूपा विमुञ्चथ विमुञ्चत परित्यजत तत्प्रकाश्यं च सर्वं कर्म ससाधनम्; यतोऽमृतस्यैष सेतुरेतदात्मज्ञानममृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसारमहोदधेः उत्तरणहेतुत्वात्तथा च श्रुत्यन्तरं "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे० उ० ३ । ८, ६ । १५) इति ॥ ५ ॥

हे शिष्यगण ! जिस अक्षर पुरुषमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और प्राणों यानी अन्य समस्त इन्द्रियोंके सहित मन ओत—समर्पित है उस एक—अद्वितीय आत्माको ही जानो; तथा इस प्रकार आत्माको अपने और समस्त प्राणियोंके प्रत्यक्स्वरूपको जानकर अपरविद्यारूप अन्य वाणीको तथा उससे प्रकाशित होनेवाले समस्त कर्मको उसके साधनसहित छोड़ दो—उसका सब प्रकार त्याग कर दो, क्योंकि यह अमृतका सेतु है—यह आत्मज्ञान संसार-महासागरको पार करनेका साधन होनेके कारण अमृत—अमरत्व यानी मोक्षकी प्राप्तिके लिये [नदीके पार जानेके साधनभूत] सेतुके समान सेतु है। जैसा कि—"उसीको जानकर पुरुष मृत्युको पार कर जाता है, उसकी प्राप्तिका [इसके सिवा] और कोई मार्ग नहीं है" इत्यादि एक अन्य श्रुति भी कहती है ॥ ५ ॥

ओङ्काररूपसे ब्रह्मचिन्तनकी विधि

किं च— | तथा—

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥

रथचक्रकी नाभिमें जिस प्रकार अरे लगे होते हैं उसी प्रकार जिसमें सम्पूर्ण नाडियाँ एकत्रित होती हैं उस (हृदय) के भीतर यह अनेक प्रकारसे उत्पन्न हुआ सञ्चार करता है। उस आत्माका 'ॐ' इस प्रकार ध्यान करो। अज्ञानके उस पार गमन करनेमें तुम्हारा कल्याण हो [अर्थात् तुम्हें किसी प्रकारका विघ्न प्राप्त न हो] ॥ ६ ॥

अरा इव, यथा रथनाभौ समर्पिता अरा एवं संहताः सम्प्रविष्टा यत्र यस्मिन्हृदये सर्वतो देहव्यापिन्यो नाड्यस्तस्मिन्हृदये बुद्धिप्रत्ययसाक्षिभूतः स एष प्रकृत आत्मान्तर्मध्ये चरते चरति वर्तते; पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्बहुधानेकधा क्रोधहर्षादिप्रत्ययैर्जायमान इव जायमानोऽन्तःकरणोपाध्यनुविधायित्वाद्वदन्ति लौकिका हृष्टो जातः क्रुद्धो जात इति। तमात्मानम् ओमित्येवमोङ्कारालम्बनाः सन्तो यथोक्तकल्पनया ध्यायथ चिन्तयत।

अरोंके समान अर्थात् जिस प्रकार रथकी नाभिमें अरे समर्पित रहते हैं उसी प्रकार शरीरमें सर्वत्र व्याप्त नाडियाँ जिस हृदयमें संहत अर्थात् प्रविष्ट हैं उसके भीतर यह बौद्ध प्रतीतियोंका साक्षीभूत और जिसका प्रकरण चल रहा है वह आत्मा देखता, सुनता, मनन करता और जानता हुआ अन्तःकरणरूप उपाधिका अनुकरण करनेवाला होनेसे उसके हर्ष-क्रोधादि प्रत्ययोंसे मानो [नवीन-नवीनरूपसे] उत्पन्न होता हुआ मध्यमें सञ्चार करता—वर्तमान रहता है। इसीसे लौकिक पुरुष 'वह हर्षित हुआ, वह क्रोधित हुआ' ऐसा कहा करते हैं। उस आत्माको 'ॐ' इस प्रकार अर्थात् उपर्युक्त कल्पनासे ओङ्कारको आलम्बन बनाकर ध्यान यानी चिन्तन करो।

उक्तं वक्तव्यं च शिष्येभ्य आचार्येण जानता। शिष्याश्च ब्रह्मविद्याविविदिषुत्वान्निवृत्त-

विद्वान् आचार्यको शिष्योंसे जो कुछ कहना था वह कह दिया। इससे ब्रह्मविद्याके जिज्ञासु

कर्माणो मोक्षपथे प्रवृत्ताः । तेषां निर्विघ्नतया ब्रह्मप्राप्तिमाशास्त्याचार्यः । स्वस्ति निर्विघ्नमस्तु वो युष्माकं पाराय परकूलाय । परस्तात्कस्मादविद्यातमसः । अविद्यारहितब्रह्मात्मस्वरूपगमनायेत्यर्थः ॥ ६ ॥

होनेके कारण शिष्यगण भी सब कर्मोंसे उपरत होकर मोक्षमार्गमें जुट गये । अतः आचार्य उन्हें निर्विघ्नतापूर्वक ब्रह्मप्राप्तिका आशीर्वाद देते हैं—'पार अर्थात् पर तीरपर जानेके लिये तुम्हें स्वस्ति—निर्विघ्नता प्राप्त हो ।' किसके पार जानेके लिये ? अविद्यारूप अन्धकारके पार जानेके लिये अर्थात् अविद्यारहित ब्रह्मात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये ॥ ६ ॥

अपर ब्रह्मका वर्णन तथा उसके चिन्तनका प्रकार

योऽसौ तमसः परस्तात्संसारमहोदधिं तीर्त्वा गन्तव्यः परविद्याविषय इति स कस्मिन्वर्तत इत्याह—

यह जो अज्ञानान्धकारके परे संसारमहासागरको पार करके जाने योग्य परविद्याका प्रदेश है वह किसमें वर्तमान है ? इसपर कहते हैं—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥

जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है और जिसकी यह महिमा भूर्लोकमें स्थित है वह यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर आकाश (हृदयाकाश) में स्थित है । वह मनोमय तथा प्राण और [सूक्ष्म] शरीरको [एक देहसे दूसरे देहमें] ले जानेवाला पुरुष हृदयको आश्रित कर अन्न (अन्नमय देह) में

स्थित है। उसका विज्ञान (अनुभव) होनेपर ही विवेकी पुरुष, जो आनन्दस्वरूप अमृत ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है, उसका सम्यक् साक्षात्कार करते हैं ॥ ७ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्व्याख्यातः तं पुनर्विशिनष्टि; यस्यैष प्रसिद्धो महिमा विभूतिः। कोऽसौ महिमा? यस्येमे द्यावापृथिव्यौ शासने विधृते तिष्ठतः सूर्याचन्द्रमसौ यस्य शासनेऽलातचक्रवदजस्रं भ्रमतः। यस्य शासने सरितः सागराश्च स्वगोचरं नातिक्रामन्ति। तथा स्थावरं जङ्गमं च यस्य शासने नियतम्। तथा चर्तवोऽयनेऽब्दाश्च यस्य शासनं नातिक्रामन्ति। तथा कर्तारः कर्माणि फलं च यच्छासनात्स्वं स्वं कालं नातिवर्तन्ते स एष महिमा भुवि लोके यस्य स एष सर्वज्ञः एवंमहिमा देवो दिव्ये द्योतनवति सर्वबौद्धप्रत्ययकृतद्योतने ब्रह्मपुरे, ब्रह्मणोऽत्र चैतन्यस्वरूपेण

'जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है' इसकी व्याख्या पहले (मु० १ । १ । ९ में) की जा चुकी है। उसीके फिर और विशेषण बतलाते हैं—जिसकी यह प्रसिद्ध महिमा यानी विभूति है; वह महिमा क्या है? ये द्युलोक और पृथिवी जिसके शासनमें धारण किये हुए (यानी स्थिरतापूर्वक) स्थित हैं, जिसके शासनमें सूर्य और चन्द्रमा अलातचक्रके समान निरन्तर घूमते रहते हैं, जिसके शासनमें नदियाँ और समुद्र अपने स्थानका अतिक्रमण नहीं करते, इसी प्रकार स्थावरजङ्गम जगत् जिसके शासनमें नियमित रहता है; तथा ऋतु, अयन और वर्ष—ये भी जिसके शासनका उल्लङ्घन नहीं करते एवं कर्ता, कर्म और फल जिसके शासनसे अपने-अपने कालका अतिक्रमण नहीं करते—ऐसी यह महिमा संसारमें जिसकी है वह ऐसी महिमावाला सर्वज्ञ देव दिव्य—द्युतिमान् यानी समस्त बौद्ध प्रत्ययोंसे होनेवाले प्रकाशयुक्त ब्रह्मपुरमें—क्योंकि चैतन्यस्वरूपसे इस (हृदयकमलस्थित

नित्याभिव्यक्तत्वाद्ब्रह्मणः पुरं हृदयपुण्डरीकं तस्मिन्यद्व्योम तस्मिन्व्योम्न्याकाशे हृत्पुण्डरीकमध्यस्थे, प्रतिष्ठित इवोपलभ्यते। न ह्याकाशवत्सर्वगतस्य गतिरागतिः प्रतिष्ठा वान्यथा सम्भवति।

आकाश) में ब्रह्मकी सर्वदा अभिव्यक्ति होती है इसलिये हृदयकमल ब्रह्मपुर है, उसमें जो आकाश है उस हृदयपुण्डरीकान्तर्गत आकाशमें प्रतिष्ठित (स्थित) हुआ-सा उपलब्ध होता है। इसके सिवा आकाशवत् सर्वव्यापक ब्रह्मका जाना-आना अथवा स्थित होना और किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

स ह्यात्मा तत्रस्थो मनोवृत्तिभिरेव विभाव्यत इति मनोमयो मनउपाधित्वात्प्राणशरीरनेता प्राणश्च शरीरं च प्राणशरीरं तस्यायं नेता स्थूलाच्छरीराच्छरीरान्तरं प्रति। प्रतिष्ठितोऽवस्थितोऽन्ने भुज्यमानान्नविपरिणामे प्रतिदिनमुपचीयमानेऽपचीयमाने च पिण्डरूपान्ने हृदयं बुद्धिं पुण्डरीकच्छिद्रे संनिधाय समवस्थाप्य। हृदयावस्थानमेव ह्यात्मनः स्थितिर्न ह्यात्मनः स्थितिरन्ने।

वहाँ (हृदयाकाशमें) स्थित वही आत्मा मनोवृत्तिसे ही अनुभव किया जाता है, इसलिये मनरूप उपाधिवाला होनेसे वह मनोमय है। तथा प्राणशरीरनेता—प्राण और शरीरका नाम प्राणशरीर है, उसे यह एक स्थूल शरीरसे दूसरे शरीरमें ले जानेवाला है। यह हृदय अर्थात् बुद्धिको उसके पुण्डरीकाकाशमें आश्रित कर अन्न यानी खाये हुए अन्नके परिणामरूप और निरन्तर बढ़ने-घटनेवाले पिण्डरूप अन्न (अन्नमय देह) में स्थित है, क्योंकि हृदयमें स्थित होना ही आत्माकी स्थिति है, अन्यथा अन्नमें आत्माकी स्थिति नहीं है।

तदात्मतत्त्वं विज्ञानेन विशिष्टेन शास्त्राचार्योपदेशजनि-

धीर—विवेकी पुरुष शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे प्राप्त तथा

तेन ज्ञानेन शमदमध्यानसर्वत्यागवैराग्योद्भूतेन परिपश्यन्ति सर्वतः पूर्णं पश्यन्त्युपलभन्ते धीरा विवेकिन आनन्दरूपं सर्वानर्थदुःखायासप्रहीणममृतं यद्विभाति विशेषेण स्वात्मन्येव भाति सर्वदा ॥ ७ ॥

शम, दम, ध्यान, सर्वत्याग एवं वैराग्यसे उत्पन्न हुए विशेष ज्ञानद्वारा उस आत्मतत्त्वको सर्वत्र परिपूर्ण देखते यानी अनुभव करते हैं, जो आनन्दस्वरूप—सम्पूर्ण अनर्थ, दुःख और आयाससे रहित, सुखस्वरूप एवं अमृतमय सर्वदा अपने अन्तःकरणमें ही विशेषरूपसे भास रहा है ॥ ७ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कारका फल

अस्य परमात्मज्ञानस्य फलमिदमभिधीयते—

इस परमात्मज्ञानका यह फल बतलाया जाता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥

उस परावर (कारणकार्यरूप) ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेनेपर इस जीवकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥ ८ ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिरविद्यावासनाप्रचयो बुद्ध्याश्रयः कामः "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" (क० उ० २ । ३ । १४, बृ० उ० ४ । ४ । ७) इति श्रुत्यन्तरात् । हृदयाश्रयोऽसौ नात्माश्रयः भिद्यते भेदं विनाशमायाति ।

"इसके हृदयमें जो कामनाएँ आश्रित हैं" इत्यादि अन्य श्रुतिके अनुसार 'हृदयग्रन्थि' बुद्धिमें स्थित अविद्यावासनामय कामको कहते हैं । यह हृदयके ही आश्रित रहनेवाली है आत्माके आश्रित नहीं । [उस आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर यह] भेद अर्थात् नाशको प्राप्त हो जाती है । तथा लौकिक पुरुषोंके ज्ञेय पदार्थ-

छिद्यन्ते सर्वज्ञेयविषयाः संशया लौकिकानामामरणात्तु गङ्गास्रोतोवत्प्रवृत्ता विच्छेदमायान्ति। अस्य विच्छिन्नसंशयस्य निवृत्ताविद्यस्य यानि विज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तनानि जन्मान्तरे चाप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तिसहभावीनि च क्षीयन्ते कर्माणि। न त्वेतज्जन्मारम्भकाणि प्रवृत्तफलत्वात्। तस्मिन्सर्वज्ञेऽसंसारिणि परावरे परं च कारणात्मनावरं च कार्यात्मना तस्मिन्परावरे साक्षादहमस्मीति दृष्टे संसारकारणोच्छेदान्मुच्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

विषयक सम्पूर्ण सन्देह, जो उनके मरणपर्यन्त गङ्गाप्रवाहवत् प्रवृत्त होते रहते हैं, विच्छिन्न हो जाते हैं। जिसके संशय नष्ट हो गये हैं और जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है ऐसे इस पुरुषके जो विज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व जन्मान्तरमें किये हुए कर्म फलोन्मुख नहीं हुए हैं और जो ज्ञानोत्पत्तिके साथ-साथ किये जाते हैं; वे सभी नष्ट हो जाते हैं; किन्तु इस (वर्तमान) जन्मको आरम्भ करनेवाले कर्म क्षीण नहीं होते, क्योंकि उनका फल देना आरम्भ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उस सर्वज्ञ असंसारी परावर—कारणरूपसे पर और कार्यरूपसे अवर ऐसे उस परावरके 'यह साक्षात् मैं ही हूँ' इस प्रकार देख लिये जानेपर संसारके कारणका उच्छेद हो जानेसे यह पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

उक्तस्यैवार्थस्य सङ्क्षेपाभिधायका उत्तरे मन्त्रास्त्रयोऽपि—

आगेके तीन मन्त्र भी पूर्वोक्त अर्थको ही संक्षेपसे बतलानेवाले हैं—

ज्योतिर्मय ब्रह्म

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ९ ॥

वह निर्मल और कलाहीन ब्रह्म हिरण्मय (ज्योतिर्मय) परम कोशमें विद्यमान है । वह शुद्ध और सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पदार्थोंकी ज्योति है और वह है जिसे कि आत्मज्ञानी पुरुष जानते हैं ॥ ९ ॥

हिरण्मये ज्योतिर्मये बुद्धिविज्ञानप्रकाशे परे कोशे कोश इवासेः, आत्मस्वरूपोपलब्धिस्थानत्वात्; परं तत्सर्वाभ्यन्तरत्वात् तस्मिन् विरजमविद्याद्यशेषदोषरजोमलवर्जितं ब्रह्म सर्वमहत्त्वात् सर्वात्मत्वाच्च । निष्कलं निर्गताः कला यस्मात्तन्निष्कलं निरवयवम् इत्यर्थः ।

हिरण्मय—ज्योतिर्मय अर्थात् बुद्धिवृत्तिके प्रकाशरूप परमकोशमें, जो आत्मस्वरूपकी उपलब्धिका स्थान होनेके कारण तलवारके कोश (म्यान) के समान है और सबसे भीतरी होनेके कारण श्रेष्ठ है, उसमें विरज—अविद्यादि सम्पूर्ण दोषरूप मलसे रहित ब्रह्म विराजमान है, जो सबसे बड़ा तथा सर्वरूप होनेके कारण ब्रह्म है । वह निष्कल है; जिससे सब कलाएँ निकल गयी हों उसे निष्कल कहते हैं अर्थात् वह निरवयव है ।

यस्माद्विरजं निष्कलं चातस्तच्छुभ्रं शुद्धं ज्योतिषां सर्वप्रकाशात्मनामग्न्यादीनामपि तज्ज्योतिरवभासकम् । अग्न्यादीनाम् अपि ज्योतिष्ट्वमन्तर्गतब्रह्मात्मचैतन्यज्योतिर्निमित्तमित्यर्थः । तद्धि परं ज्योतिर्यदन्यानवभास्यम् आत्मज्योतिस्तद्यदात्मविद आत्मानं स्वं शब्दादिविषयबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणं ये विवेकिनो विदुर्विजानन्ति त आत्मविद्-

क्योंकि ब्रह्म विरज और निष्कल है इसलिये वह शुभ्र यानी शुद्ध और ज्योतियों—अग्नि आदि सम्पूर्ण प्रकाशमय पदार्थोंका भी ज्योतिः—प्रकाशक है । तात्पर्य यह है कि अग्नि आदिका ज्योतिर्मयत्व भी अपने अन्तर्वर्ती ब्रह्मात्मचैतन्यरूप ज्योतिके ही कारण है । जो किसी अन्यसे प्रकाशित न होनेवाला आत्मज्योति है वही परम ज्योति है, जिसे कि आत्मवेत्ता—जो विवेकी पुरुष आत्मा अर्थात् अपनेको शब्दादि विषय और बुद्धिप्रत्ययोंका साक्षी जानते हैं

स्तद्विदुरात्मप्रत्ययानुसारिणः । यस्मात्परं ज्योतिस्तस्मात्त एव तद्विदुर्नेतरे बाह्यार्थप्रत्ययानुसारिणः ॥ ९ ॥

वे आत्मानुभवका अनुसरण करनेवाले आत्मज्ञानी पुरुष जानते हैं। क्योंकि वह परम ज्योति है इसलिये उसे वे ही जानते हैं; दूसरे बाह्य प्रतीतियोंका अनुसरण करनेवाले पुरुष नहीं जानते ॥ ९ ॥

कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्युच्यते—

वह ज्योतियोंका ज्योति किस प्रकार है ? सो बतलाया जाता है—

ब्रह्मका सर्वप्रकाशकत्व

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥

वहाँ (उस आत्मस्वरूप ब्रह्ममें) न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा या तारे। वहाँ यह बिजली भी नहीं चमकती फिर यह अग्नि किस गिनतीमें है ? उसके प्रकाशित होनेसे ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसीके प्रकाशसे प्रकाशमान है ॥ १० ॥

न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति । तद्ब्रह्म न प्रकाशयति इत्यर्थः । स हि तस्यैव भासा सर्वमन्यदनात्मजातं प्रकाशयति इत्यर्थः । न तु तस्य स्वतः प्रकाशनसामर्थ्यम् । तथा न

वहाँ—अपने आत्मस्वरूप ब्रह्ममें सबको प्रकाशित करनेवाला सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता अर्थात् वह भी उस ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करता। वह (सूर्य) तो उस (ब्रह्म) के प्रकाशसे ही अन्य सब अनात्मपदार्थोंको प्रकाशित करता है, उसमें स्वतः प्रकाश करनेका सामर्थ्य है ही

चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निरस्मद्गोचरः । किं बहुना; यदिदं जगद्भाति तत्तमेव परमेश्वरं स्वतो भारूपत्वाद्भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते । यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनुदहति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि जगद्विभाति । यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च कार्यगतेन विविधेन भासातस्तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते । न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्नोति । घटादीनामन्यावभासकत्वादर्शनाद्भारूपाणां चादित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥१०॥

नहीं । इसी प्रकार वहाँ न तो चन्द्रमा या तारे ही प्रकाशित होते हैं और न यह बिजली ही; फिर हमें साक्षात् दिखलायी देनेवाला यह अग्नि तो हो ही कैसे सकता है;

अधिक क्या ? यह जो जगत् भासता है वह स्वयं प्रकाशरूप होनेके कारण उस परमेश्वरके प्रकाशित होनेपर उसीके पीछे प्रकाशित — देदीप्यमान हो रहा है । जिस प्रकार अग्निके संयोगसे जल और उल्मुक (अंगारा) आदि अग्निके प्रज्वलित होनेपर उसके कारण जलाने लगते हैं—स्वतः नहीं जलाते उसी प्रकार यह सूर्य आदि सम्पूर्ण जगत् उस (परब्रह्म) के प्रकाश—तेजसे ही प्रकाशित होता है ।

क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये वह ब्रह्म ही कार्यगत विविध प्रकाशसे विशेषरूपसे प्रकाशित हो रहा है । इससे उस ब्रह्मकी प्रकाशरूपता स्वतः ज्ञात हो जाती है । जिसमें स्वयं प्रकाश नहीं है वह दूसरेको भी प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि घटादि पदार्थोंमें दूसरोंको प्रकाशित करना नहीं देखा जाता तथा प्रकाशस्वरूप सूर्य आदिमें वह देखा जाता है ॥ १० ॥

यत्तज्ज्योतिषां ज्योतिर्ब्रह्म तदेव सत्यं सर्वं तद्विकारं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमात्रमनृतमितरदित्येतमर्थं विस्तरेण हेतुतः प्रतिपादितं निगमनस्थानीयेन मन्त्रेण पुनरुपसंहरति।

जो ब्रह्म ज्योतियोंका ज्योति है, वही सत्य है तथा सब कुछ उसीका विकार है जो विकार केवल वाणीका आरम्भ और नाममात्र है अतः अन्य सभी मिथ्या है—ऊपर विस्तार और हेतुपूर्वक कहे हुए इस अर्थका इस निगमनस्थानीय मन्त्रसे पुनः उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मका सर्वव्यापकत्व

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११ ॥

यह अमृत ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं-बायीं ओर है तथा ब्रह्म ही नीचे-ऊपर फैला हुआ है। यह सारा जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥

ब्रह्मैवोक्तलक्षणमिदं यत्पुरस्तादग्रे ब्रह्मैवाविद्यादृष्टीनां प्रत्यवभासमानं तथा पश्चाद्ब्रह्म तथा दक्षिणतश्च तथोत्तरेण तथैवाधस्तादूर्ध्वं च सर्वतोऽन्यदिव कार्याकारेण प्रसृतं प्रगतं नामरूपवदवभासमानम्। किं बहुना ब्रह्मैव इदं विश्वं समस्तमिदं जगद्वरिष्ठं वरतमम्। अब्रह्मप्रत्ययः सर्वो-

यह जो अविद्यामयी दृष्टिवालोंको सामने दिखायी दे रहा है वह उपर्युक्त लक्षणोंवाला ब्रह्म ही है। इसी प्रकार पीछे भी ब्रह्म है, दायीं और बायीं ओर भी ब्रह्म है तथा नीचे-ऊपर सभी ओर कार्यरूपसे नामरूपविशिष्ट होकर फैला हुआ वह ब्रह्म ही अन्य पदार्थोंके समान भास रहा है। अधिक क्या? यह विश्व अर्थात् सारा जगत् श्रेष्ठतम ब्रह्म ही है। यह सम्पूर्ण अब्रह्मरूप प्रतीति रज्जुमें सर्पप्रतीतिके समान

ऽविद्यामात्रो रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययः । ब्रह्मैवैकं परमार्थसत्यमिति वेदानुशासनम् ॥११॥

अविद्यामात्र ही है । एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है—यह वेदका उपदेश है ॥११॥



इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके

द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

समाप्तमिदं द्वितीयं मुण्डकम् ॥ २ ॥

तृतीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

प्रकारान्तरसे ब्रह्मनिरूपण

परा विद्योक्ता यया तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यमधिगम्यते । यदधिगमे हृदयग्रन्थ्यादिसंसारकारणस्यात्यन्तिकविनाशः स्यात् । तद्दर्शनोपायश्च योगो धनुराद्युपादानकल्पनयोक्तः । अथेदानीं तत्सहकारीणि सत्यादिसाधनानि वक्तव्यानीति तदर्थमुत्तरारम्भः । प्राधान्येन तत्त्वनिर्धारणं च प्रकारान्तरेण क्रियते अत्यन्त-

जिससे उस अक्षर पुरुषसंज्ञक सत्यका ज्ञान होता है उस परा विद्याका वर्णन किया गया, जिसका ज्ञान होनेपर हृदयग्रन्थि आदि संसारके कारणका आत्यन्तिक नाश हो जाता है। तथा धनुर्ग्रहण आदिकी कल्पनासे उसके साक्षात्कारके उपाय योगका भी उल्लेख किया गया। अब उसके सहकारी सत्यादि साधनोंका वर्णन करना है; इसीके लिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। यद्यपि ऊपर तत्त्वका निश्चय किया जा चुका है तो भी अत्यन्त दुर्बोध होनेके

दुरवगाह्यत्वात्कृतमपि । तत्र सूत्रभूतो मन्त्रः परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्यते—

कारण उसका प्रधानतासे दूसरी तरह फिर निश्चय किया जाता है । अतः परमार्थवस्तुको समझनेके लिये पहले इस सूत्रभूत मन्त्रका उपन्यास (उल्लेख) करते हैं—

समान वृक्षपर रहनेवाले दो पक्षी

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥

साथ-साथ रहनेवाले तथा समान आख्यानवाले दो पक्षी एक ही वृक्षका आश्रय करके रहते हैं । उनमें एक तो स्वादिष्ट (मधुर) पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है ॥ १ ॥

द्वा द्वौ सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद्वा सुपर्णौ सयुजा सयुजौ सहैव सर्वदा युक्तौ सखाया सखायौ समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकारणावेवंभूतौ सन्तौ समानमविशेषमुपलब्ध्यधिष्ठानतयैकं वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदनसामान्याच्छरीरं

[जीव और ईश्वररूप] दो सुपर्ण—सुन्दर पर्णवाले अर्थात् [नियम्य-नियामकभावकी प्राप्तिरूप] शोभन पतनवाले* अथवा पक्षियोंके समान [वृक्षपर निवास तथा फलभोग करनेवाले] होनेसे सुपर्ण—पक्षी तथा सयुज—सर्वदा साथ-साथ ही रहनेवाले और सखा यानी समान आख्यानवाले अर्थात् जिनकी अभिव्यक्तिका कारण समान है ऐसे दो सुपर्ण समान—सामान्यरूपसे [दोनोंकी] उपलब्धिका कारण होनेसे एक ही वृक्ष—वृक्षके समान उच्छेदमें समानता होनेके कारण शरीररूप

* ईश्वर सर्वज्ञ होनेके कारण नियामक है तथा जीव अल्पज्ञ होनेसे नियम्य है । इसलिये उनमें नियम्य-नियामकभावकी प्राप्ति उचित ही है ।

वृक्षं परिषस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ सुपर्णाविवैकं वृक्षं फलोपभोगार्थम् ।

अयं हि वृक्ष ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्तमूलप्रभवः क्षेत्रसंज्ञकः सर्वप्राणिकर्मफलाश्रयस्तं परिष्वक्तौ सुपर्णाविवाविद्याकामकर्मवासनाश्रयलिङ्गोपाध्यात्मेश्वरौ । तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो लिङ्गोपाधिवृक्षमाश्रितः पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं स्वाद्वनेकविचित्रवेदनास्वादरूपं स्वाद्वत्ति भक्षयत्युपभुङ्क्तेऽविवेकतः । अनश्नन्नन्य इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्त्वोपाधिरीश्वरो नाश्नाति । प्रेरयिता ह्यसावुभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण । स त्वनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति

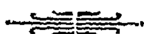
वृक्षपर आलिङ्गन किये हुए हैं, अर्थात् फलोपभोगके लिये पक्षियोंके समान एक ही वृक्षपर निवास करते हैं ।

अव्यक्तरूप मूलसे उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण प्राणियोंके कर्मफलका आश्रयभूत यह क्षेत्रसंज्ञक अश्वत्थवृक्ष ऊपरको मूल और नीचेकी ओर शाखाओंवाला है । उस वृक्षपर अविद्या, काम, कर्म और वासनाके आश्रयभूत लिङ्गदेहरूप उपाधिवाले जीव और ईश्वर दो पक्षियोंके समान आलिङ्गन किये निवास करते हैं । इस प्रकार आलिङ्गन करके रहनेवाले उन दोनोंमेंसे एक—लिङ्गोपाधिरूप वृक्षको आश्रित करनेवाले क्षेत्रज्ञ पिप्पल यानी अपने कर्मसे प्राप्त होनेवाला सुख-दुःखरूप फल, जो अनेक प्रकारसे विचित्र अनुभवरूप स्वादके कारण स्वादु है, खाता—भक्षण करता यानी अविवेकवश भोगता है । किन्तु अन्य — दूसरा, जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप सर्वज्ञ मायोपाधिक ईश्वर है, उसे ग्रहण न करता हुआ नहीं भोगता । यह तो साक्षित्वरूप सत्तामात्रसे भोक्ता और भोग्य दोनोंका प्रेरक ही है । अतः वह दूसरा तो फल-भोग न करके

पश्यत्येव केवलम् । दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं राजवत् ॥१॥	केवल देखता ही है—उसका प्रेरकत्व तो राजाके समान केवल दर्शनमात्र ही है ॥ १ ॥

ईश्वरदर्शनसे जीवकी शोकनिवृत्ति

तत्रैवं सति—	अतः ऐसा होनेसे—



समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥

[ईश्वरके साथ] एक ही वृक्षपर रहनेवाला जीव अपने दीन-स्वभावके कारण मोहित होकर शोक करता है । वह जिस समय [ध्यानद्वारा] अपनेसे विलक्षण योगिसेवित ईश्वर और उसकी महिमा [संसार] को देखता है उस समय शोकरहित हो जाता है ॥ २ ॥

समाने वृक्षे यथोक्ते शरीरे पुरुषो भोक्ता जीवोऽविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तो-ऽलाबुरिव सामुद्रे जले निमग्नो निश्चयेन देहात्मभावमापन्नोऽयमेवाहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता कृशः स्थूलो गुणवान्निर्गुणः सुखी दुःखीत्येवंप्रत्ययो नास्त्यन्यो-	समान वृक्षपर यानी पूर्वोक्त शरीरमें अविद्या, कामना, कर्मफल और रागादिके भारी भारसे आक्रान्त होकर समुद्रके जलमें डूबे हुए तूँबेके समान निमग्न—निश्चयपूर्वक देहात्मभावको प्राप्त हुआ यह भोक्ता जीव 'मैं यही हूँ', 'मैं अमुकका पुत्र हूँ', 'इसका नाती हूँ', 'कृश हूँ', 'स्थूल हूँ', 'गुणवान् हूँ', 'गुणहीन हूँ', 'सुखी हूँ', 'दुःखी हूँ' इत्यादि प्रकारके प्रत्ययोंवाला होनेसे तथा 'इस देहसे भिन्न और कुछ नहीं है'

ऽस्मादिति जायते म्रियते संयुज्यते वियुज्यते च सम्बन्धिबान्धवैः ।

अतोऽनीशया न कस्यचित् समर्थोऽहं पुत्रो मम विनष्टो मृता मे भार्या किं मे जीवितेनेत्येवं दीनभावोऽनीशा तया शोचति सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया चिन्तामापद्यमानः ।

स एवं प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वाजवं जवीभावमापन्नः कदाचिदनेकजन्मसु शुद्धधर्मसञ्चितनिमित्ततः केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गोऽहिंसासत्यब्रह्मचर्यसर्वत्यागशमदमादिसम्पन्नः समाहितात्मा सन् जुष्टं सेवितमनेकैर्योगमार्गैः कर्मभिश्च यदा यस्मिन्काले पश्यति ध्यायमानोऽन्यं वृक्षोपाधिलक्षणाद्विलक्षणमीशमसंसारिणमशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्यवतीतमीशं सर्वस्य जगतो-

ऐसा समझनेके कारण उत्पन्न होता, मरता एवं अपने सम्बन्धियोंसे मिलता और बिछुड़ता रहता है ।

अतः अनीशावश—'मैं किसी कार्यके लिये समर्थ नहीं हूँ, मेरा पुत्र नष्ट हो गया और स्त्री भी मर गयी, अब मेरे जीवनसे क्या लाभ है ?'—इस प्रकारके दीनभावको अनीशा कहते हैं, उससे युक्त होकर अविवेकवश अनेकों अनर्थमय प्रकारोंसे मोहित अर्थात् आन्तरिक चिन्ताको प्राप्त हुआ वह शोक यानी सन्ताप करता रहता है ।

इस प्रकार प्रेत, तिर्यक् और मनुष्यादि योनियोंमें निरन्तर लघुताको प्राप्त हुआ वह जिस समय अनेकों जन्मोंमें कभी अपने शुद्ध धर्मके सञ्चयके कारण किसी परम कारुणिक गुरुके द्वारा योगमार्ग दिखलाये जानेपर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, सर्वत्याग और शम-दमादिसे सम्पन्न तथा समाहितचित्त होकर ध्यान करनेपर अनेकों योगमार्गों और कर्मोंद्वारा सेवित अन्य—वृक्षरूप उपाधिसे विलक्षण ईश्वर यानी भूख, प्यास, शोक, मोह और जरा-मृत्यु आदिसे अतीत संसारधर्मशून्य सम्पूर्ण जगत्के स्वामीको 'मैं यह

ऽयमहमस्म्यात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतस्थो नेतरोऽविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मेति विभूतिं महिमानं च जगद्रूपमस्यैव मम परमेश्वरस्येति यदैवं द्रष्टा तदा वीतशोको भवति सर्वस्माच्छोकसागराद्विप्रमुच्यते कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सबके लिये समान आत्मा ही हूँ, अविद्याजनित उपाधिसे परिच्छिन्न दूसरा मायात्मा नहीं हूँ' इस प्रकार देखता है तथा उसकी महिमा यानी जगत्‌रूप विभूतिको 'यह इस परमेश्वरस्वरूप मेरी ही है' इस प्रकार [जानता है] उस समय वह शोकरहित हो जाता है—सम्पूर्ण शोकसागरसे मुक्त हो जाता है अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है ॥२॥

अन्योऽपि मन्त्र इममेवार्थमाह सविस्तरम्—

दूसरा मन्त्र भी इसी बातको विस्तारपूर्वक बतलाता है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥

जिस समय द्रष्टा सुवर्णवर्ण और ब्रह्माके भी उत्पत्तिस्थान उस जगत्कर्ता ईश्वर पुरुषको देखता है उस समय वह विद्वान् पाप-पुण्य दोनोंको त्यागकर निर्मल हो अत्यन्त समताको प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

यदा यस्मिन्काले पश्यः पश्यतीति विद्वान्साधक इत्यर्थः । पश्यते पश्यति पूर्ववद्रुक्मवर्णं स्वयंज्योतिःस्वभावं रुक्मस्येव वा ज्योतिरस्याविनाशि कर्तारं सर्वस्य जगत ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं

जिस समय देखनेवाला होनेके कारण पश्य—द्रष्टा विद्वान् अर्थात् साधक रुक्मवर्ण—स्वयंप्रकाशस्वरूप अथवा सुवर्णके समान जिसका प्रकाश अविनाशी है उस सकलजगत्कर्ता ईश्वर पुरुष ब्रह्मयोनि-

ब्रह्म च तद्योनिश्चासौ ब्रह्मयोनिस्तं ब्रह्मयोनिं ब्रह्मणो वापरस्य योनिं स यदा चैवं पश्यति तदा स विद्वान्पश्यः पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणी समूले विधूय निरस्य दग्ध्वा निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः परमं प्रकृष्टं निरतिशयं साम्यं समतामद्वयलक्षणं द्वैतविषयाणि साम्यान्यतोऽर्वाञ्च्येवातोऽद्वयलक्षणमेतत्परमं साम्यमुपैति प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

को—जो ब्रह्म है और योनि भी है अथवा जो अपर ब्रह्म (ब्रह्मा) की योनि है उस ब्रह्मयोनिको इस प्रकार पूर्ववत् देखता है उस समय वह विद्वान् द्रष्टा पुण्य-पाप यानी अपने बन्धनभूत कर्मोंको समूल त्यागकर—भस्म करके निरञ्जन—निर्लेप अर्थात् क्लेशरहित होकर अद्वयरूप परम—उत्कृष्ट यानी निरतिशय समताको प्राप्त हो जाता है । द्वैतविषयक समता इस अद्वैतरूप साम्यसे निकृष्ट ही है; अतः वह अद्वैतरूप परम साम्यको प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

श्रेष्ठतम ब्रह्मज्ञ

किं च— | तथा—

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

यह, जो सम्पूर्ण भूतोंके रूपमें भासमान हो रहा है प्राण है। इसे जानकर विद्वान् अतिवादी नहीं होता । यह आत्मामें क्रीडा करनेवाला और आत्मामें ही रमण करनेवाला क्रियावान् पुरुष ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठतम है ॥ ४ ॥

योऽयं प्राणस्य प्राणः पर ईश्वरो ह्येष प्रकृतः सर्वैर्भूतैर्ब्रह्मा-

यह जो प्राणका प्राण परमेश्वर है वह प्रकृत [परमात्मा] ही

दिस्तम्बपर्यन्तैः, इत्थंभूतलक्षणे तृतीया, सर्वभूतस्थः सर्वात्मा सन्नित्यर्थः; विभाति विविधं दीप्यते । एवं सर्वभूतस्थं यः साक्षादात्मभावेनायमहमस्मीति विजानन्विद्वान्वाक्यार्थज्ञानमात्रेण स भवते भवति न भवतीत्येतत् किमतिवाद्यतीत्य सर्वानन्यान् वदितुं शीलमस्येत्यतिवादी ।

यस्त्वेवं साक्षादात्मानं प्राणस्य प्राणं विद्वानतिवादी स न भवतीत्यर्थः । सर्वं यदात्मैव नान्यदस्तीति दृष्टं तदा किं ह्यसावतीत्य वदेत् । यस्य त्वपर-

सम्पूर्ण भूतों—ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त प्राणियोंके द्वारा अर्थात् सर्वभूतस्थ सर्वात्मा होकर विभासित यानी विविध प्रकारसे देदीप्यमान हो रहा है । 'सर्वभूतैः' इस पदमें इत्थंभूतलक्षणा तृतीया* है । इस प्रकार जो विद्वान् उस सर्वभूतस्थ प्राणको 'मैं यही हूँ' ऐसा साक्षात् आत्म-स्वरूपसे जाननेवाला है वह उस वाक्यके अर्थज्ञानमात्रसे भी नहीं होता । क्या नहीं होता ? [इसपर कहते हैं—] अतिवादी नहीं होता । जिसका स्वभाव और सबका अतिक्रमण करके बोलनेका होता है उसे अतिवादी कहते हैं ।

तात्पर्य यह कि जो इस प्रकार प्राणके प्राण साक्षात् आत्माको जाननेवाला है वह अतिवादी नहीं होता । जब कि उसने यह देखा है कि सब आत्मा ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है तब वह किसका अतिक्रमण करके बोलेगा ?

* इत्थंभूतलक्षणे (२ । ३ । २१) इस पाणिनिसूत्रसे यहाँ तृतीया विभक्ति हुई है । किसी प्रकारकी विशेषताको प्राप्त हुई वस्तुको जो लक्षित कराता है वह 'इत्थंभूतलक्षण' कहलाता है; उसमें तृतीया विभक्ति होती है । जैसे 'जटाभिस्तापसः' (जटाओंसे तपस्वी है) इस वाक्यमें जटाओंके द्वारा तपस्वी होना लक्षित होता है; अतः 'जटा' में तृतीया विभक्ति है । इसी प्रकार 'सर्वभूत' शब्दसे ईश्वरका सब भूतोंमें स्थित होना लक्षित होता है ।

मन्यद् दृष्टमस्ति स तदतीत्य वदति । अयं तु विद्वानात्मनोऽन्यन्न पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति । अतो नातिवदति ।

जिसकी दृष्टिमें कुछ और दीखनेवाला पदार्थ है वही उसका अतिक्रमण करके बोलता है । किन्तु यह विद्वान् तो आत्मासे भिन्न न कुछ देखता है, न सुनता है और न कुछ जानता ही है । इसलिये यह अतिवादन भी नहीं करता ।

किं चात्मक्रीड आत्मन्येव च क्रीडा क्रीडनं यस्य नान्यत्र पुत्रदारादिषु स आत्मक्रीडः । तथात्मरतिरात्मन्येव च रती रमणं प्रीतिर्यस्य स आत्मरतिः । क्रीडा बाह्यसाधनसापेक्षा, रतिस्तु साधननिरपेक्षा बाह्यविषयप्रीतिमात्रमिति विशेषः । तथा क्रियावाञ्ज्ञानध्यानवैराग्यादिक्रिया यस्य सोऽयं क्रियावान् । समासपाठ आत्मरतिरेव क्रियास्य विद्यत इति बहुव्रीहिमतुबर्थयोरन्यतरोऽतिरिच्यते ।

यही नहीं, वह [आत्मक्रीड, आत्मरति और क्रियावान् हो जाता है ।] आत्मक्रीड—जिसकी आत्मामें ही क्रीडा हो, अन्य स्त्री-पुत्रादिमें न हो उसे आत्मक्रीड कहते हैं; तथा जिसकी आत्मामें ही रति—रमण यानी प्रीति हो वह आत्मरति कहलाता है । क्रीडा बाह्य साधनकी अपेक्षा रखनेवाली होती है और रति साधनकी अपेक्षा न करके बाह्य विषयकी प्रीतिमात्रको कहते हैं—यही इन दोनोंमें विशेषता (अन्तर) है । तथा क्रियावान् अर्थात् जिसकी ज्ञान, ध्यान एवं वैराग्यादि क्रियाएँ हों उसे क्रियावान् कहते हैं । किन्तु ['आत्मरतिक्रियावान्' ऐसा] समासयुक्त पाठ होनेपर 'आत्मरति ही जिसकी क्रिया है' [ऐसा अर्थ होनेसे] बहुव्रीहि समास और 'मतुप्' प्रत्ययका अर्थ—इन दोनोंमेंसे एक (मतुप्-प्रत्ययका अर्थ) अधिक हो जाता है ।

समुच्चयवादिमत-खण्डनम्

केचित्त्वग्निहोत्रादिकर्मब्रह्मविद्ययोः समुच्चयार्थमिच्छन्ति । तच्चैष ब्रह्मविदां वरिष्ठ इत्यनेन मुख्यार्थवचनेन विरुध्यते । न हि बाह्यक्रियावानात्मक्रीड आत्मरतिश्च भवितुं शक्तः, कश्चिद्बाह्यक्रियाविनिवृत्तो ह्यात्मक्रीडो भवति बाह्यक्रियात्मक्रीडयोर्विरोधात् । न हि तमःप्रकाशयोर्युगपदेकत्र स्थितिः संभवति ।

तस्मादसत्प्रलपितमेवैतदनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिपादनम् । "अन्या वाचो विमुञ्चथ" (मु० उ० २ । २ । ५) "संन्यासयोगात्" (मु० उ० ३ । २ । ६) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । तस्मादयमेवेह क्रियावान्यो ज्ञानध्यानादिक्रियावानसंभिन्नार्यमर्यादः संन्यासी । य एवंलक्षणो नातिवाद्यात्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्ब्रह्मनिष्ठः स ब्रह्मविदां सर्वेषां वरिष्ठः प्रधानः ॥ ४ ॥

कोई-कोई (समुच्चयवादी) तो [आत्मरति और क्रियावान् इन दोनों विशेषणोंको] अग्निहोत्रादि कर्म और ब्रह्मविद्याके समुच्चयके लिये समझते हैं। किन्तु उनका यह अभिप्राय 'ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इस मुख्यार्थवाची कथनसे विरुद्ध है। बाह्यक्रियावान् पुरुष आत्मक्रीड और आत्मरति हो ही नहीं सकता। कोई भी पुरुष बाह्यक्रियासे निवृत्त होकर ही आत्मक्रीड हो सकता है, क्योंकि बाह्यक्रिया और आत्मक्रीडाका परस्पर विरोध है। अन्धकार और प्रकाशकी एक स्थानपर एक ही समय स्थिति हो ही नहीं सकती।

अतः इस वचनके द्वारा यह ज्ञान और कर्मके समुच्चयका प्रतिपादन मिथ्या प्रलाप ही है। यही बात "अन्या वाचो विमुञ्चथ" "संन्यासयोगात्" इत्यादि श्रुतियोंसे भी सिद्ध होती है। अतएव इस जगह उसीको 'क्रियावान्' कहा है जो ज्ञान-ध्यानादि क्रियाओंवाला और आर्यमर्यादाका भङ्ग न करनेवाला संन्यासी है। जो ऐसे लक्षणोंवाला अनतिवादी, आत्मक्रीड, आत्मरति और क्रियावान् ब्रह्मनिष्ठ है वही समस्त ब्रह्मवेत्ताओंमें वरिष्ठ यानी प्रधान है ॥ ४ ॥



आत्मदर्शनके साधन

अधुना सत्यादीनि भिक्षोः सम्यग्ज्ञानसहकारीणि साधनानि विधीयन्ते निवृत्तिप्रधानानि—

अब भिक्षुके लिये सम्यग्ज्ञानके सहकारी सत्य आदि निवृत्तिप्रधान साधनोंका विधान किया जाता है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥

यह आत्मा सर्वदा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जिसे दोषहीन योगिजन देखते हैं वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा शरीरके भीतर रहता है ॥ ५ ॥

सत्येनानृतत्यागेन मृषावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः। किं च तपसा हीन्द्रियमनएकाग्रतया 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" (महा० शा० २५० । ४) इति स्मरणात् । तद्ध्यनुकूलमात्मदर्शनाभिमुखीभावात्परमं साधनं तपो नेतरच्चान्द्रायणादि । एष आत्मा लभ्य इत्यनुषङ्गः सर्वत्र । सम्यग्ज्ञानेन यथाभूतात्मदर्शनेन ब्रह्मचर्येण मैथुनासमा-

[यह आत्मा] सत्यसे अर्थात् अनृत यानी मिथ्या-भाषणके त्यागद्वारा प्राप्त किया जा सकता है। तथा "मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है" इस स्मृतिके अनुसार तप यानी इन्द्रिय और मनकी एकाग्रतासे भी [इस आत्माकी उपलब्धि हो सकती है], क्योंकि आत्मदर्शनके अभिमुख रहनेके कारण यही तप उसका अनुकूल परम साधन है—दूसरा चान्द्रायणादि तप उसका साधन नहीं है [इसके सिवा] सम्यग्ज्ञान—यथार्थ आत्मदर्शन और ब्रह्मचर्य—मैथुनके त्यागसे भी नित्य अर्थात् सर्वदा [इस आत्माकी प्राप्ति हो सकती

चारेण । नित्यं सर्वदा नित्यं सत्येन नित्यं तपसा नित्यं सम्यग्ज्ञानेनेति सर्वत्र नित्यशब्दोऽन्तर्दीपिकान्यायेन अनुपक्तव्यः। वक्ष्यति च—"न येषु जिह्ममनृतं न माया च" (प्र० उ० १ । १६) इति ।

है]; यहाँ 'एष आत्मा लभ्यः' (इस आत्माकी प्राप्ति हो सकती है) इस वाक्यका सर्वत्र सम्बन्ध है । 'सर्वदा सत्यसे', 'सर्वदा तपसे' और 'सर्वदा सम्यग्ज्ञानसे' इस प्रकार अन्तर्दीपिकान्यायसे (मध्यवर्ती दीपकोंके समान) सभीके साथ 'नित्य' शब्दका सम्बन्ध लगाना चाहिये; जैसा कि आगे (प्रश्नोपनिषद्में) कहेंगे भी* "जिन पुरुषोंमें कुटिलता, अनृत और माया नहीं है" इत्यादि ।

कोऽसावात्मा य एतैः साधनैर्लभ्य इत्युच्यते । अन्तःशरीरेऽन्तर्मध्ये शरीरस्य पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धो यमात्मानं पश्यन्त्युपलभन्ते यतयो यतनशीलाः संन्यासिनः क्षीणदोषाः क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः । स आत्मा नित्यं सत्यादिसाधनैः संन्यासिभिर्लभ्यते । न कादाचित्कैः सत्यादिभिः

जो आत्मा इन साधनोंसे प्राप्त किया जाता है वह कौन है—इसपर कहा जाता है—'अन्तःशरीरे' अर्थात् शरीरके भीतर पुण्डरीकाकाशमें जो ज्योतिर्मय सुवर्णवर्ण शुभ्र यानी शुद्ध आत्मा है, जिसे कि क्षीणदोष यानी जिनके क्रोधादि मनोमल क्षीण हो गये हैं वे यतिजन—यत्नशील संन्यासी लोग देखते अर्थात् उपलब्ध करते हैं । तात्पर्य यह है कि वह आत्मा सर्वदा सत्यादि साधनोंसे ही संन्यासियोंद्वारा प्राप्त किया जा सकता है—कभी-कभी व्यवहार किये जानेवाले सत्यादिसे प्राप्त नहीं

* इस भविष्यत्कालिक उक्तिसे विदित होता है कि उपनिषद्भाष्यके विद्यार्थियोंको मुण्डकके पश्चात् प्रश्नोपनिषद्का अध्ययन करना चाहिये ।

लभ्यते । सत्यादिसाधनस्तुत्यर्थोऽयमर्थवादः ॥ ५ ॥

होता । वह अर्थवाद सत्यादि साधनोंकी स्तुतिके लिये है ॥ ५ ॥

सत्यकी महिमा

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

सत्य ही जयको प्राप्त होता है, मिथ्या नहीं । सत्यसे देवयानमार्गका विस्तार होता है, जिसके द्वारा आप्तकाम ऋषिलोग उस पदको प्राप्त होते हैं जहाँ वह सत्यका परम निधान (भण्डार) वर्तमान है ॥ ६ ॥

सत्यमेव सत्यवानेव जयति नानृतं नानृतवादीत्यर्थः । न हि सत्यानृतयोः केवलयोः पुरुषानाश्रितयोर्जयः पराजयो वा सम्भवति । प्रसिद्धं लोके सत्यवादिनानृतवाद्यभिभूयते न विपर्ययोऽतः सिद्धं सत्यस्य बलवत्साधनत्वम् ।

सत्य अर्थात् सत्यवान् ही जयको प्राप्त होता है, मिथ्या यानी मिथ्यावादी नहीं । [यह 'सत्य' और 'अनृत' का सत्यवान् और मिथ्यावादी अर्थ इसलिये किया गया है कि] पुरुषका आश्रय न करनेवाले केवल सत्य और मिथ्याका ही जय या पराजय नहीं हो सकता । लोकमें प्रसिद्ध ही है कि सत्यवादीसे मिथ्यावादीको ही नीचा देखना पड़ता है, इसके विपरीत नहीं होता । इससे सत्यका प्रबल साधनत्व सिद्ध होता है ।

किं च शास्त्रतोऽप्यवगम्यते सत्यस्य साधनातिशयत्वम् । कथम् ? सत्येन यथाभूतवाद-

यही नहीं, सत्यका उत्कृष्ट साधनत्व शास्त्रसे भी जाना जाता है । किस प्रकार ? [सो

व्यवस्थया पन्था देवयानाख्यो विततो विस्तीर्णः सातत्येनप्रवृत्तो येन यथा ह्याक्रमन्ति क्रमन्त ऋषयो दर्शनवन्तः कुहकमायाशाठ्याहंकारदम्भानृतवर्जिता ह्याप्तकामा विगततृष्णाः सर्वतो यत्र यस्मिंस्तत्परमार्थतत्त्वं सत्यस्योत्तमसाधनस्य सम्बन्धि साध्यं परमं प्रकृष्टं निधानं पुरुषार्थरूपेण निधीयत इति निधानं वर्तते । तत्र च येन पथाक्रमन्ति स सत्येन वितत इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ६ ॥

बतलाते हैं—] सत्य अर्थात् यथार्थ वचनकी व्यवस्थासे देवयानसंज्ञक मार्ग विस्तीर्ण यानी नैरन्तर्यसे प्रवृत्त होता है, जिस मार्गसे कपट, छल, शठता, अहङ्कार, दम्भ और अनृतसे रहित तथा सब ओरसे पूर्णकाम और तृष्णारहित ऋषिगण—[अतीन्द्रिय वस्तुको] देखनेवाले पुरुष [उस पदपर] आरूढ़ होते हैं, जिसमें कि सत्यसंज्ञक उत्कृष्ट साधनका सम्बन्धी उसका साध्यरूप परमार्थतत्त्व जो पुरुषार्थरूपसे निहित होनेके कारण निधान है वह परम यानी प्रकृष्ट निधान वर्तमान है । 'उस पदमें जिस मार्गसे आरूढ होते हैं वह सत्यसे ही विस्तीर्ण हो रहा है'—इस प्रकार इसका पूर्ववाक्यसे सम्बन्ध है ॥ ६ ॥

परमपदका स्वरूप

किं तत्किंधर्मकं च तदित्युच्यते—

वह क्या है और किन धर्मोंवाला है ? इसपर कहा जाता है—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥

वह महान् दिव्य और अचिन्त्यरूप है ; वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर

भासमान होता है तथा दूरसे भी दूर और इस शरीरमें अत्यन्त समीप भी है। वह चेतनावान् प्राणियोंमें इस शरीरके भीतर उनकी बुद्धिरूप गुहामें छिपा हुआ है ॥ ७ ॥

बृहन्महच्च तत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यादिसाधनं सर्वतो व्याप्तत्वात्। दिव्यं स्वयंप्रभमनिन्द्रियगोचरमत एव न चिन्तयितुं शक्यतेऽस्य रूपमित्यचिन्त्यरूपम् । सूक्ष्मादाकाशादेरपि तत्सूक्ष्मतरम्, निरतिशयं हि सौक्ष्म्यमस्य सर्वकारणत्वात्, विभाति विविधमादित्यचन्द्राद्याकारेण भाति दीप्यते ।

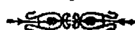
किं च दूराद्विप्रकृष्टदेशात्सुदूरे विप्रकृष्टतरे देशे वर्ततेऽविदुषामत्यन्तागम्यत्वात्तद्ब्रह्म । इह देहेऽन्तिके समीपे च । विदुषामात्मत्वात् । सर्वान्तरत्वाच्चाकाशस्याप्यन्तरश्रुतेः । इह पश्यत्सु चेतनावत्स्वित्येतन्निहितं स्थितं दर्शनादिक्रियावत्त्वेन योगिभिर्लक्ष्यमाणम् । क्व? गुहायां

सत्यादि जिसकी प्राप्तिके साधन हैं वह प्रकृत ब्रह्म सब ओर व्याप्त होनेके कारण बृहत्—महान् है। वह दिव्य—स्वयंप्रभ यानी इन्द्रियोंका अविषय है, इसलिये जिसका रूप चिन्तन न किया जा सके ऐसा अचिन्त्यरूप है । वह आकाशादि सूक्ष्म पदार्थोंसे भी सूक्ष्मतर है। सबका कारण होनेसे इसकी सूक्ष्मता सबसे अधिक है। इस प्रकार वह सूर्य-चन्द्र आदि रूपोंसे अनेक प्रकार भासित यानी दीप्त हो रहा है ।

इसके सिवा वह ब्रह्म अज्ञानियोंके लिये अत्यन्त अगम्य होनेके कारण दूर यानी दूरस्थ देशसे भी अधिक दूर—अत्यन्त दूरस्थ देशमें वर्तमान है; तथा विद्वानोंका आत्मा होनेके कारण इस शरीरमें अत्यन्त समीप भी है। यह श्रुतिके कथनानुसार सबके भीतर रहनेवाला होनेसे आकाशके भीतर भी स्थित है। यह इस लोकमें 'पश्यत्सु' अर्थात् चेतनावान् प्राणियोंमें योगियोंद्वारा दर्शनादिक्रियावत्त्वरूपसे स्थित देखा जाता है। कहाँ देखा जाता है ?

बुद्धिलक्षणायाम् । तत्र हि निगूढं लक्ष्यते विद्वद्भिः । तथाप्यविद्यया संवृतं सन्न लक्ष्यते तत्रस्थमेवाविद्वद्भिः ॥ ७ ॥

उनकी बुद्धिरूप गुहामें । यह विद्वानोंको उसीमें छिपा हुआ दिखायी देता है । तो भी अविद्यासे आच्छादित रहनेके कारण यह अज्ञानियोंको वहाँ स्थित रहनेपर भी दिखायी नहीं देता ॥ ७ ॥



आत्मसाक्षात्कारका असाधारण साधन—चित्तशुद्धि

पुनरप्यसाधारणं तदुपलब्धिसाधनमुच्यते—

फिर भी उसकी उपलब्धिका असाधारण साधन बतलाया जाता है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥

[यह आत्मा] न नेत्रसे ग्रहण किया जाता है, न वाणीसे, न अन्य इन्द्रियोंसे और न तप अथवा कर्मसे ही । ज्ञानके प्रसादसे पुरुष विशुद्धचित्त हो जाता है और तभी वह ध्यान करनेपर उस निष्कल आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करता है ॥ ८ ॥

यस्मान्न चक्षुषा गृह्यते केनचिदप्यरूपत्वान्नापि गृह्यते वाचानभिधेयत्वान्न चान्यैर्देवैरितरेन्द्रियैः । तपसः सर्वप्राप्तिसाधनत्वेऽपि न तपसा गृह्यते । तथा वैदिकेनाग्निहोत्रादिकर्मणा प्रसिद्धमहत्त्वेनापि न

क्योंकि रूपहीन होनेके कारण यह आत्मा किसीसे भी नेत्रद्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, अवाच्य होनेके कारण वाणीसे गृहीत नहीं होता और न अन्य इन्द्रियोंका ही विषय होता है । तप सभीकी प्राप्तिका साधन है; तथापि यह तपसे भी ग्रहण नहीं किया जाता और न जिसका महत्त्व सुप्रसिद्ध है उस अग्निहोत्रादि वैदिक

गृह्यते । किं पुनस्तस्य ग्रहणे साधनमित्याह—

ज्ञानप्रसादेन । आत्मावबोधन-समर्थमपि स्वभावेन सर्वप्राणिनां ज्ञानं बाह्यविषयरागादिदोषकलु-षितमप्रसन्नमशुद्धं सन्नावबोधयति नित्यं संनिहितमप्यात्मतत्त्वं मला-वनद्धमिवादर्शनम्, विलुलितमिव सलिलम् । तद्यदेन्द्रियविषयसंसर्ग-जनितरागादिमलकालुष्यापनय-नादादर्शसलिलादिवत्प्रसादितं स्वच्छं शान्तमवतिष्ठते तदा ज्ञानस्य प्रसादः स्यात् ।

तेन ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध-सत्त्वो विशुद्धान्तःकरणो योग्यो ब्रह्म द्रष्टुं यस्मात्ततस्तस्मात्तु तमा-त्मानं पश्यते पश्यत्युपलभते निष्कलं सर्वावयवभेदवर्जितं ध्यायमानः सत्यादिसाधन-वानुपसंहृतकरण एकाग्रेण मनसा ध्यायमानश्चिन्तयन् ॥ ८ ॥

कर्मसे ही गृहीत होता है। तो फिर उसके ग्रहण करनेमें क्या साधन है ? इसपर कहते हैं—

ज्ञान (ज्ञानकी साधनभूता बुद्धि) के प्रसादसे [उसका ग्रहण हो सकता है] । सम्पूर्ण प्राणियोंका ज्ञान स्वभावसे आत्मबोध करानेमें समर्थ होनेपर भी, बाह्य विषयोंके रागादि दोषसे कलुषित—अप्रसन्न यानी अशुद्ध हो जानेके कारण उस आत्मतत्त्वका, सर्वदा समीपस्थ होनेपर भी, मलसे ढके हुए दर्पण तथा चञ्चल जलके समान बोध नहीं करा सकता । जिस समय इन्द्रिय और विषयोंके संसर्गसे होने-वाले रागादि दोषरूप मलके दूर हो जानेपर दर्पण या जल आदिके समान चित्त प्रसन्न—स्वच्छ अर्थात् शान्तभावसे स्थित हो जाता है उस समय ज्ञानका प्रसाद होता है ।

क्योंकि उस ज्ञानप्रसादसे विशुद्धसत्त्व यानी शुद्धचित्त हुआ पुरुष ब्रह्मका साक्षात्कार करने योग्य होता है इसलिये तब वह ध्यान करके अर्थात् सत्यादिसाधनसम्पन्न होकर इन्द्रियोंका निरोध कर एकाग्रचित्तसे ध्यान—चिन्तन करता हुआ उस निष्कल यानी सम्पूर्ण अवयवभेदसे रहित आत्माको देखता—उपलब्ध करता है ॥ ८ ॥

शरीरमें इन्द्रियरूपसे अनुप्रविष्ट हुए आत्माका चित्तशुद्धिद्वारा साक्षात्कार

यमात्मानमेवं पश्यति—

जिस आत्माको साधक इस प्रकार देखता है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ९ ॥

वह सूक्ष्म आत्मा, जिस [शरीर] में पाँच प्रकारसे प्राण प्रविष्ट है उस शरीरके भीतर ही विशुद्ध विज्ञानद्वारा जाननेयोग्य है। उससे इन्द्रियोंद्वारा प्रजावर्गके सम्पूर्ण चित्त व्याप्त हैं, जिसके शुद्ध हो जानेपर यह आत्मस्वरूपसे प्रकाशित होने लगता है ॥ ९ ॥

एषोऽणुः सूक्ष्मश्चेतसा विशुद्धज्ञानेन केवलेन वेदितव्यः। क्वासौ ? यस्मिञ्शरीरे प्राणो वायुः पञ्चधा प्राणापानादिभेदेन संविवेश सम्यक्प्रविष्टस्तस्मिन्नेव शरीरे हृदये चेतसा ज्ञेय इत्यर्थः ।

कीदृशेन चेतसा वेदितव्य इत्याह—प्राणैः सहेन्द्रियैश्चित्तं सर्वमन्तःकरणं प्रजानामोतं व्याप्तं येन क्षीरमिव स्नेहेन काष्ठमिवाग्निना । सर्वं हि प्रजानामन्तः-

वह अणु—सूक्ष्म आत्मा चित्त यानी केवल विशुद्ध ज्ञानसे जानने योग्य है। वह कहाँ जानने योग्य है ? जिस शरीरमें प्राणवायु, प्राण-अपान आदि भेदसे पाँच प्रकारका होकर सम्यक् रीतिसे प्रविष्ट हो रहा है उसी शरीरमें हृदयके भीतर यह चित्तद्वारा जानने योग्य है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

वह किस प्रकारके चित्त (ज्ञान) से ज्ञातव्य है ? इसपर कहते हैं—दूध जिस प्रकार घृतसे और काष्ठ जिस प्रकार अग्निसे व्याप्त है, उसी प्रकार जिससे प्राण यानी इन्द्रियोंके सहित प्रजाके समस्त चित्त—अन्तःकरण व्याप्त

करणं चेतनावत्प्रसिद्धं लोके । यस्मिंश्च चित्ते क्लेशादिमलवियुक्ते शुद्धे विभवत्येष उक्त आत्मा विशेषेण स्वेनात्मना विभवत्या-त्मानं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

हैं, क्योंकि लोकमें प्रजाके सभी अन्तः-करण चेतनायुक्त प्रसिद्ध हैं और जिस चित्तके शुद्ध यानी क्लेशादि मलसे वियुक्त होनेपर यह पूर्वोक्त आत्मा अपने विशेषरूपसे प्रकट होता है अर्थात् अपनेको प्रकाशित कर देता है ॥ ९ ॥

आत्मज्ञका वैभव और उसकी पूजाका विधान

य एवमुक्तलक्षणं सर्वात्मान-मात्मत्वेन प्रतिपन्नस्तस्य सर्वात्म-त्वादेव सर्वावाप्तिलक्षणं फलमाह—

इस प्रकार जो उपर्युक्त सर्वात्मा-को आत्मस्वरूपसे जानता है उसका सर्वात्मा होनेसे ही सर्वप्राप्तिरूप फल बतलाते हैं—

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामां-
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥ १० ॥

वह विशुद्धचित्त आत्मवेत्ता मनसे जिस-जिस लोककी भावना करता है और जिन-जिन भोगोंको चाहता है वह उसी-उसी लोक और उन्हीं-उन्हीं भोगोंको प्राप्त कर लेता है । इसलिये ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाला पुरुष आत्मज्ञानीकी पूजा करे ॥ १० ॥

यं यं लोकं पित्रादिलक्षणं मनसा संविभाति संकल्पयति

विशुद्धसत्त्व—जिसके क्लेश* क्षीण हो गये हैं वह निर्मल-

* क्लेश मनोविकारोंको कहा है । वे पाँच हैं; यथा—
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योग० २ । ३)
१ अविद्या, २ अस्मिता, ३ राग, ४ द्वेष और ५ अभिनिवेश—ये क्लेश हैं ।

मह्यमन्यस्मै वा भवेदिति विशुद्धसत्त्वः क्षीणक्लेश आत्मविन्निर्मलान्तःकरणः कामयते यांश्च कामान्प्रार्थयते भोगांस्तं तं लोकं जयते प्राप्नोति तांश्च कामान्संकल्पितान्भोगान् । तस्माद्विदुषः सत्यसंकल्पत्वादात्मज्ञमात्मज्ञानेन विशुद्धान्तःकरणं ह्यर्चयेत् पूजयेत्पादप्रक्षालनशुश्रूषानमस्कारादिभिर्भूतिकामो विभूतिमिच्छुः । ततः पूजार्ह एवासौ ।१०।

चित्त आत्मवेत्ता जिस पितृलोक आदि लोककी मनसे इच्छा करता है अर्थात् ऐसा सङ्कल्प करता है कि मुझे या किसी अन्यको अमुक लोक प्राप्त हो अथवा वह जिन कामना यानी भोगोंकी अभिलाषा करता है उसी-उसी लोक तथा अपने सङ्कल्प किये हुए उन्हीं-उन्हीं भोगोंको वह प्राप्त कर लेता है । अतः ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाला पुरुष उस विशुद्धचित्त आत्मज्ञानीका पाद-प्रक्षालन, शुश्रूषा एवं नमस्कारादिद्वारा पूजन करे, क्योंकि विद्वान् सत्यसङ्कल्प होता है । इसलिये (सत्यसङ्कल्प होनेके कारण) वह पूजनीय ही है ॥ १० ॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये तृतीयमुण्डके
प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

आत्मवेत्ताकी पूजाका फल

यस्मात्—

क्योंकि—

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-
स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥ १ ॥

वह (आत्मवेत्ता) इस परम आश्रयरूप ब्रह्मको जिसमें यह समस्त जगत् अर्पित है और जो स्वयं शुद्धरूपसे भासमान हो रहा है, जानता है। जो निष्कामभावसे उस आत्मज्ञ पुरुषकी उपासना करते हैं वे बुद्धिमान् लोग शरीरके बीजभूत इस वीर्यका अतिक्रमण कर जाते हैं। [अर्थात् इसके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं] ॥ १ ॥

स वेद जानातीत्येतद्यथोक्तलक्षणं ब्रह्म परममुत्कृष्टं धाम सर्वकामानामाश्रयमास्पदं यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि धाम्नि विश्वं समस्तं जगन्निहितमर्पितं यच्च स्वेन ज्योतिषा भाति शुभ्रं शुद्धम्। तमप्येवमात्मज्ञं पुरुषं ये ह्यकामा विभूतितृष्णावर्जिता मुमुक्षवः सन्त उपासते परमिव सेवन्ते ते शुक्रं नृबीजं यदेतत्प्रसिद्धं शरीरोपादानकारणमतिवर्तन्त्यतिगच्छन्ति धीरा धीमन्तो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति "न पुनः क्वचिद्रतिं करोति" इति श्रुतेः। अतस्तं पूजयेदित्यभिप्रायः ॥१॥

वह (आत्मवेत्ता) सम्पूर्ण कामनाओंके परम यानी उत्कृष्ट आश्रयभूत इस पूर्वोक्त लक्षणवाले ब्रह्मको जानता है, जिस ब्रह्मपदमें यह विश्व यानी सम्पूर्ण जगत् निहित—समर्पित है और जो कि अपने तेजसे—शुद्धरूपसे प्रकाशित हो रहा है। उस इस प्रकारके आत्मज्ञ पुरुषकी भी जो लोग निष्काम अर्थात् ऐश्वर्यकी तृष्णासे रहित होकर यानी मुमुक्षु होकर परमदेवके समान उपासना करते हैं वे धीर—बुद्धिमान् पुरुष शुक्र यानी मनुष्यदेहके बीजका, जो कि शरीरके उपादान कारणरूपसे प्रसिद्ध है, अतिक्रमण कर जाते हैं, अर्थात् फिर योनिमें प्रवेश नहीं करते, जैसा कि "फिर कहीं प्रीति नहीं करता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। अतः तात्पर्य यह है कि उसका पूजन करना चाहिये ॥ १ ॥

निष्कामतासे पुनर्जन्मनिवृत्ति

मुमुक्षोः कामत्याग एव प्रधानं साधनमित्येतद्दर्शयति—

मुमुक्षुके लिये कामनाका त्याग ही प्रधान साधन है—इस बातको दिखलाते हैं—

कामान्यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्वि-
हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥

[भोगोंके गुणोंका] चिन्तन करनेवाला जो पुरुष भोगोंकी इच्छा करता है वह उन कामनाओंके योगसे तहाँ-तहाँ (उनकी प्राप्तिके स्थानोंमें) उत्पन्न होता रहता है । परन्तु जिसकी कामनाएँ पूर्ण हो गयी हैं उस कृतकृत्य पुरुषकी तो सभी कामनाएँ इस लोकमें ही लीन हो जाती हैं ॥ २ ॥

कामान्यो दृष्टादृष्टेष्टविषयान् कामयते मन्यमानस्तद्गुणांश्चिन्तयानः प्रार्थयते स तैः कामभिः कामैर्धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतुभिर्विषयेच्छारूपैः सह जायते तत्र तत्र । यत्र यत्र विषयप्राप्तिनिमित्तं कामाः कर्मसु पुरुषं नियोजयन्ति तत्र तत्र तेषु तेषु विषयेषु तैरेव कामैर्वेष्टितो जायते ।

जो पुरुष काम अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट अभीष्ट विषयोंकी, उनके गुणोंका मनन—चिन्तन करता हुआ, कामना करता है वह उन कामनाओं अर्थात् धर्माधर्ममें प्रवृत्ति करानेके हेतुभूत विषयोंकी इच्छारूप वासनाओंके सहित वहीं-वहीं उत्पन्न होता है; अर्थात् जहाँ-जहाँ विषयप्राप्तिके लिये कामनाएँ पुरुषको कर्ममें नियुक्त करती हैं वह वहीं-वहीं उन्हीं-उन्हीं प्रदेशोंमें उन कामनाओंसे ही परिवेष्टित हुआ जन्म ग्रहण करता है ।

यस्तु परमार्थतत्त्वविज्ञानात् पर्याप्तकाम आत्मकामत्वेन परि समन्तत आप्ताः कामा यस्य तस्य पर्याप्तकामस्य कृतात्मनो-

परन्तु जो परमार्थतत्त्वके विज्ञानसे पूर्णकाम हो गया है, अर्थात् आत्मप्राप्तिकी इच्छावाला होनेके कारण जिसे सब ओरसे समस्त भोग प्राप्त हो चुके हैं उस पूर्णकाम

ऽविद्यालक्षणादपररूपादपनीय स्वेन परेण रूपेण कृत आत्मा विद्यया यस्य तस्य कृतात्मन-स्त्विहैव तिष्ठत्येव शरीरे सर्वे धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतवः प्रविलीयन्ति विलयमुपयान्ति नश्यन्तीत्य-र्थः । कामास्तज्जन्महेतुविनाशान्न जायन्त इत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

कृतकृत्य पुरुषकी सभी कामनाएँ लीन हो जाती हैं अर्थात् जिसने विद्याद्वारा अपने आत्माको उसके अविद्यामय अपररूपसे हटाकर अपने पररूपसे स्थित कर दिया है उस कृतात्माके धर्माधर्मकी प्रवृत्तिके समस्त हेतु इस शरीरमें स्थित रहते हुए ही लीन अर्थात् नष्ट हो जाते हैं । अभि-प्राय यह है कि अपनी उत्पत्तिके हेतुका नाश हो जानेके कारण उसमें फिर कामनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं ॥ २ ॥

आत्मदर्शनका प्रधान साधन—जिज्ञासा

यद्येवं सर्वलाभात्परम आत्म-लाभस्तल्लाभाय प्रवचनादय उपाया बाहुल्येन कर्तव्या इति प्राप्त इदमुच्यते—

इस प्रकार यदि और सब लाभोंकी अपेक्षा आत्मलाभ ही उत्कृष्ट है तो उसकी प्राप्तिके लिये प्रवचन आदि उपाय अधिकतासे करने चाहिये—ऐसी बात प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ ३ ॥

यह आत्मा न तो प्रवचन (पुष्कल शास्त्राध्ययन) से प्राप्त होने योग्य है और न मेधा (धारणाशक्ति) तथा अधिक श्रवण करनेसे ही मिलनेवाला है । यह (विद्वान्) जिस परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा

करता है उस (इच्छा) के द्वारा ही इसकी प्राप्ति हो सकती है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूपको व्यक्त कर देता है ॥ ३ ॥

योऽयमात्मा व्याख्यातो यस्य लाभः परः पुरुषार्थो नासौ वेदशास्त्राध्ययनबाहुल्येन प्रवचनेन लभ्यः । तथा न मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या । न बहुना श्रुतेन नापि भूयसा श्रवणेनेत्यर्थः ।

जिस इस आत्माकी व्याख्या की गयी है, जिसका लाभ ही परम पुरुषार्थ है वह वेदशास्त्रके अधिक अध्ययनरूप प्रवचनसे प्राप्त होने योग्य नहीं है । इसी प्रकार वह न मेधा—ग्रन्थके अर्थको धारण करनेकी शक्तिसे और न 'बहुना श्रुतेन' यानी अधिक शास्त्रश्रवणसे ही मिल सकता है ।

केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते—यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान्वृणुते प्राप्तुमिच्छति तेन वरणेनैष परमात्मा लभ्यो नान्येन साधनान्तरेण । नित्यलब्धस्वभावत्वात् ।

तो फिर वह किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ? इसपर कहते हैं—जिस परमात्माको यह विद्वान् वरण करता अर्थात् प्राप्त करनेकी इच्छा करता है उस वरण करनेके द्वारा ही यह परमात्मा प्राप्त होने योग्य है; नित्यप्राप्तस्वरूप होनेके कारण किसी अन्य साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता ।

कीदृशोऽसौ विदुष आत्मलाभ इत्युच्यते । तस्यैव आत्माविद्यासञ्छन्नां स्वां परां तनुं स्वात्मतत्त्वं स्वरूपं विवृणुते प्रकाशयति प्रकाश इव घटादिं विद्यायां सत्यामाविर्भवतीत्यर्थः ।

विद्वान्‌को होनेवाला यह आत्मलाभ कैसा होता है—इसपर कहते हैं—यह आत्मा उसके प्रति अपने अविद्याच्छन्न परस्वरूपको यानी स्वात्मतत्त्वको प्रकाशित कर देता है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रकाशमें घटादिकी अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार विद्याकी प्राप्ति होनेपर आत्माका आविर्भाव हो जाता है ।

तस्मादन्यत्यागेनात्मलाभप्रार्थनैवात्मलाभसाधनमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अतः तात्पर्य यह है कि अन्य कामनाओंके त्यागद्वारा आत्मप्रार्थना ही आत्मलाभका साधन है ॥ ३ ॥

आत्मदर्शनके अन्य साधन

आत्मप्रार्थनासहायभूतान्येतानि च साधनानि बलाप्रमादतपांसि लिङ्गयुक्तानि संन्याससहितानि । यस्मात्—

लिङ्गयुक्त अर्थात् संन्यासके सहित बल, अप्रमाद और तप—ये सब साधन आत्मप्रार्थनाके सहायक हैं । क्योंकि—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

यह आत्मा बलहीन पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकता और न प्रमाद अथवा लिङ्ग (संन्यास) रहित तपस्यासे ही [मिल सकता है] । परन्तु जो विद्वान् इन उपायोंसे [उसे प्राप्त करनेके लिये] प्रयत्न करता है उसका यह आत्मा ब्रह्मधाममें प्रविष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

यस्मादयमात्मा बलहीनेन बलप्रहीणेनात्मनिष्ठाजनितवीर्यहीनेन न लभ्यो नापि लौकिकपुत्रपश्वादिविषयसङ्गनिमित्तप्रमादात्, तथा तपसो वाप्यलिङ्गाल्लिङ्गरहितात् । तपोऽत्र ज्ञानम्; लिङ्गं संन्यासः । संन्यासरहिताज्ज्ञानान्न लभ्यत

यह आत्मा बलहीन अर्थात् आत्मनिष्ठाजनित शक्तिसे रहित पुरुषद्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है; न लौकिक पुत्र एवं पशु आदि विषयोंकी आसक्तिके कारण होनेवाले प्रमादसे ही मिल सकता है और न लिङ्गरहित तपस्यासे ही । यहाँ तप ज्ञान है और लिङ्ग संन्यास । तात्पर्य यह कि संन्यासरहित ज्ञानसे प्राप्त नहीं होता ।

इत्यर्थः । एतैरुपायैर्बलाप्रमादसंन्यासज्ञानैर्यतते तत्परः सन्प्रयतते यस्तु विद्वान्विवेक्यात्मवित्तस्य विदुष एष आत्मा विशते संप्रविशति ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

जो विद्वान् यानी विवेकी आत्मवेत्ता तत्पर होकर बल, अप्रमाद, संन्यास और ज्ञान—इन उपायोंसे [उसकी प्राप्तिके लिये] प्रयत्न करता है उस विद्वान्का यह आत्मा ब्रह्मधाममें सम्यक्रूपसे प्रविष्ट हो जाता है ॥४॥

आत्मदर्शीकी ब्रह्मप्राप्तिका प्रकार

कथं ब्रह्म संविशत इत्युच्यते—

विद्वान् किस प्रकार ब्रह्ममें प्रविष्ट होता है सो बतलाया जाता है—

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥

इस आत्माको प्राप्त कर ऋषिगण ज्ञानतृप्त, कृतकृत्य, विरक्त और प्रशान्त हो जाते हैं । वे धीर पुरुष उस सर्वगत ब्रह्मको सब ओर प्राप्त कर [मरणकालमें] समाहितचित्त हो सर्वरूप ब्रह्ममें ही प्रवेश कर जाते हैं ॥ ५ ॥

संप्राप्य समवगम्यैनमात्मानमृषयो दर्शनवन्तस्तेनैव ज्ञानेन तृप्ता न बाह्येन तृप्तिसाधनेन शरीरोपचयकारणेन कृतात्मानः परमात्मस्वरूपेणैव निष्पन्नात्मानः सन्तो वीतरागा वीतरागादिदोषाः प्रशान्ता उपरतेन्द्रियाः ।

इस आत्माको सम्यक् प्रकारसे प्राप्त कर—जानकर ऋषि अर्थात् आत्मदर्शनवान् लोग, शरीरको पुष्ट करनेवाले किसी बाह्य तृप्तिसाधनसे नहीं बल्कि उस ज्ञानसे ही तृप्त हो कृतात्मा—जिनका आत्मा परमात्मस्वरूपसे ही निष्पन्न हो गया है ऐसे होकर तथा वीतराग—रागादि दोषोंसे रहित और प्रशान्त यानी उपरतेन्द्रिय हो जाते हैं ।

त एवंभूताः सर्वगं सर्वव्यापिनमाकाशवत्सर्वतः सर्वत्र प्राप्य—नोपाधिपरिच्छिन्नेनैकदेशेन, किं तर्हि ? तद्ब्रह्मैवाद्वयमात्मत्वेन प्रतिपद्य धीरा अत्यन्तविवेकिनो युक्तात्मानो नित्यसमाहितस्वभावाः सर्वमेव समस्तं शरीरपातकालेऽप्याविशन्ति भिन्ने घटे घटाकाशवदविद्याकृतोपाधिपरिच्छेदं जहति । एवं ब्रह्मविदो ब्रह्मधाम प्रविशन्ति ॥ ५ ॥

ऐसे भावको प्राप्त हुए वे लोग सर्वग—आकाशके समान सर्वव्यापक ब्रह्मको, उपाधिपरिच्छिन्न एक देशमें नहीं, बल्कि सर्वत्र प्राप्त कर—फिर क्या होता है ? उस अद्वयब्रह्मका ही आत्मभावसे अनुभव कर, वे धीर यानी अत्यन्त विवेकी और युक्तात्मा—नित्य समाहितस्वभाव पुरुष शरीरपातके समय भी सर्वरूप ब्रह्ममें ही प्रवेश कर जाते हैं; अर्थात् घटके फूट जानेपर घटाकाशके समान वे अपने अविद्याजनित परिच्छेदका परित्याग कर देते हैं । इस प्रकार वे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मधाममें प्रवेश करते हैं ॥ ५ ॥

ज्ञातज्ञेयकी मोक्षप्राप्ति

किं च—

तथा—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ ॥

जिन्होंने वेदान्तजनित विज्ञानसे ज्ञेय अर्थका अच्छी तरह निश्चय कर लिया है वे संन्यासयोगसे यत्न करनेवाले समस्त शुद्धचित्त पुरुष ब्रह्मलोकमें देहत्याग करते समय परम. अमरभावको प्राप्त हो सब ओरसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

वेदान्तजनितविज्ञानं वेदान्तविज्ञानं तस्यार्थः परमात्मा

वेदान्तसे उत्पन्न होनेवाला विज्ञान वेदान्तविज्ञान कहलाता है । उसका अर्थ यानी विज्ञेय परमात्मा

विज्ञेयः सोऽर्थः सुनिश्चितो येषां ते वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः । ते च संन्यासयोगात्सर्वकर्मपरित्यागलक्षणयोगात्केवलब्रह्मनिष्ठास्वरूपाद्योगाद्यतयो यतनशीलाः शुद्धसत्त्वाः शुद्धं सत्त्वं येषां संन्यासयोगात्ते शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु—संसारिणां ये मरणकालास्तेऽपरान्तास्तानपेक्ष्य मुमुक्षूणां संसारावसाने देहपरित्यागकालः परान्तकालस्तस्मिन्परान्तकाले साधकानां बहुत्वाद् ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक एकोऽप्यनेकवद् दृश्यते प्राप्यते वा, अतो बहुवचनं ब्रह्मलोकेष्विति ब्रह्मणीत्यर्थः—परामृताः परममृतममरणधर्मकं ब्रह्मात्मभूतं येषां ते परामृता जीवन्त एव ब्रह्मभूताः परामृताः सन्तः परिमुच्यन्ति परि समन्तात्प्रदीपनिर्वाणवद् घटाकाशवच्च निवृत्तिमुपयान्ति । परिमुच्यन्ति परि समन्तान्मुच्यन्ते सर्वे न देशान्तरं गन्तव्यमपेक्षन्ते ।

है । वह अर्थ जिन्हें अच्छी तरह निश्चित हो गया है वे 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थ' कहलाते हैं । वे संन्यासयोगसे—सर्वकर्मपरित्यागरूप योगसे अर्थात् केवल ब्रह्मनिष्ठास्वरूप योगसे यत्न करनेवाले और शुद्धसत्त्व—संन्यासयोगसे जिनका सत्त्व (चित्त) शुद्ध हो गया है ऐसे वे शुद्धचित्त पुरुष ब्रह्मलोकोंमें परामृत—परम अमृत यानी अमरणधर्मा ब्रह्म ही जिनका आत्मस्वरूप है ऐसे जीवित अवस्थामें ही परामृत यानी ब्रह्मभूत होकर दीपनिर्वाण अथवा [घटके फूटनेपर] घटाकाशके समान परिमुक्त यानी निवृत्तिको प्राप्त हो जाते हैं । वे सब परि अर्थात् सब ओरसे मुक्त हो जाते हैं । किसी अन्य गन्तव्य देशान्तरकी अपेक्षा नहीं करते । संसारी पुरुषोंके जो अन्तकाल होते हैं वे 'अपरान्तकाल' हैं उनकी अपेक्षा मुमुक्षुओंके संसारका अन्त हो जानेपर उनका जो देहपरित्यागका समय है वह 'परान्तकाल' है । उस परान्तकालमें वे ब्रह्मलोकोंमें—बहुत-से साधक होनेके कारण यहाँ ब्रह्मलोक यानी ब्रह्मस्वरूप लोक एक होनेपर भी अनेकवत् देखा और प्राप्त किया जाता है । इसीलिये 'ब्रह्मलोकेषु' इस पदमें बहुवचनका प्रयोग हुआ है, अतः 'ब्रह्मलोकेषु' का अर्थ है ब्रह्ममें ।

"शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च। पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवतां गतिः ॥" (महा० शा० २३९ । २४)। "अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इति श्रुतिस्मृतिभ्यः।

देशपरिच्छिन्ना हि गतिः संसारविषयैव, परिच्छिन्नसाधनसाध्यत्वात्। ब्रह्म तु समस्तत्वान्न देशपरिच्छेदेन गन्तव्यम्। यदि हि देशपरिच्छिन्नं ब्रह्म स्यान्मूर्तद्रव्यवदाद्यन्तवदन्याश्रितं सावयवमनित्यं कृतकं च स्यात्। न त्वेवंविधं ब्रह्म भवितुमर्हति। अतस्तत्प्राप्तिश्च नैव देशपरिच्छिन्ना भवितुं युक्ता। अपि चाविद्यादिसंसारबन्धापनयनमेव मोक्षम् इच्छन्ति ब्रह्मविदो न तु कार्यभूतम् ॥ ६ ॥

"जिस प्रकार आकाशमें पक्षियोंके और जलमें जलचर जीवके पैर (चरण-चिह्न) दिखायी नहीं देते उसी प्रकार ज्ञानियोंकी गति नहीं जानी जाती" "[मुमुक्षु लोग] संसारमार्गसे पार होनेकी इच्छासे अनध्वग (संसार-मार्गमें विचरण न करनेवाले) होते हैं।" इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे भी यही प्रमाणित होता है।

परिच्छिन्न साधनसे साध्य होनेके कारण संसारसम्बन्धिनी गति देशपरिच्छिन्ना ही होती है। किन्तु ब्रह्म सर्वरूप होनेके कारण किसी देशपरिच्छेदसे प्राप्तव्य नहीं है। यदि ब्रह्म देशपरिच्छिन्न हो तो मूर्तद्रव्यके समान आदि-अन्तवान्, पराश्रित, सावयव, अनित्य और कृतक सिद्ध हो जायगा। किन्तु ब्रह्म ऐसा हो नहीं सकता। अतः उसकी प्राप्ति भी देशपरिच्छिन्ना नहीं हो सकती; इसके सिवा ब्रह्मवेत्ता लोग अविद्यादि-संसार-बन्धनकी निवृत्तिरूप मोक्षकी ही इच्छा करते हैं, किसी कार्यभूत पदार्थकी नहीं ॥ ६ ॥

मोक्षका स्वरूप

किं च मोक्षकाले—

तथा मोक्षकालमें—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।

कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥

[प्राणादि] पन्द्रह कलाएँ (देहारम्भक तत्त्व) अपने आश्रयोंमें स्थित हो जाती हैं, [चक्षु आदि इन्द्रियोंके अधिष्ठाता] समस्त देवगण अपने प्रतिदेवता [आदित्यादि] में लीन हो जाते हैं तथा उसके [सञ्चितादि] कर्म और विज्ञानमय आत्मा आदि सब-के-सब पर अव्यय देवमें एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

या देहारम्भिकाः कलाः प्राणाद्यास्ताः स्वां स्वां प्रतिष्ठां गताः स्वं स्वं कारणं गता भवन्तीत्यर्थः । प्रतिष्ठा इति द्वितीयाबहुवचनम् । पञ्चदश पञ्चदशसंख्याका या अन्त्यप्रश्नपरिपठिताः प्रसिद्धा देवाश्च देहाश्रयाश्चक्षुरादिकरणस्थाः सर्वे प्रतिदेवतास्वादित्यादिषु गता भवन्तीत्यर्थः ।

जो देहको आरम्भ करनेवाली प्राणादि कलाएँ हैं वे अपनी प्रतिष्ठाको पहुँचती अर्थात् अपने-अपने कारणको प्राप्त हो जाती हैं । [इस मन्त्रमें] 'प्रतिष्ठाः' यह द्वितीया विभक्तिका बहुवचन है । पन्द्रह प्रसिद्ध कलाएँ जो [प्रश्नोपनिषद्के] अन्तिम (षष्ठ) प्रश्नमें पढ़ी गयी हैं तथा देहके आश्रित चक्षु आदि इन्द्रियोंमें स्थित समस्त देवता अपने प्रतिदेवता आदित्यादिमें लीन हो जाते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

यानि च मुमुक्षुणा कृतानि कर्माण्यप्रवृत्तफलानि प्रवृत्तफलानामुपभोगेनैव क्षीयमाणत्वाद्विज्ञानमयश्चात्माविद्याकृतबुद्ध्याद्युपाधिमात्मत्वेन मत्वा जलादिषु सूर्यादिप्रतिबिम्बवदिह प्रविष्टो देहभेदेषु, कर्मणां तत्फलार्थत्वात्,

तथा मुमुक्षुके किये हुए अप्रवृत्तफल कर्म—क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो जाते हैं वे उपभोगसे ही क्षीण होते हैं—और विज्ञानमय आत्मा, जो अविद्याजनित बुद्धि आदि उपाधिको आत्मभावसे मानकर जलादिमें सूर्यादिके प्रतिबिम्बके समान यहाँ देहभेदोंमें प्रविष्ट हो रहा है, उस विज्ञानमय आत्माके सहित [परब्रह्ममें लीन हो जाते

सह तेनैव विज्ञानमयेनात्मना, अतो विज्ञानमयो विज्ञानप्रायः; त एते कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मोपाध्यपनये सति परेऽव्ययेऽनन्तेऽक्षये ब्रह्मण्याकाशकल्पेऽजेऽजरेऽमृतेऽभयेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्येऽद्वये शिवे शान्ते सर्व एकीभवन्त्यविशेषतां गच्छन्ति एकत्वमापद्यन्ते जलाद्याधारापनय इव सूर्यादिप्रतिबिम्बाः सूर्ये घटाद्यपनय इवाकाशे घटाद्याकाशाः ॥ ७ ॥

हैं], क्योंकि कर्म उस विज्ञानमय आत्माको ही फल देनेवाले हैं। अतः विज्ञानमयका अर्थ विज्ञानप्राय है। ऐसे वे [सञ्चितादि] कर्म और विज्ञानमय आत्मा सभी, उपाधिके निवृत्त हो जानेपर आकाशके समान, पर, अव्यय, अनन्त, अक्षय, अज, अजर, अमृत, अभय, अपूर्व, अनन्य, अनन्तर, अबाह्य, अद्वय, शिव और शान्त ब्रह्ममें एकरूप हो जाते हैं— अविशेषता अर्थात् एकताको प्राप्त हो जाते हैं, जिस प्रकार कि जल आदि आधारके हटा लिये जानेपर सूर्य आदिके प्रतिबिम्ब सूर्यमें तथा घटादिके निवृत्त होनेपर घटाकाशादि महाकाशमें मिल जाते हैं ॥ ७ ॥

ब्रह्मप्राप्तिमें नदी आदिका दृष्टान्त

किं च— | तथा—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥

जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम-रूपसे मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

यथा नद्यो गङ्गाद्याः स्यन्दमाना गच्छन्त्यः समुद्रे समुद्रं प्राप्यास्तमदर्शनमविशेषात्मभावं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति नाम च रूपं च नामरूपे विहाय हित्वा तथाविद्याकृतनामरूपाद्विमुक्तः सन्विद्वान्परादक्षरात्पूर्वोक्तात्परं दिव्यं पुरुषं यथोक्तलक्षणमुपैति उपगच्छति ॥ ८ ॥

जिस प्रकार बहकर जाती हुई गङ्गा आदि नदियाँ समुद्रमें पहुँचनेपर अपने नाम और रूपको त्यागकर अस्त—अदर्शन यानी अविशेष भावको प्राप्त हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् अविद्याकृत नाम-रूपसे मुक्त हो पूर्वोक्त अक्षर (अव्याकृत) से भी पर उपर्युक्त लक्षणविशिष्ट पुरुषको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही है

ननु श्रेयस्यनेके विघ्नाः प्रसिद्धा अतः क्लेशानामन्यतमेनान्येन वा देवादिना च विघ्नितो ब्रह्मविदप्यन्यां गतिं मृतो गच्छति न ब्रह्मैव ।

शङ्का—कल्याणपथमें अनेकों विघ्न आया करते हैं—यह प्रसिद्ध है। अतः क्लेशोंमेंसे किसी-न-किसीके द्वारा अथवा किसी देवादिद्वारा विघ्न उपस्थित कर दिये जानेसे ब्रह्मवेत्ता भी मरनेपर किसी दूसरी गतिको प्राप्त हो जायगा—ब्रह्मको ही प्राप्त न होगा।

न; विद्ययैव सर्वप्रतिबन्धस्यापनीतत्वात् । अविद्याप्रतिबन्धमात्रो हि मोक्षो नान्यप्रतिबन्धः, नित्यत्वादात्मभूतत्वाच्च ।

समाधान—नहीं, विद्यासे ही समस्त प्रतिबन्धोंके निवृत्त हो जानेके कारण [ऐसा नहीं होगा]। मोक्ष केवल अविद्यारूप प्रतिबन्धवाला ही है, और किसी प्रतिबन्धवाला नहीं है, क्योंकि वह नित्य और सबका आत्मस्वरूप है।

तस्मात्—

इसलिये—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्या-

ब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥

जो कोई उस परब्रह्मको जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुलमें कोई अब्रह्मवित् नहीं होता। वह शोकको तर जाता है, पापको पार कर लेता है और हृदयग्रन्थियोंसे विमुक्त होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

स यः कश्चिद्ध वै लोके तत्परमं ब्रह्म वेद साक्षादहमेवास्मीति स नान्यां गतिं गच्छति। देवैरपि तस्य ब्रह्मप्राप्तिं प्रति विघ्नो न शक्यते कर्तुम्। आत्मा ह्येषां स भवति। तस्माद्ब्रह्मविद्वान्ब्रह्मैव भवति।

इस लोकमें जो कोई उस परब्रह्मको जान लेता है—'वह साक्षात् मैं ही हूँ' ऐसा समझ लेता है, वह किसी अन्य गतिको प्राप्त नहीं होता। उसकी ब्रह्मप्राप्तिमें देवतालोग भी विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते, क्योंकि वह तो उनका आत्मा ही हो जाता है। अतः ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है।

किं च नास्य विदुषोऽब्रह्मवित्कुले भवति। किं च तरति शोकमनेकेष्टवैकल्यनिमित्तं मानसं सन्तापं जीवन्नेवातिक्रान्तो भवति। तरति पाप्मानं धर्माधर्माख्यम्। गुहाग्रन्थिभ्यो हृदयाविद्याग्रन्थिभ्यो विमुक्तः सन्नमृतो भवतीत्युक्तमेव भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यादि ॥ ९ ॥

तथा इस विद्वान्के कुलमें कोई अब्रह्मवित् नहीं होता और यह शोकको तर जाता है अर्थात् अनेकों इष्ट वस्तुओंके वियोगजनित सन्तापको जीवित रहते हुए ही पार कर लेता है तथा धर्माधर्मसंज्ञक पापसे भी परे हो जाता है। फिर हृदयग्रन्थियोंसे विमुक्त हो अमृत हो जाता है, जैसा कि 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि मन्त्रोंमें कहा ही है ॥ ९ ॥

विद्याप्रदानकी विधि

अथेदानीं ब्रह्मविद्यासम्प्रदानविध्युपप्रदर्शनेनोपसंहारः क्रियते।

तदनन्तर अब ब्रह्मविद्याप्रदानकी विधिका प्रदर्शन करते हुए [इस ग्रन्थका] उपसंहार किया जाता है—

तदेतदृचाभ्युक्तम्—

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः
स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥

यही बात [आगेकी] ऋचाने भी कही है—जो अधिकारी क्रियावान्, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ और स्वयं श्रद्धापूर्वक एकर्षि नामक अग्निमें हवन करनेवाले हैं तथा जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रतका अनुष्ठान किया है उन्हींसे यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये ॥ १० ॥

तदेतद्विद्यासम्प्रदानविधानमृचा मन्त्रेणाभ्युक्तमभिप्रकाशितम्—

यह विद्यासम्प्रदानकी विधि [आगेकी] ऋचा यानी मन्त्रने भी प्रकाशित की है—

क्रियावन्तो यथोक्तकर्मानुष्ठानयुक्ताः, श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा अपरस्मिन्ब्रह्मण्यभियुक्ताः परब्रह्मबुभुत्सवः स्वयमेकर्षिनामानमग्निं जुह्वते जुह्वति श्रद्धयन्तः श्रद्दधानाः सन्तो ये तेषाम् एव संस्कृतात्मनां पात्रभूतानाम्

जो क्रियावान्—जैसा ऊपर बतलाया गया है वैसे कर्मानुष्ठानमें लगे हुए, श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ यानी अपरब्रह्ममें लगे हुए और परब्रह्मको जाननेके इच्छुक तथा स्वयं श्रद्धायुक्त होकर एकर्षि नामक अग्निमें हवन करनेवाले हैं उन्हीं शुद्धचित्त एवं ब्रह्मविद्याके पात्रभूत अधिकारियोंको यह ब्रह्मविद्या

एतां ब्रह्मविद्यां वदेत ब्रूयात् शिरोव्रतं शिरस्यग्निधारणलक्षणम्, यथार्थवर्णानां वेदव्रतं प्रसिद्धम्, यैस्तु यैश्च तच्चीर्णं विधिवद्यथाविधानं तेषामेव च ॥ १० ॥

बतलानी चाहिये, जिन्होंने कि शिरपर अग्नि धारण करनारूप शिरोव्रतका—जैसा कि अथर्ववेदियोंका वेदव्रत प्रसिद्ध है—विधिवत्—शास्त्रोक्त विधिके अनुसार अनुष्ठान किया है, उन्हींसे यह विद्या कहनी चाहिये ॥१०॥

उपसंहार

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

उस इस सत्यका पूर्वकालमें अङ्गिरा ऋषिने [शौनकजीको] उपदेश किया था। जिसने शिरोव्रतका अनुष्ठान नहीं किया वह इसका अध्ययन नहीं कर सकता। परमर्षियोंको नमस्कार है, परमर्षियोंको नमस्कार है ॥ ११ ॥

तदेतदक्षरं पुरुषं सत्यमृषिरङ्गिरा नाम पुरा पूर्वं शौनकाय विधिवदुपसन्नाय पृष्टवत उवाच। तद्वदन्योऽपि तथैव श्रेयोऽर्थिने मुमुक्षवे मोक्षार्थं विधिवदुपसन्नाय ब्रूयादित्यर्थः । नैतद्ग्रन्थरूपम् अचीर्णव्रतोऽचरितव्रतोऽप्यधीते

उस इस अक्षर पुरुष सत्यको अङ्गिरा नामक ऋषिने पूर्वकालमें अपने समीप विधिपूर्वक आये हुए प्रश्नकर्ता शौनकजीसे कहा था। उनके समान अन्य किसी गुरुको भी उसी प्रकार अपने समीप विधिपूर्वक आये हुए कल्याणकामी मुमुक्षु पुरुषको उसके मोक्षके लिये इसका उपदेश करना चाहिये—यह इसका तात्पर्य है। इस ग्रन्थरूप उपदेशका अचीर्णव्रत पुरुष—जिसने कि शिरोव्रतका आचरण न किया हो—अध्ययन नहीं कर

न पठति । चीर्णव्रतस्य हि विद्या फलाय संस्कृता भवतीति ।

सकता, क्योंकि जिसने उस व्रतका आचरण किया होता है उसीकी विद्या संस्कारसम्पन्न होकर फलवती होती है ।

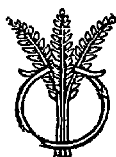
समाप्ता ब्रह्मविद्या, सा येभ्यो ब्रह्मादिभ्यः पारम्पर्यक्रमेण संप्राप्ता तेभ्यो नमः परमऋषिभ्यः परमं ब्रह्म साक्षाद्दृष्टवन्तो ये ब्रह्मादयोऽवगतवन्तश्च ते परमर्षयस्तेभ्यो भूयोऽपि नमः । द्विर्वचनमत्यादरार्थं मुण्डकसमाप्त्यर्थं च ॥ ११ ॥

यहाँ ब्रह्मविद्या समाप्त हुई । वह जिन ब्रह्मा आदिसे परम्पराक्रमसे प्राप्त हुई है उन परमर्षियोंको नमस्कार है । जिन्होंने परब्रह्मका साक्षात् दर्शन किया है और उसका बोध प्राप्त किया है वे ब्रह्मा आदि परम ऋषि हैं; उन्हें फिर भी नमस्कार है । यहाँ 'नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः' यह द्विरुक्ति ऋषियोंके अधिक आदर और मुण्डककी समाप्तिके लिये है ॥ ११ ॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये तृतीयमुण्डके
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

समाप्तमिदं तृतीयं मुण्डकम्

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावाथर्वणमुण्डकोपनिषद्भाष्यं समाप्तम् ॥





ॐ

प्रश्नोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित



गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९२ से १९९३ तक ७२५०
सं० १९९८ तृतीय संस्करण ३०००
सं० २००१ चतुर्थ संस्करण ३०००

मूल्य ।≈) सात आना

प्रस्तावना

प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेदीय ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है । इसका भाष्य आरम्भ करते हुए भगवान् भाष्यकार लिखते हैं—'अथर्ववेदके मन्त्रभागमें कही हुई [मुण्डक] उपनिषद्के अर्थका ही विस्तारसे अनुवाद करनेवाली यह ब्राह्मणोपनिषद् आरम्भ की जाती है ।' इससे विदित होता है कि प्रश्नोपनिषद् मुण्डकोपनिषद्में कहे हुए विषयकी ही पूर्तिके लिये है । मुण्डकके आरम्भमें विद्याके दो भेद परा और अपराका उल्लेख कर फिर समस्त ग्रन्थमें उन्हींकी व्याख्या की गयी है । उसमें दोनों विद्याओंका सविस्तर वर्णन है और प्रश्नमें उनकी प्राप्तिके साधनस्वरूप प्राणोपासना आदिका निरूपण है । इसलिये इसे उसकी पूर्ति करनेवाली कहा जाय तो उचित ही है ।

इस उपनिषद्के छः खण्ड हैं, जो छः प्रश्न कहे जाते हैं । ग्रन्थके आरम्भमें सुकेशा आदि छः ऋषिकुमार मुनिवर पिप्पलादके आश्रम-पर आकर उनसे कुछ पूछना चाहते हैं । मुनि उन्हें आज्ञा करते हैं कि अभी एक वर्ष यहाँ संयमपूर्वक रहो, उसके पीछे जिसे जो-जो प्रश्न करना हो पूछना । इससे दो बातें ज्ञात होती हैं; एक तो यह कि शिष्यको कुछ दिन अच्छी तरह संयमपूर्वक गुरुसेवामें रहनेपर ही विद्याग्रहणकी योग्यता प्राप्त होती है, अकस्मात् प्रश्नोत्तर करके ही कोई यथार्थ तत्त्वको ग्रहण नहीं कर सकता; तथा दूसरी बात यह है कि गुरुको भी शिष्यकी बिना पूरी तरह परीक्षा किये विद्याका उपदेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि अनधिकारीको किया हुआ उपदेश निरर्थक ही नहीं, कई बार हानिकर भी हो जाता है । इसलिये शिष्यके अधिकारका पूरी तरह विचारकर उसकी योग्यताके अनुसार ही उपदेश करना चाहिये ।

गुरुजीके आज्ञानुसार उन मुनिकुमारोंने वैसा ही किया और फिर एक-एकने अलग-अलग प्रश्न कर मुनिवरके समाधानसे कृत-कृत्यता लाभ की। उन छहोंके पृथक्-पृथक् संवाद ही इस उपनिषद्के छः प्रश्न हैं। उनमेंसे पहले प्रश्नमें रयि और प्राणके द्वारा प्रजापतिसे ही सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत्की उत्पत्तिका निरूपण किया गया है। प्रायः यह देखा ही जाता है कि प्रत्येक पदार्थ दो संयोग-धर्म-वाली वस्तुओंके संसर्गसे उत्पन्न होता है। उनमें भोक्ता या प्रधानको प्राण कहा गया है तथा भोग्य या गौणको रयि। ये दोनों जिसके आश्रित हैं उसे प्रजापति कहा गया है। इसी सिद्धान्तको लेकर भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें—जो कई प्रकारसे संसारके मूलतत्त्व माने जाते हैं—प्रजापति आदि दृष्टिका निरूपण किया गया है।

दूसरे प्रश्नमें स्थूलदेहके प्रकाशक और धारण करनेवाले प्राणका निरूपण है तथा एक आख्यायिकाद्वारा समस्त इन्द्रियोंकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता बतलायी है। तीसरे प्रश्नमें प्राणकी उत्पत्ति और स्थितिका विचार किया गया है। वहाँ बतलाया है कि जिस प्रकार पुरुषकी छाया होती है उसी प्रकार आत्मासे प्राणकी अभिव्यक्ति होती है और फिर जिस प्रकार सम्राट् भिन्न-भिन्न स्थानोंमें अधिकारियोंकी नियुक्ति कर उनके अधिपतिरूपसे स्वयं स्थित होता है उसी प्रकार यह भी भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें अपने ही अङ्गभूत अन्य प्राणोंको नियुक्त कर स्वयं उनका शासन करता है। वहीं यह भी बतलाया है कि मरणकालमें मनुष्यके सङ्कल्पानुसार यह प्राण ही उसे भिन्न-भिन्न लोकोंमें ले जाता है तथा जो लोग प्राणके रहस्यको जानकर उसकी उपासना करते हैं वे ब्रह्मलोकमें जाकर क्रममुक्तिके भागी होते हैं।

चौथे प्रश्नमें स्वप्नावस्थाका वर्णन करते हुए यह बतलाया गया है कि उस समय सूर्यकी किरणोंके समान सब इन्द्रियाँ मनमें ही लीन हो जाती हैं, केवल प्राण ही जागता रहता है। वहाँ उसके भिन्न-भिन्न भेदोंमें गार्हपत्यादिकी कल्पना कर उसमें अग्निहोत्रकी

भावना की गयी है। उस अवस्थामें जन्म-जन्मान्तरोंकी वासनाओंके अनुसार मन ही अपनी महिमाका अनुभव करता है तथा जिस समय वह पित्तसंज्ञक सौर तेजसे अभिभूत होता है उस समय स्वप्नावस्थासे निवृत्त होकर सुषुप्तिमें प्रवेश करता है और आत्मामें ही लीन हो जाता है। आत्माका यह सोपाधिकस्वरूप ही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता आदि है; इसका अधिष्ठान परब्रह्म है। उसका ज्ञान प्राप्त होनेपर पुरुष उसीको प्राप्त हो जाता है।

पाँचवें प्रश्नमें ओङ्कारका पर और अपर ब्रह्मके प्रतीकरूपसे वर्णन कर उसके द्वारा अपर ब्रह्मकी उपासना करनेवालेको क्रममुक्ति और परब्रह्मकी उपासना करनेवालेको परब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है तथा उसकी एक, दो या तीन मात्राओंकी उपासनासे प्राप्त होनेवाले भिन्न-भिन्न फलोंका निरूपण किया है। फिर छठे प्रश्नमें सुकेशाके प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य पिप्पलादने मुक्तावस्थामें प्राप्त होनेवाले निरुपाधिक ब्रह्मका प्राणादि सोलह कलाओंके आरोपपूर्वक प्रत्यगात्मरूपसे निरूपण किया है। वहाँ भगवान् भाष्यकारने आत्माके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न मतावलम्बियोंकी कल्पनाओंका निरसन करते हुए बड़ा युक्तियुक्त विवेचन किया है। यही संक्षेपमें इस उपनिषद्का सार है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि इस उपनिषद्में प्रधानतया पर और अपर ब्रह्मविषयक उपासनाका ही वर्णन है तथा परब्रह्मकी अपेक्षा अपर ब्रह्मके स्वरूपका विशेष विवेचन किया गया है। परब्रह्मके स्वरूपका विशद और स्फुट निरूपण तो मुण्डकोपनिषद्में हुआ है। अतः इस उपनिषद्का उद्देश्य उस तत्त्वज्ञानकी योग्यता प्राप्त कराना है; यह हृदयभूमिको इस योग्य बनाती है कि उसमें तत्त्वज्ञानरूपी अङ्कुर जम सके। इसके अनुशीलनद्वारा हम वह योग्यता प्राप्त कर सकें—ऐसी भगवान्से प्रार्थना है।

अनुवादक



श्रीहरिः

विषय-सूची

चतुर्थ प्रश्न

पञ्चम प्रश्न

षष्ठ प्रश्न





पिप्पलादके आश्रममें सुकेशादि मुनि

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

प्रश्नोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

इतः पूर्णं ततः पूर्णं पूर्णात्पूर्णं परात्परम् ।
पूर्णानन्दं प्रपद्येऽहं सद्गुरुं शङ्करं स्वयम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

हे देवगण ! हम कानोंसे कल्याणमय वचन सुनें । यज्ञकर्ममें समर्थ होकर नेत्रोंसे शुभ दर्शन करें । तथा स्थिर अङ्ग और शरीरोंसे स्तुति करनेवाले हमलोग देवताओंके लिये हितकर आयुका भोग करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

महान् कीर्तिमान् इन्द्र हमारा कल्याण करे, परम ज्ञानवान् [अथवा परम धनवान्] पूषा हमारा कल्याण करे, जो अरिष्टों (आपत्तियों) के लिये चक्रके समान [घातक] है वह गरुड हमारा कल्याण करे तथा बृहस्पतिजी हमारा कल्याण करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

प्रथम प्रश्न

सम्बन्धभाष्य

मन्त्रोक्तस्यार्थस्य विस्तरानुवादीदं ब्राह्मणमारभ्यते । ऋषिप्रश्नप्रतिवचनाख्यायिका तु विद्यास्तुतये । एवं संवत्सरब्रह्मचर्यसंवासादियुक्तैस्तपोयुक्तैर्ग्राह्या पिप्पलादादिवत्सर्वज्ञकल्पैराचार्यैर्वक्तव्या च, न सा येन केनचिदिति विद्यां स्तौति । ब्रह्मचर्यादिसाधनसूचनाच्च तत्कर्तव्यता स्यात् ।

अथर्वणमन्त्रोक्त [मुण्डकोपनिषद्के] अर्थका विस्तारपूर्वक अनुवाद करनेवाली यह ब्राह्मणभागीय उपनिषद् अब आरम्भ की जाती है* । इसमें जो ऋषियोंके प्रश्न और उत्तररूप आख्यायिका है वह विद्याकी स्तुतिके लिये है । यह विद्या आगे कहे प्रकारसे एक वर्षतक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुलमें रहना तथा तप आदि साधनोंसे युक्त पुरुषोंद्वारा ही ग्रहण की जानेयोग्य है तथा पिप्पलादके समान सर्वज्ञतुल्य आचार्योंसे ही कथन की जा सकती है, जिस किसीसे नहीं—इस प्रकार विद्याकी स्तुति की जाती है । तथा ब्रह्मचर्यादि साधनोंकी सूचना देनेसे उनकी कर्तव्यता भी प्राप्त होती है ।

सुकेशा आदिकी गुरूपसत्ति

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्म-

---

* दश उपनिषदोंमें प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य ये—तीन अथर्ववेदीय हैं । इनमें मुण्डक मन्त्रभागकी है तथा शेष दो ब्राह्मणभागकी हैं ।

न्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

भरद्वाजनन्दन सुकेशा, शिबिकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्रमें उत्पन्न हुआ सौर्यायणि (सूर्यका पोता), अश्वलकुमार कौसल्य, विदर्भदेशीय भार्गव और कत्यके पोतेका पुत्र कबन्धी—ये अपर ब्रह्मकी उपासना करनेवाले और तदनुकूल अनुष्ठानमें तत्पर छः ऋषिगण परब्रह्मके जिज्ञासु होकर भगवान् पिप्पलादके पास, यह सोचकर कि ये हमें उसके विषयमें सब कुछ बतला देंगे, हाथमें समिधा लेकर गये ॥ १ ॥

सुकेशा च नामतः, भरद्वाजस्यापत्यं भारद्वाजः; शैब्यश्च शिबेः अपत्यं शैब्यः सत्यकामो नामतः; सौर्यायणी सूर्यस्तस्यापत्यं सौर्यः तस्यापत्यं सौर्यायणिश्छान्दसः सौर्यायणीति, गार्ग्यो गर्गगोत्रोत्पन्नः; कौसल्यश्च नामतोऽश्वलस्यापत्यमाश्वलायनः; भार्गवो भृगोर्गोत्रापत्यं भार्गवो वैदर्भिः विदर्भे भवः; कबन्धी नामतः, कत्यस्यापत्यं कात्यायनः, विद्यमानः प्रपितामहो यस्य सः;

भरद्वाजका पुत्र भारद्वाज जो नामसे सुकेशा था; शिबिका पुत्र शैब्य जिसका नाम सत्यकाम था; सूर्यके पुत्रको 'सौर्य' कहते हैं उसका पुत्र सौर्यायणि जो गर्गगोत्रोत्पन्न होनेसे गार्ग्य कहलाता था—यहाँ 'सौर्यायणिः' के स्थानमें 'सौर्यायणी' [ईकारान्त] प्रयोग छान्दस है; अश्वलका पुत्र आश्वलायन जो नामसे कौसल्य था; भृगुका गोत्रज होनेसे भार्गव जो विदर्भदेशमें उत्पन्न होनेसे वैदर्भि कहलाता था तथा कबन्धी नामक कात्यायन—कत्यका [युवसंज्ञक[1]] अपत्य [यानी कत्यका प्रपौत्र] जिसका प्रपितामह अभी विद्यमान था। यहाँ 'युव' अर्थमें [गोत्रप्रत्ययान्त कात्य शब्दसे

१. 'जीवति तु वंश्ये युवा' (४ । १ । १६३) इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार पितामहके जीवित रहते जो पोतेके सन्तान होती हैं उसकी 'युवा' संज्ञा है।

युवप्रत्ययः । ते हैते ब्रह्मपरा अपरं ब्रह्म परत्वेन गतास्तदनुष्ठाननिष्ठाश्च ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः—किं तत् ? यन्नित्यं विज्ञेयमिति तत्प्राप्त्यर्थं यथाकामं यतिष्याम इत्येवं तदन्वेषणं कुर्वन्तस्तदधिगमायैष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीत्याचार्यमुपजग्मुः । कथम् ? ते ह समित्पाणयः समिद्भारगृहीतहस्ताः सन्तो भगवन्तं पिप्पलादमाचार्यमुपसन्ना उपजग्मुः ॥ १ ॥

'फक्' प्रत्यय होकर उसके स्थानमें 'आयन' आदेश] हुआ है। ये सब ब्रह्मपर अर्थात् अपर ब्रह्मको ही परभावसे प्राप्त हुए और तदनुकूल अनुष्ठानमें तत्पर अतएव ब्रह्मनिष्ठ ऋषिगण परब्रह्मका अन्वेषण करते हुए—वह ब्रह्म क्या है ? जो नित्य और विज्ञेय है; उसकी प्राप्तिके लिये ही हम यथेच्छ प्रयत्न करेंगे—इस प्रकार उसकी खोज करते हुए, उसे जाननेके लिये यह समझकर कि 'ये हमें सब कुछ बतला देंगे' आचार्यके पास गये। किस प्रकार गये ? [इसपर कहते हैं—] वे सब समित्पाणि अर्थात् जिन्होंने अपने हाथोंमें समिधाके भार उठा रक्खे हैं ऐसे होकर पूज्य आचार्य भगवान् पिप्पलादके समीप गये ॥१॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

कहते हैं, उस ऋषिने उनसे कहा—'तुम तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे युक्त होकर एक वर्ष और निवास करो; फिर अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना, यदि मैं जानता होऊँगा तो तुम्हें सब बतला दूँगा' ॥ २ ॥

तानेवमुपगतान्ह स किल ऋषिरुवाच भूयः पुनरेव यद्यपि यूयं पूर्वं तपस्विन एव तपसेन्द्रियसंयमेन तथापीह विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया चास्तिक्यबुद्ध्यादरवन्तः संवत्सरं कालं संवत्स्यथ सम्यग्गुरुशुश्रूषापराः सन्तो वत्स्यथ । ततो यथाकामं यो यस्य काममनतिक्रम्य यथाकामं यद्विषये यस्य जिज्ञासा तद्विषयान्प्रश्नान्पृच्छत । यदि तद्युष्मत्पृष्टं विज्ञास्यामः—अनुद्धतत्वप्रदर्शनार्थो यदिशब्दो नाज्ञानसंशयार्थः प्रश्ननिर्णयादवसीयते—सर्वं ह वो वः पृष्टं वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

इस प्रकार अपने समीप आये हुए उन लोगोंसे पिप्पलाद ऋषिने कहा—'यद्यपि तुमलोग पहलेसे ही तपस्वी हो तो भी तप—इन्द्रियसंयम, विशेषतः ब्रह्मचर्यसे तथा श्रद्धा यानी आस्तिकबुद्धिसे आदरयुक्त होकर गुरुशुश्रूषामें तत्पर रह एक वर्ष और भी निवास करो । फिर अपनी इच्छानुसार अर्थात् जिसकी जैसी इच्छा हो उसका अतिक्रमण न करते हुए—जिसकी जिस विषयमें जिज्ञासा हो उसी विषयमें प्रश्न करना । यदि मैं तुम्हारे पूछे हुए विषयको जानता होऊँगा तो तुम्हें तुम्हारी पूछी हुई सब बात बतला दूँगा ।' यहाँ 'यदि' शब्द अपनी नम्रता प्रकट करनेके लिये है अज्ञान या संशय प्रदर्शित करनेके लिये नहीं, जैसा कि आगे प्रश्नका निर्णय करनेसे स्पष्ट हो जाता है ॥ २ ॥



कबन्धीका प्रश्न—प्रजा किससे उत्पन्न होती है ?

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ । भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

तदनन्तर (एक वर्ष गुरुकुलवास करनेके पश्चात्) कात्यायन कबन्धीने गुरुजीके पास जाकर पूछा—'भगवन् ! यह सारी प्रजा किससे उत्पन्न होती है ?' ॥ ३ ॥

अथ संवत्सरादूर्ध्वं कबन्धी कात्यायन उपेत्योपगम्य पप्रच्छ पृष्टवान्। हे भगवन् कुतः कस्माद्ध वा इमा ब्राह्मणाद्याः प्रजाः प्रजायन्त उत्पद्यन्ते । अपरविद्याकर्मणोः समुच्चितयोर्यत्कार्यं या गतिस्तद्वक्तव्यमिति तदर्थोऽयं प्रश्नः ॥ ३ ॥

तदनन्तर एक वर्ष पीछे कात्यायन कबन्धीने [गुरुजीके] समीप जाकर पूछा—'भगवन् ! यह ब्राह्मणादि सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती है ?' अर्थात् अपरब्रह्मविषयक ज्ञान एवं कर्मके समुच्चयका जो कार्य है और उसकी जो गति है वह बतलानी चाहिये । उसीके लिये यह प्रश्न किया गया है ॥ ३ ॥

रयि और प्राणकी उत्पत्ति

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

उससे उस पिप्पलाद मुनिने कहा—'प्रसिद्ध है कि प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाले प्रजापतिने तप किया । उसने तप करके रयि और प्राण यह जोड़ा उत्पन्न किया [और सोचा—] ये दोनों ही मेरी अनेक प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करेंगे' ॥ ४ ॥

तस्मा एवं पृष्टवते स होवाच तदपाकरणायाह । प्रजाकामः प्रजा आत्मनः सिसृक्षुर्वै प्रजापतिः सर्वात्मा सञ्जगत्स्रक्ष्यामि

अपनेसे इस प्रकार प्रश्न करनेवाले कबन्धीसे उसकी शङ्का निवृत्त करनेके लिये पिप्पलाद मुनिने कहा—प्रजाकाम अर्थात् अपनी प्रजा रचनेकी इच्छावाले प्रजापतिने 'मैं सर्वात्मा होकर जगत्की रचना

इत्येवं विज्ञानवान्यथोक्तकारी तद्भावभावितः कल्पादौ निर्वृत्तो हिरण्यगर्भः सृज्यमानानां प्रजानां स्थावरजङ्गमानां पतिः सञ्जन्मान्तरभावितं ज्ञानं श्रुतिप्रकाशितार्थविषयं तपोऽन्वालोचयदतप्यत ।

करूँ' इस प्रकारके विज्ञानसे सम्पन्न, यथोक्त कर्म करनेवाला (जगद्रचनामें उपयुक्त ज्ञान और कर्मके समुच्चयका अनुष्ठान करनेवाला) तद्भावभावित (पूर्वकल्पीय प्रजापतित्वकी भावनासे सम्पन्न) और कल्पके आदिमें हिरण्यगर्भरूपसे उत्पन्न होकर तथा रची जानेवाली सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्रजाका पति होकर जन्मान्तरमें भावना किये श्रुत्यर्थविषयक ज्ञानरूप तपको तपा अर्थात् उस ज्ञानका स्मरण किया ।

अथ तु स एवं तपस्तप्त्वा श्रौतं ज्ञानमन्वालोच्य सृष्टिसाधनभूतं मिथुनमुत्पादयते मिथुनं द्वन्द्वमुत्पादितवान् । रयिं च सोममन्नं प्राणं चाग्निमत्तारम् एतावग्नीषोमावत्त्रन्नभूतौ मे मम बहुधानेकधा प्रजाः करिष्यत इत्येवं संचिन्त्याण्डोत्पत्तिक्रमेण सूर्याचन्द्रमसावकल्पयत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर इस प्रकार तपस्या कर अर्थात् श्रुतिप्रकाशित ज्ञानका स्मरण कर उसने सृष्टिके साधनभूत मिथुन—जोड़ेको उत्पन्न किया । उसने रयि यानी सोमरूप अन्न और प्राण यानी भोक्ता अग्निको रचा, अर्थात् यह सोचकर कि ये भोक्ता और भोग्यरूप अग्नि और सोम मेरी नाना प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करेंगे अण्डके उत्पत्तिक्रमसे सूर्य और चन्द्रमाको रचा ॥ ४ ॥

आदित्य और चन्द्रमामें प्राण और रयि-दृष्टि

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

निश्चय आदित्य ही प्राण है और रयि ही चन्द्रमा है। यह जो कुछ मूर्त्त (स्थूल) और अमूर्त्त (सूक्ष्म) है सब रयि ही है; अतः मूर्ति ही रयि है ॥ ५ ॥

तत्रादित्यो ह वै प्राणोऽत्ता अग्निः। रयिरेव चन्द्रमाः, रयिः एवान्नं सोम एव। तदेतदेकमत्ता चान्नं च, प्रजापतिरेकं तु मिथुनम्, गुणप्रधानकृतो भेदः। कथम्? रयिर्वा अन्नं वा एतत् सर्वम्; किं तद्यन्मूर्तं च स्थूलं चामूर्तं च सूक्ष्मं च मूर्तामूर्ते अत्त्रन्नरूपे रयिरेव। तस्मात्प्रविभक्ताद् अमूर्ताद्यदन्यन्मूर्तरूपं मूर्तिः सैव रयिरमूर्तेनाद्यमानत्वात् ॥ ५ ॥

यहाँ निश्चयपूर्वक आदित्य ही प्राण अर्थात् भोक्ता अग्नि है और रयि ही चन्द्रमा है। रयि ही अन्न है और वह चन्द्रमा ही है। यह भोक्ता (अग्नि) और अन्न एक ही है। एक प्रजापति ही यह मिथुनरूप हो गया है, इसमें भेद केवल गौण और प्रधान भावका ही है। सो किस प्रकार? [इसपर कहते हैं—] यह सब रयि—अन्न ही है। वह क्या है? यह जो मूर्त्त यानी स्थूल है और जो अमूर्त्त यानी सूक्ष्म है वह मूर्त्त और अमूर्त्त भोक्ता-भोग्यरूप होनेपर भी रयि ही है। अतः इस प्रकार विभक्त हुए अमूर्त्तसे अन्य जो मूर्त्तरूप है वही रयि—अन्न है क्योंकि वह अमूर्त्त भोक्तासे भोगा जाता है ॥ ५ ॥

तथामूर्तोऽपि प्राणोऽत्ता सर्वमेव यच्चाद्यम्। कथम्—

इसी प्रकार अमूर्त्त प्राणरूप भोक्ता भी जो कुछ अन्न है वह सभी है। किस प्रकार—

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

जिस समय सूर्य उदित होकर पूर्व दिशामें प्रवेश करता है तो उसके द्वारा वह पूर्व दिशाके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है। इसी प्रकार जिस समय वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर और अवान्तर दिशाओंको प्रकाशित करता है उससे भी वह उन सबके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है ॥ ६ ॥

अथादित्य उदयन्नुद्गच्छन् प्राणिनां चक्षुर्गोचरमागच्छन् यत्प्राचीं दिशं स्वप्रकाशेन प्रविशति व्याप्नोति; तेन स्वात्मव्याप्त्या सर्वांस्तत्स्थान्प्राणान् प्राच्यानन्तर्भूतान् रश्मिषु स्वात्मावभासरूपेषु व्याप्तिमत्सु व्याप्तत्वात्प्राणिनः संनिधत्ते संनिवेशयति; आत्मभूतान्करोति इत्यर्थः। तथैव यत्प्रविशति दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीमध ऊर्ध्वं यत्प्रविशति यच्चान्तरा दिशः कोणदिशोऽवान्तरदिशो यच्चान्यत् सर्वं प्रकाशयति तेन स्वप्रकाशव्याप्त्या सर्वान्सर्वदिक्स्थान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥६॥

जिस समय सूर्य उदित होकर—ऊपरकी ओर जाकर अर्थात् प्राणियोंके नेत्रोंका विषय होकर अपने प्रकाशसे पूर्व दिशामें प्रवेश करता है—उसे [अपने तेजसे] व्याप्त करता है; उसके द्वारा अपनी व्याप्तिसे वह उस (पूर्व दिशा) में स्थित सम्पूर्ण अन्तर्भूत प्राच्य प्राणोंको अपने अवभासरूप और सर्वत्र व्याप्त किरणोंमें व्याप्त होनेके कारण वह सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करता यानी अपनेमें प्रविष्ट कर लेता है, अर्थात् उन्हें आत्मभूत कर लेता है। इसी प्रकार जब वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे और ऊपरकी ओर प्रवेश करता है अथवा अवान्तर दिशाओंको—कोणस्थ दिशाएँ अवान्तर दिशाएँ हैं उनको या अन्य सबको प्रकाशित करता है तो अपने प्रकाशकी व्याप्तिसे वह सम्पूर्ण—समस्त दिशाओंमें स्थित प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण कर लेता है ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते । तदेत-दृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

वह यह (भोक्ता) वैश्वानर विश्वरूप प्राण अग्नि ही प्रकट होता है । यही बात ऋक्ने भी कही है ॥ ७ ॥

स एषोऽत्ता प्राणो वैश्वानरः सर्वात्मा विश्वरूपो विश्वात्मत्वाच्च प्राणोऽग्निश्च स एवात्तोदयत उद्गच्छति प्रत्यहं सर्वा दिश आत्मसात्कुर्वन् । तदेतदुक्तं वस्तु ऋचा मन्त्रेणाप्यभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

वह यह भोक्ता प्राण वैश्वानर (समष्टि जीवरूप), सर्वात्मा और सर्वरूप है तथा सर्वमय होनेके कारण ही प्राण और अग्निरूप है । वह भोक्ता ही प्रतिदिन सम्पूर्ण दिशाओंको आत्मभूत करता हुआ उदित होता अर्थात् ऊपरकी ओर जाता है । यह ऊपर कही बात ही ऋक् अर्थात् मन्त्रद्वारा भी कही गयी है ॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

सर्वरूप, रश्मिवान्, ज्ञानसम्पन्न, सबके आश्रय, ज्योतिर्मय, अद्वितीय और तपते हुए सूर्यको [विद्वानोंने अपने आत्मारूपसे जाना है] । यह सूर्य सहस्रों किरणोंवाला, सैकड़ों प्रकारसे वर्तमान और प्रजाओंके प्राणरूपसे उदित होता है ॥ ८ ॥

विश्वरूपं सर्वरूपं हरिणं रश्मिवन्तं जातवेदसं जातप्रज्ञानं परायणं सर्वप्राणाश्रयं ज्योतिरेकं सर्वप्राणिनां चक्षुर्भूतमद्वितीयं तपन्तं तापक्रियां कुर्वाणं स्वात्मानं सूर्यं सूरयो विज्ञातवन्तो ब्रह्मविदः । कोऽसौ यं विज्ञातवन्तः ? सहस्ररश्मिरनेकरश्मिः शतधानेकधा प्राणिभेदेन वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

विश्वरूप—सर्वरूप, हरिण—किरणवान्, जातवेदस—जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है, परायण—सम्पूर्ण प्राणोंके आश्रय, ज्योतिः—सम्पूर्ण प्राणियोंके नेत्रस्वरूप, एक—अद्वितीय और तपते हुए यानी तपन-क्रिया करते हुए सूर्यको ब्रह्मवेत्ताओंने अपने आत्मस्वरूपसे जाना है। जिसे इस प्रकार जाना है वह कौन है ? जो यह सहस्ररश्मि—अनेकों किरणोंवाला और सैकड़ों यानी अनेक प्रकारके प्राणिभेदसे वर्तमान तथा प्रजाओंका प्राणरूप सूर्य उदित होता है ॥८॥

संवत्सरादिमें प्रजापति आदि दृष्टि

यश्चासौ चन्द्रमा मूर्तिरन्नम् अमूर्तिश्च प्राणोऽत्तादित्यस्तदेकम् एतन्मिथुनं सर्वं कथं प्रजाः करिष्यत इति उच्यते—

यह जो चन्द्रमा—मूर्ति अर्थात् अन्न है और प्राण—भोक्ता अथवा सूर्य है यह एक ही जोड़ा सम्पूर्ण प्रजाको किस प्रकार उत्पन्न कर देगा ? इसपर कहते हैं—

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते । त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ९ ॥

संवत्सर ही प्रजापति है; उसके दक्षिण और उत्तर दो अयन हैं। जो लोग इष्टापूर्तरूप कर्ममार्गका अवलम्बन करते हैं वे चन्द्रलोकपर ही विजय पाते हैं और वे ही पुनः आवागमनको प्राप्त होते हैं; अतः ये सन्तानेच्छु ऋषिलोग दक्षिण मार्गको ही प्राप्त होते हैं। [इस प्रकार] जो पितृयाण है वही रयि है ॥ ९ ॥

तदेव कालः संवत्सरो वै प्रजापतिस्तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य। चन्द्रादित्यनिर्वर्त्यतिथ्यहोरात्रसमुदायो हि संवत्सरः तदनन्यत्वाद्रयिप्राणमिथुनात्मक एवेत्युच्यते। तत्कथम् ? तस्य संवत्सरस्य प्रजापतेरयने मार्गौ द्वौ दक्षिणं चोत्तरं च द्वे प्रसिद्धे ह्ययने षण्मासलक्षणे याभ्यां दक्षिणेनोत्तरेण च याति सविता केवलकर्मिणां ज्ञानसंयुक्तकर्मवतां च लोकान् विदधत्।

वह मिथुन ही संवत्सररूप काल है और वही प्रजापति है, क्योंकि संवत्सर उस मिथुनसे ही निष्पन्न हुआ है। चन्द्रमा और सूर्यसे निष्पन्न होनेवाली तिथि और दिन-रात्रिके समुदायका नाम ही संवत्सर है; अतः वह (संवत्सर) रयि और प्राणसे अभिन्न होनेके कारण मिथुनरूप ही कहा जाता है। सो किस प्रकार ? उस संवत्सर-नामक प्रजापतिके दक्षिण और उत्तर दो अयन—मार्ग हैं। ये छः-छः मासवाले दो अयन प्रसिद्ध ही हैं, जिनसे कि सूर्य केवल कर्मपरायण और ज्ञानसंयुक्त कर्म-परायण पुरुषोंके पुण्यलोकोंका विधान करता हुआ दक्षिण तथा उत्तर मार्गोंसे गमन करता है।

कथम् ? तत् तत्र च ब्राह्मणादिषु ये ह वै तदुपासत इति,

सो किस प्रकार ? इसपर कहते हैं—उन ब्राह्मणादिमें जो ऋषिलोग

क्रियाविशेषणो द्वितीयस्तच्छब्दः, इष्टं च पूर्तं चेष्टापूर्ते इत्यादि कृतमेवोपासते नाकृतं नित्यं ते चान्द्रमसं चन्द्रमसि भवं प्रजापतेर्मिथुनात्मकस्यांशं रयिमन्नभूतं लोकमभिजयन्ते कृतरूपत्वाच्चान्द्रमसस्य । ते तत्रैव च कृतक्षयात्पुनरावर्तन्ते "इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" (मु० उ० १ । २ । १०) इति ह्युक्तम् ।

यस्मादेवं प्रजापतिमन्नात्मकं फलत्वेनाभिनिर्वर्तयन्ति चन्द्रम् इष्टापूर्तकर्मणैत ऋषयः स्वर्गद्रष्टारः प्रजाकामाः प्रजार्थिनो गृहस्थास्तस्मात्स्वकृतमेव दक्षिणं दक्षिणायनोपलक्षितं चन्द्रं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिरन्नं यः पितृयाणः पितृयाणोपलक्षितः चन्द्रः ॥ ९ ॥

निश्चयपूर्वक उस इष्ट और पूर्त्त यानी इष्टापूर्त्त इत्यादि कृतकी ही उपासना करते हैं—अकृतकी नहीं करते वे सर्वदा चान्द्रमस—चन्द्रमामें ही होनेवाले यानी मिथुनात्मक प्रजापतिके अंश रयि अर्थात् अन्नभूत लोकको ही जीतते हैं, क्योंकि चन्द्रलोक कृत (कर्म) रूप है । श्रुतिमें दूसरा 'तत्' शब्द क्रियाविशेषण है । वे वहाँ ही अपने कर्मका क्षय होनेपर फिर लौट आते हैं, जैसा कि "इस (मनुष्य) लोक अथवा इससे भी निकृष्ट (तिर्यगादि) लोकमें प्रवेश करते हैं" इस [मुण्डक श्रुति] में कहा है ।

क्योंकि ऐसा है इसलिये ये सन्तानार्थी ऋषि—स्वर्गद्रष्टा गृहस्थलोग इष्ट और पूर्त्त कर्मोंद्वारा उनके फलरूपसे अन्नात्मक प्रजापति यानी चन्द्रलोकका ही निर्माण करते हैं; अतः वे अपने कर्मोंद्वारा उपार्जित दक्षिण यानी दक्षिणायनमार्गसे उपलक्षित चन्द्रलोकको ही प्राप्त होते हैं। यह जो पितृयाण अर्थात् पितृयाणसे उपलक्षित चन्द्रलोक है वह निश्चय रयि—अन्न ही है ॥ ९ ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते । एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

तथा तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्याद्वारा आत्माकी खोज करते हुए वे उत्तरमार्गद्वारा सूर्यलोकको प्राप्त होते हैं। यही प्राणोंका आश्रय है; यही अमृत है, यही अभय है और यही परा गति है। इससे फिर नहीं लौटते; अतः यही निरोधस्थान है। इस विषयमें यह [अगला] मन्त्र है—॥ १० ॥

अथोत्तरेणायनेन प्रजापतेः अंशं प्राणमत्तारमादित्यमभिजयन्ते; केन ? तपसेन्द्रियजयेन विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया च प्रजापत्यात्मविषयया आत्मानं प्राणं सूर्यं जगतस्तस्थुषश्चान्विष्याहमस्मीति विदित्वादित्यमभिजयन्तेऽभिप्राप्नुवन्ति। एतद्वा आयतनं सर्वप्राणानां सामान्यमायतनमाश्रयमेतदमृतमविनाशि। अभयमत एव भयवर्जितं न चन्द्रवत्क्षयवृद्धिभय-

तथा उत्तरायणसे वे प्रजापतिके अंश भोक्ता प्राणको यानी आदित्यको प्राप्त होते हैं। किस साधनसे प्राप्त होते हैं ? तप अर्थात् इन्द्रियजयसे; विशेषतः ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और प्रजापतितादात्म्यविषयक विद्यासे अर्थात् अपनेको स्थावर-जङ्गम जगत्के प्राण सूर्यरूपसे अनुसन्धानकर यानी यह समझकर कि यह [सूर्य] ही मैं हूँ आदित्यलोकपर विजय पाते अर्थात् उसे प्राप्त होते हैं।

निश्चय यही आयतन—सम्पूर्ण प्राणोंका सामान्य आयतन यानी आश्रय है। यही अमृत—अविनाशी है, अतः यह अभय—भयरहित है, चन्द्रमाके समान क्षय-वृद्धिरूप भययुक्त नहीं है तथा यही

वत् । एतत्परायणं परा गतिः विद्यावतां कर्मिणां च ज्ञानवताम् । एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते यथेतरे केवलकर्मिण इति । यस्मादेषोऽविदुषां निरोधः । आदित्याद्धि निरुद्धा अविद्वांसो नैते संवत्सरमादित्यमात्मानं प्राणमभिप्राप्नुवन्ति । स हि संवत्सरः कालात्माविदुषां निरोधः । तत्तत्रास्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रः ॥ १० ॥

उपासकोंकी और उपासनासहित कर्मानुष्ठान करनेवालोंकी परा गति है । इस पदको प्राप्त होकर अन्य केवल कर्मपरायणोंके समान फिर नहीं लौटते, क्योंकि यह अविद्वानोंके लिये निरोध है, क्योंकि उपासनाहीन पुरुष आदित्यसे रुके हुए हैं;* ये लोग आदित्यरूप संवत्सर यानी अपने आत्मा प्राणको प्राप्त नहीं होते। वह कालरूप संवत्सर ही अविद्वानोंका निरोधस्थान है । तहाँ इस विषयमें यह श्लोक यानी मन्त्र प्रसिद्ध है॥१०॥

आदित्यका सर्वाधिष्ठानत्व

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् । अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥

अन्य कालवेत्तागण इस आदित्यको पाँच पैरोंवाला, सबका पिता, बारह आकृतियोंवाला, पुरीषी (जलवाला) और द्युलोकके परार्द्धमें स्थित बतलाते हैं तथा ये अन्य लोग उसे सर्वज्ञ और उस सात चक्र और छः अरेवालेमें ही इस जगत्को अर्पित बतलाते हैं ॥ ११ ॥

पञ्चपादं पञ्चर्तवः पादा इवास्य संवत्सरात्मन आदित्यस्य तैरसौ पादैरिवर्तुभिरावर्तते ।

पाँच ऋतुएँ इस संवत्सररूप आदित्यके मानो चरण हैं; इसलिये यह पञ्चपाद है, क्योंकि उन ऋतुओंसे यह चरणोंके समान

---

* अर्थात् वे आदित्यमण्डलको वेधकर नहीं जा सकते ।

हेमन्तशिशिरावेकीकृत्येयं कल्पना । पितरं सर्वस्य जनयितृत्वात्पितृत्वं तस्य । तं द्वादशाकृतिं द्वादश मासा आकृतयोऽवयवा आकरणं वावयविकरणम् अस्य द्वादशमासैस्तं द्वादशाकृतिं दिवो द्युलोकात्पर ऊर्ध्वेऽर्धे स्थाने तृतीयस्यां दिवीत्यर्थः पुरीषिणं पुरीषवन्तमुदकवन्तमाहुः कालविदः ।

घूमता रहता है । यह [पाँच ऋतुओंकी] कल्पना हेमन्त और शिशिरको एक मानकर की है । सबका उत्पत्तिकर्ता होनेके कारण उसका पितृत्व है, इसलिये उसे पिता कहा है । बारह महीने उसकी आकृतियाँ, अवयव या आकार हैं अथवा बारह महीनोंद्वारा उसका अवयवीकरण (विभाग) किया जाता है, इसलिये उसे द्वादशाकृति कहा है, तथा वह द्युलोक यानी अन्तरिक्षसे परे—ऊपरके स्थानरूप तीसरे स्वर्गलोकमें स्थित हैं और पुरीषी—पुरीषवान् अर्थात् जलवाला है—ऐसा कालज्ञ पुरुष कहते हैं ।

अथ तमेवान्य इम उ परे कालविदो विचक्षणं निपुणं सर्वज्ञं सप्तचक्रे सप्तहयरूपेण चक्रे सततं गतिमति कालात्मनि षडरे षडृतुमत्याहुः सर्वमिदं जगत्कथयन्ति; अर्पितमरा इव रथनाभौ निविष्टमिति ।

तथा ये अन्य कालवेत्ता पुरुष उसीको विचक्षण—निपुण यानी सर्वज्ञ बतलाते हैं तथा सप्त अश्वरूप सात चक्र और षडृतुरूप छः अरोंवाले उस निरन्तर गतिशील कालात्मामें ही रथकी नाभिमें अरोंके समान इस सम्पूर्ण जगत्को अर्पित—निविष्ट बतलाते हैं ।

यदि पञ्चपादो द्वादशाकृतिर्यदि वा सप्तचक्रः षडरः सर्वथापि

चाहे पञ्चपाद और द्वादश आकृतियोंवाला हो अथवा सात चक्र और छः अरोंवाला हो सभी प्रकार

वा स्वात्मनो विच्छिद्यापनयन्ति; के ? ये दिवाहनि रत्या रतिकारणभूतया सह स्त्रिया संयुज्यन्ते मिथुनं मैथुनमाचरन्ति मूढाः। यत एवं तस्मात्तन्न कर्तव्यमिति प्रतिषेधः प्रासङ्गिकः। यद्रात्रौ संयुज्यन्ते रत्या ऋतौ ब्रह्मचर्यमेव तदिति प्रशस्तत्वादृतौ भार्यागमनं कर्तव्यमित्ययमपि प्रासङ्गिको विधिः। प्रकृतं तूच्यते—सोऽहोरात्रात्मकः प्रजापतिर्व्रीहियवाद्यन्नात्मना व्यवस्थितः ॥ १३ ॥

नष्ट करते हैं। कौन ? जो कि मूढ होकर दिनके समय रति—रतिकी कारणस्वरूपा स्त्रीसे संयुक्त होते हैं, अर्थात् मिथुन यानी मैथुन करते हैं। क्योंकि ऐसी बात है इसलिये ऐसा नहीं करना चाहिये—यह प्रासङ्गिक प्रतिषेध प्राप्त होता है। तथा ऋतुकालमें जो रात्रिके समय रतिसे संयुक्त होते हैं वह तो ब्रह्मचर्य ही है; अतः प्रशस्त होनेके कारण ऋतुकालमें ही स्त्रीगमन करना चाहिये—ऐसी यह प्रासङ्गिकी विधि है, अब प्रकृत विषय [अगले मन्त्रसे] कहा जाता है। वह अहोरात्रात्मक प्रजापति [इस प्रकार क्रमशः परिणामको प्राप्त होकर] व्रीहि और यव आदि अन्नरूपसे स्थित हुआ है ॥ १३ ॥

अन्नका प्रजापतित्व

एवं क्रमेण परिणम्य तत्—

इस प्रकार क्रमशः परिणामको प्राप्त होकर वह—

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

अन्न ही प्रजापति है; उसीसे वह वीर्य होता है और उस वीर्यहीसे यह संम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है ॥ १४ ॥

कृष्णपक्षेऽपीष्टं यागं कुर्वन्ति प्राणव्यतिरेकेण कृष्णपक्षस्तैर्न दृश्यते यस्मात् । इतरे तु प्राणं न पश्यन्तीत्यदर्शनलक्षणं कृष्णात्मानमेव पश्यन्ति । इतरस्मिन् कृष्णपक्ष एव कुर्वन्ति शुक्ले कुर्वन्तोऽपि ॥ १२ ॥

ऋषिलोग कृष्णपक्षमें भी [उसे शुक्लपक्षरूप समझकर ही] अपना इष्ट—याग किया करते हैं । तथा दूसरे ऋषि प्राणका दर्शन नहीं करते; इसलिये वे सबको अदर्शनात्मक कृष्णपक्षरूप ही देखते हैं और शुक्लपक्षमें यागानुष्ठान करते हुए भी इतर यानी कृष्णपक्षमें ही करते हैं ॥ १२ ॥

दिन-रातका प्रजापतित्व

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

दिन-रात भी प्रजापति हैं । उनमें दिन ही प्राण है और रात्रि ही रयि है । जो लोग दिनके समय रतिके लिये [स्त्रीसे] संयुक्त होते हैं वे प्राणकी ही हानि करते हैं और जो रात्रिके समय रतिके लिये [स्त्रीसे] संयोग करते हैं वह तो ब्रह्मचर्य ही है ॥ १३ ॥

सोऽपि मासात्मा प्रजापतिः स्वावयवेऽहोरात्रे परिसमाप्यते । अहोरात्रो वै प्रजापतिः पूर्ववत् । तस्याप्यहरेव प्राणोऽत्ताग्नी रात्रिरेव रयिः पूर्ववत् । प्राणमहरात्मानं वा एते प्रस्कन्दन्ति निर्गमयन्ति शोषयन्ति

वह मासात्मक प्रजापति भी अपने अवयवरूप दिन-रात्रिमें समाप्त हो जाता है । पहलेकी तरह अहोरात्रि भी प्रजापति है—उसका भी दिन ही प्राण—भोक्ता यानी अग्नि है और पूर्ववत् रात्रि ही रयि है । वे लोग दिनरूप प्राणको ही क्षीण करते—निकालते—सुखाते अथवा अपनेसे पृथक् करके

निपातौ—तत्प्रजापतेर्व्रतं प्रजापतिव्रतमृतौ भार्यागमनं चरन्ति कुर्वन्ति तेषां दृष्टफलमिदम् । किम् ? ते मिथुनं पुत्रं दुहितरं चोत्पादयन्ते । अदृष्टं च फलमिष्टापूर्तदत्तकारिणां तेषामेव एष यश्चान्द्रमसो ब्रह्मलोकः पितृयाणलक्षणो येषां तपः स्नातकव्रतादीनि, ब्रह्मचर्यम्—ऋतौ अन्यत्र मैथुनासमाचरणं ब्रह्मचर्यम्, येषु च सत्यमनृतवर्जनं प्रतिष्ठितमव्यभिचारितया वर्तते नित्यमेव ॥१५॥

ऋतुकालमें स्त्रीगमन करते हैं—यहाँ 'ह' और 'वै' ये निपात प्रसिद्धका स्मरण दिलानेके लिये हैं—उन (ऋतुकालाभिगामियों) को यह दृष्ट फल मिलता है । क्या फल मिलता है ? वे मिथुन यानी पुत्र और कन्या उत्पन्न करते हैं । [इस दृष्ट फलके सिवा] उन इष्ट, पूर्त और दत्त कर्मकर्ताओंको, जिनमें कि स्नातकव्रतादि तप, ऋतुकालसे अन्य समय स्त्रीगमन न करनारूप ब्रह्मचर्य और असत्यत्यागरूप सत्य अव्यभिचरितरूपसे प्रतिष्ठित है यह अदृश्य फल मिलता है जो कि चन्द्रलोकमें स्थित पितृयाणरूप ब्रह्मलोक है ॥ १५ ॥

यस्तु पुनरादित्योपलक्षित उत्तरायणः प्राणात्मभावो विरजः शुद्धो न चन्द्रब्रह्मलोकवद्रजस्वलो वृद्धिक्षयादियुक्तोऽसौ तेषां केषामित्युच्यते—

किन्तु जो चन्द्रलोकसम्बन्धी ब्रह्मलोकके समान मलयुक्त और वृद्धिक्षय आदिसे युक्त नहीं है बल्कि सूर्यसे उपलक्षित उत्तरायणसंज्ञक विरज—विशुद्ध प्राणात्मभाव है वह उन्हें प्राप्त होता है; किन्हें प्राप्त होता है ? इसपर कहा जाता है—

उत्तरमार्गावलम्बियोंकी गति

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

अन्नं वै प्रजापतिः । कथम् ? ततस्तस्माद्ध वै रेतो नृबीजं तत्प्रजाकारणं तस्माद्योषिति सिक्तादिमा मनुष्यादिलक्षणाः प्रजाः प्रजायन्ते ।

यत्पृष्टं कुतो ह वै प्रजाः प्रजायन्त इति । तदेवं चन्द्रादित्यमिथुनादिक्रमेणाहोरात्रान्तेनान्नासृग्रेतोद्वारेणेमाः प्रजाः प्रजायन्त इति निर्णीतम् ॥ १४ ॥

अन्न ही प्रजापति है । किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—] उस अन्नसे ही प्रजाका कारणरूप रेत—पुरुषका वीर्य उत्पन्न होता है; और स्त्रीकी योनिमें सींचे गये उस वीर्यसे ही यह मनुष्यादिरूप प्रजा उत्पन्न होती है ।

हे कबन्धिन् ! तूने जो पूछा था कि यह सम्पूर्ण प्रजा कहाँसे उत्पन्न होती है ? सो चन्द्रमा और आदित्यरूप मिथुनसे लेकर अहोरात्रपर्यन्त क्रमसे अन्न, रक्त एवं वीर्यके द्वारा ही यह सारी प्रजा उत्पन्न होती है—ऐसा निर्णय हुआ ॥ १४ ॥

प्रजापतिव्रतका फल

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार जो भी उस प्रजापतिव्रतका आचरण करते हैं वे [कन्या-पुत्ररूप] मिथुनको उत्पन्न करते हैं । जिनमें कि तप और ब्रह्मचर्य है तथा जिनमें सत्य स्थित है उन्हींको यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

तत्तत्रैवं सति ये गृहस्थाः— 'ह वै' इति प्रसिद्धस्मरणार्थौ

ऐसी स्थिति होनेके कारण जो गृहस्थ उस प्रजापतिव्रत—प्रजापतिके व्रतका आचरण करते हैं, यानी

द्वितीय प्रश्न

भार्गवका प्रश्न—प्रजाके आधारभूत कौन-कौन देवगण हैं ?

प्राणोऽत्ता प्रजापतिरित्युक्तम् । तस्य प्रजापतित्वमत्तृत्वं च अस्मिञ्शरीरेऽवधारयितव्यमिति अयं प्रश्न आरभ्यते—

प्राण भोक्ता प्रजापति है—यह पहले कहा । उसका प्रजापतित्व और भोक्तृत्व इस शरीरमें ही निश्चित करना चाहिये—इसीलिये यह प्रश्न आरम्भ किया जाता है—

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन्कत्येव देवाः प्रजा विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १ ॥

तदनन्तर उन पिप्पलाद मुनिसे विदर्भदेशीय भार्गवने पूछा—'भगवन् ! इस प्रजाको कितने देवता धारण करते हैं ? उनमेंसे कौन-कौन इसे प्रकाशित करते हैं ? और कौन उनमें सर्वश्रेष्ठ है ? ॥ १ ॥

अथानन्तरं ह किलैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । हे भगवन् कत्येव देवाः प्रजां शरीरलक्षणां विधारयन्ते विशेषेण धारयन्ते । कतरे बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियविभक्तानामेतत्प्रकाशनं स्वमाहात्म्यप्रख्यापनं प्रकाशयन्ते । कोऽसौ पुनरेषां वरिष्ठः प्रधानः कार्यकरणलक्षणानामिति ॥ १ ॥

तदनन्तर उनसे विदर्भदेशीय भार्गवने पूछा—'हे भगवन् ! इस शरीररूप प्रजाको कितने देवता विधारण करते यानी विशेषरूपसे धारण करते हैं, तथा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंमें विभक्त हुए उन देवताओंमेंसे कौन इसे प्रकाशित करते हैं—अपने माहात्म्यको प्रकट करना ही प्रकाशन है—और इन भूत एवं इन्द्रिय देवताओंमेंसे कौन सर्वश्रेष्ठ यानी प्रधान है ?' ॥ १ ॥

जिनमें कुटिलता, अनृत और माया (कपट) नहीं है उन्हें यह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

यथा गृहस्थानामनेकविरुद्ध-संव्यवहारप्रयोजनवत्त्वाज्जिह्मं कौटिल्यं वक्रभावोऽवश्यंभावि तथा न येषु जिह्मम्। यथा च गृहस्थानां क्रीडानर्मादिनिमित्त-मनृतमवर्जनीयं तथा न येषु तत्। तथा माया गृहस्था-नामिव न येषु विद्यते। माया नाम बहिरन्यथा-त्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा माया मिथ्याचार-रूपा। मायेत्येवमादयो दोषा येष्वधिकारिषु ब्रह्मचारिवानप्रस्थ-भिक्षुषु निमित्ताभावान्न विद्यन्ते तत्साधनानुरूपेणैव तेषा-मसौ विरजो ब्रह्मलोक इत्येषा ज्ञानयुक्तकर्मवतां गतिः। पूर्वोक्त-स्तु ब्रह्मलोकः केवलकर्मिणां चन्द्रलक्षण इति ॥ १६ ॥

जिस प्रकार अनेकों विरुद्ध व्यवहाररूप प्रयोजनवाला होनेसे गृहस्थमें जिह्म—कुटिलता यानी वक्रता होना निश्चित है उस प्रकार जिनमें जिह्म नहीं है, गृहस्थोंमें जिस प्रकार क्रीडादि-निमित्तसे होनेवाला अनृत अनिवार्य है वैसा जिनमें अनृत नहीं है तथा जिनमें गृहस्थोंके समान मायाका भी अभाव है। अपने-आपको बाहरसे अन्य प्रकार प्रकट करते हुए जो अन्यथा कार्य करना है वही मिथ्याचाररूपा माया है। इस प्रकार जिन एकान्तनिष्ठ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और भिक्षुओंमें, कोई निमित्त न रहनेके कारण, माया आदि दोष नहीं हैं उन्हें उनके साधनोंकी अनुरूपतासे ही यह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इस प्रकार यह ज्ञान (उपासना) सहित कर्मानुष्ठान करनेवालोंकी गति कही। पूर्वोक्त चन्द्रमारूप ब्रह्मलोक तो केवल कर्मठोंके लिये ही कहा है ॥ १६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये प्रथमः प्रश्नः ॥१॥

इव स्तम्भादयोऽविशिथिलीकृत्य विधारयामो विस्पष्टं धारयामः । मयैवैकेनायं संघातो ध्रियत इत्येकैकस्याभिप्रायः ॥ २ ॥

महलको स्तम्भ धारण करते हैं उसी प्रकार, आश्रय देकर उसे शिथिल न होने देकर हम स्पष्टरूपसे धारण करते हैं । उनमेंसे प्रत्येकका यही अभिप्राय रहता है कि इस संघातको अकेले मैंने ही धारण किया है ॥२॥

प्राणका प्राधान्य बतलानेवाली आख्यायिका

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥ ३ ॥

[एक बार] उनसे सर्वश्रेष्ठ प्राणने कहा—'तुम मोहको प्राप्त मत होओ; मैं ही अपनेको पाँच प्रकारसे विभक्त कर इस शरीरको आश्रय देकर धारण करता हूँ ।' किन्तु उन्होंने उसका विश्वास न किया ॥ ३ ॥

तानेवमभिमानवतो वरिष्ठो मुख्यः प्राण उवाचोक्तवान् । मा मैवं मोहमापद्यथ अविवेकितया अभिमानं मा कुरुत यस्मादहमेव एतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि पञ्चधात्मानं प्रविभज्य प्राणादिवृत्तिभेदं स्वस्य कृत्वा विधारयामीत्युक्तवति च तस्मिंस्तेऽश्रद्दधाना अप्रत्ययवन्तो बभूवुः कथमेतदेवमिति ॥ ३ ॥

इस प्रकार अभिमानयुक्त हुए उन देवोंसे वरिष्ठ—मुख्य प्राणने कहा—'इस प्रकार मोहको प्राप्त मत होओ अर्थात् अविवेकके कारण अभिमान मत करो, क्योंकि अपनेको पाँच भागोंमें विभक्त कर—अपने प्राणादि पाँच वृत्तिभेद कर मैं ही इस शरीरको आश्रय देकर धारण करता हूँ ।' उसके ऐसा कहनेपर वे उसके कथनमें अश्रद्धालु—अविश्वासी ही रहे कि ऐसा कैसे हो सकता है ? ॥ ३ ॥

शरीरके आधारभूत—आकाशादि

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥

तब उससे आचार्य पिप्पलादने कहा—वह देव आकाश है । वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाक् (सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियाँ), मन (अन्तःकरण) और चक्षु (ज्ञानेन्द्रियसमूह) [ये भी देव ही हैं] । वे सभी अपनी महिमाको प्रकट करते हुए कहते हैं—'हम ही इस शरीरको आश्रय देकर धारण करते हैं' ॥ २ ॥

एवं पृष्टवते तस्मै स होवाच आकाशो ह वा एष देवो वायुः अग्निः आपः पृथिवीत्येतानि पञ्च महाभूतानि शरीरारम्भकाणि वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रमित्यादीनि कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियाणि च । कार्यलक्षणाः करणलक्षणाश्च ते देवा आत्मनो माहात्म्यं प्रकाश्याभिवदन्ति स्पर्धमाना अहं श्रेष्ठतायै ।

इस प्रकार पूछते हुए उस भार्गवसे पिप्पलादने कहा—निश्चय आकाश ही वह देव है तथा [उसके सहित] वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये शरीरको आरम्भ करनेवाले पाँच भूत एवं वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियाँ—ये कार्य (पञ्चभूत) और करण (इन्द्रिय) रूप देव अपनी महिमाको प्रकट करते हुए अपनी-अपनी श्रेष्ठताके लिये परस्पर स्पर्धापूर्वक कहते हैं ।

कथं वदन्ति ? वयमेतद्बाणं कार्यकरणसंघातमवष्टभ्य प्रासादम्

किस प्रकार कहते हैं ? [सो बतलाते हैं—] इस कार्यकरणके संघातरूप शरीरको, जिस प्रकार

तत्तत्र यथा लोके मक्षिका मधुकराः स्वराजानं मधुकरराजानम् उत्क्रामन्तं प्रति सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते प्रतितिष्ठन्ति। यथायं दृष्टान्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं चेत्यादयस्त उत्सृज्याश्रद्धानतां बुद्ध्वा प्राणमाहात्म्यं प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति स्तुवन्ति ४

मधुमक्खिकाएँ अपने सरदार मधुकरराजके उठनेके साथ ही सब-की-सब उठ जाती हैं और उसके बैठनेपर सब-की-सब बैठ जाती हैं। जैसा यह दृष्टान्त है। वैसे ही वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी हो गये। तब वे वागादि अपने अविश्वासको छोड़कर और प्राणकी महिमाको जानकर सन्तुष्ट हो प्राणकी स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

कथम्—

किस प्रकार [स्तुति करने लगे, सो बतलाते हैं—]

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः ।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥५॥

यह प्राण अग्नि होकर तपता है, यह सूर्य है, यह मेघ है, यही इन्द्र और वायु है तथा यह देव ही पृथिवी, रयि और जो कुछ सत्, असत् एवं अमृत है, वह सब कुछ है ॥ ५ ॥

एष प्राणोऽग्निः संस्तपति ज्वलति। तथैष सूर्यःसन् प्रकाशते, तथैष पर्जन्यः सन् वर्षति। किं च मघवानिन्द्रः सन् प्रजाः पालयति, जिघांसत्यसुररक्षांसि। एष वायुः

यह प्राण अग्नि होकर तपता—प्रज्वलित होता है। तथा यह सूर्य होकर प्रकाशित होता है और मेघ होकर बरसता है। यही मघवा—इन्द्र होकर प्रजाका पालन करता तथा असुर और राक्षसोंका वध करना चाहता है। यही आवह-

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

तब वह अभिमानपूर्वक मानो ऊपरको उठने लगा। उसके ऊपर उठनेके साथ और सब भी उठने लगे, तथा उसके स्थित होनेपर सब स्थित हो जाते। जिस प्रकार मधुकरराजके ऊपर उठनेपर सभी मक्खियाँ ऊपर चढ़ने लगती हैं और उसके बैठ जानेपर सभी बैठ जाती हैं उसी प्रकार वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी [प्राणके साथ उठने और प्रतिष्ठित होने लगे]। तब वे सन्तुष्ट होकर प्राणकी स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

स च प्राणस्तेषामश्रद्दधानतामालक्ष्याभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इवेदमुत्क्रान्तवानिव सरोषान्निरपेक्षस्तस्मिन्नुत्क्रामति यद्वृत्तं तद्दृष्टान्तेन प्रत्यक्षीकरोति। तस्मिन्नुत्क्रामति सत्यथानन्तरम् एवेतरे सर्व एव प्राणाश्चक्षुरादय उत्क्रामन्त उच्चक्रमिरे। तस्मिंश्च प्राणे प्रतिष्ठमाने तूष्णीं भवति अनुत्क्रामति सति सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तूष्णीं व्यवस्थिता अभूवन्।

तब वह प्राण उनकी अश्रद्धालुताको देखकर क्रोधवश निरपेक्ष हो अभिमानपूर्वक मानो ऊपरको उठने लगा। उसके ऊपर उठनेपर जो कुछ हुआ उसे दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—उसके ऊपर उठनेके अनन्तर ही चक्षु आदि अन्य सभी प्राण (इन्द्रियाँ) उत्क्रमण करने यानी उठने लगे। तथा उस प्राणके ही स्थित होने—चुप होने यानी उत्क्रमण न करनेपर वे सभी स्थित हो जाते—चुपचाप बैठ जाते थे, जैसे कि इस लोकमें

किं च—

तथा—

प्राणकी स्तुति

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥

हे प्राण ! तू ही प्रजापति है, तू ही गर्भमें सञ्चार करता है, और तू ही जन्म ग्रहण करता है । यह [मनुष्यादि] सम्पूर्ण प्रजा तुझे ही बलि समर्पण करती है । क्योंकि तू समस्त इन्द्रियोंके साथ स्थित रहता है ॥ ७ ॥

यः प्रजापतिरपि स त्वमेव गर्भे चरसि, पितुर्मातुश्च प्रतिरूपः सन्प्रतिजायसे; प्रजापतित्वादेव प्रागेव सिद्धं तव मातृपितृत्वम् सर्वदेहदेह्याकृतिच्छन्नैकः प्राणः सर्वात्मासीत्यर्थः । तुभ्यं त्वदर्थं या इमा मनुष्याद्याः प्रजास्तु हे प्राण चक्षुरादिद्वारैर्बलिं हरन्ति । यस्त्वं प्राणैश्चक्षुरादिभिः सह प्रतितिष्ठसि सर्वशरीरेष्वतस्तुभ्यं बलिं हरन्तीति युक्तम्; भोक्ता हि यतस्त्वं तवैवान्यत्सर्वं भोज्यम् ॥ ७ ॥

जो प्रजापति है वह भी तू ही है; तू ही गर्भमें सञ्चार करता है और माता-पिताके अनुरूप होकर तू ही जन्म लेता है । प्रजापति होनेके कारण तेरा माता-पितारूप होना तो पहलेसे ही सिद्ध है । तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण देह और देहीके मिषसे एक तू प्राण ही सर्वात्मा है । ये जो मनुष्यादि प्रजाएँ हैं, हे प्राण ! वे चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा तुझे ही बलि समर्पण करती हैं, जो तू कि चक्षु आदि इन्द्रियोंके साथ समस्त शरीरोंमें स्थित है; अतः वे तुझे ही बलि समर्पण करती हैं, उनका ऐसा करना उचित ही है, क्योंकि भोक्ता तू ही है, और अन्य सब तेरा ही भोज्य है ॥ ७ ॥

आवहप्रवहादिभेदः । किं चैष पृथिवी रयिर्देवः सर्वस्य जगतः सन्मूर्तमसदमूर्तं चामृतं च यद्देवानां स्थितिकारणं किं बहुना ।५।

प्रवह आदि भेदोंवाला वायु है। अधिक क्या यह देव ही पृथिवी और रयि (चन्द्रमा) रूपसे सम्पूर्ण जगत्‌का धारक और पोषक है। सत्—स्थूल, असत्—सूक्ष्म और देवताओंकी स्थितिका कारणरूप अमृत भी यही है ॥ ५ ॥

प्राणका सर्वाश्रयत्व

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥

जैसे रथकी नाभिमें अरे लगे रहते हैं उसी तरह ऋक्, यजुः, साम, यज्ञ तथा क्षत्रिय और ब्राह्मण—ये सब प्राणमें ही स्थित हैं ॥ ६ ॥

अरा इव रथनाभौ श्रद्धादि नामान्तं सर्वं स्थितिकाले प्राण एव प्रतिष्ठितम् । तथर्चो यजूंषि सामानीति त्रिविधा मन्त्राः तत्साध्यश्च यज्ञः क्षत्रं च सर्वस्य पालयितृ ब्रह्म च यज्ञादिकर्मकर्तृत्वेऽधिकृतं चैवैष प्राणः सर्वम् ॥ ६ ॥

जिस प्रकार रथकी नाभिमें अरे लगे होते हैं उसी प्रकार जगत्‌के स्थितिकालमें [प्रश्न० ६ । ४ में बतलाये जानेवाले] श्रद्धासे लेकर नामपर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थ प्राणमें ही स्थित हैं। तथा ऋक्, यजुः और साम—तीन प्रकारके मन्त्र, उनसे निष्पन्न होनेवाला यज्ञ, सबका पालन करनेवाले क्षत्रिय और यज्ञादि कर्मोंके अधिकारी ब्राह्मण—ये सब भी प्राण ही हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

हे प्राण ! तू इन्द्र है, अपने [संहारक] तेजके कारण रुद्र है, और [सौम्यरूपसे] सब ओरसे रक्षा करनेवाला है । तू ज्योतिर्गणका अधिपति सूर्य है और अन्तरिक्षमें सञ्चार करता है ॥ ९ ॥

इन्द्रः परमेश्वरस्त्वं हे प्राण तेजसा वीर्येण रुद्रोऽसि संहरञ्जगत् । स्थितौ च परि समन्ताद्रक्षिता पालयिता परिरक्षिता त्वमेव जगतः सौम्येन रूपेण । त्वमन्तरिक्षेऽजस्रं चरसि उदयास्तमयाभ्यां सूर्यस्त्वमेव च सर्वेषां ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

हे प्राण ! तू इन्द्र—परमेश्वर है, तू अपने तेज—वीर्यसे जगत्का संहार करनेवाला रुद्र है तथा स्थितिके समय अपने सौम्यरूपसे तू ही सब ओरसे संसारकी रक्षा—पालन करनेवाला है । तू ही उदय और अस्तके क्रमसे निरन्तर आकाशमें गमन करता है और तू ही समस्त ज्योतिर्गणोंका अधिपति सूर्य है ॥ ९ ॥



यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥

हे प्राण ! जिस समय तू मेघरूप होकर बरसता है उस समय तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा यह समझकर कि 'अब यथेच्छ अन्न होगा' आनन्दरूपसे स्थित होती है ॥ १० ॥

यदा पर्जन्यो भूत्वाभिवर्षसि त्वमथ तदान्नं प्राप्येमाः प्रजाः प्राणते प्राणचेष्टां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

जिस समय तू मेघ होकर बरसता है उस समय यह सम्पूर्ण प्रजा अन्न पाकर प्राणन यानी प्राणक्रिया करती है—यह इसका

किं च— | तथा—

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥

तू देवताओंके लिये वह्नितम है, पितृगणके लिये प्रथम स्वधा है और अथर्वाङ्गिरस ऋषियों [यानी चक्षु आदि प्राणों] के लिये सत्य आचरण है ॥ ८ ॥

देवानामिन्द्रादीनामसि भवसि त्वं वह्नितमो हविषां प्रापयितृतमः । पितॄणां नान्दीमुखे श्राद्धे या पितृभ्यो दीयते स्वधान्नं सा देवप्रधानमपेक्ष्य प्रथमा भवति । तस्या अपि पितृभ्यः प्रापयिता त्वमेवेत्यर्थः किं चर्षीणां चक्षुरादीनां प्राणानामङ्गिरसामङ्गिरसभूतानामथर्वणां तेषामेव "प्राणो वाथर्वा" इति श्रुतेः, चरितं चेष्टितं सत्यमवितथं देहधारणाद्युपकारलक्षणं त्वमेवासि ॥ ८ ॥

तू इन्द्रादि देवताओंके लिये वह्नितम—हवियोंको पहुँचानेवालोंमें श्रेष्ठ है, पितृगणकी प्रथम स्वधा है—नान्दीमुख श्राद्धमें पितरोंको जो अन्नमयी स्वधा दी जाती है वह देवप्रधान कर्मकी अपेक्षासे प्रथम है, उस प्रथम स्वधाको भी पितरोंको प्राप्त करानेवाला तू ही है—ऐसा इसका भावार्थ है । तथा ऋषियों यानी चक्षु आदि प्राणोंका, जो कि "प्राणो वाथर्वा" इस श्रुतिके अनुसार अङ्गिरस्—अङ्गके रसस्वरूप* अथर्वा हैं, उनका सत्य—अवितथ अर्थात् देहधारणादिमें उपकारी चरित—आचरण भी तू ही है ॥ ८ ॥

* प्राणोंके अभावमें शरीरको सूखते देखा गया है; अतः उन्हें अङ्गका रस कहते हैं ।

सतो विद्यमानस्य पतिः सत्पतिः। साधुर्वा पतिः सत्पतिः। वयं पुनराद्यस्य तवादनीयस्य हविषो दातारः। त्वं पिता मातरिश्व हे मातरिश्वन्नोऽस्माकम्। अथ वा मातरिश्वनो वायोस्त्वम्। अतश्च सर्वस्यैव जगतः पितृत्वं सिद्धम्॥ ११॥

तू ही समस्त विद्यमान जगत्का पति है इसलिये, अथवा [सत्का] साधु पति होनेके कारण तू सत्पति है। हम तो तेरे आद्य—भक्ष्य हविके देनेवाले हैं। हे मातरिश्वन्! तू हमारा पिता है। अथवा [यों समझो कि] तू 'मातरिश्वन:'—वायुका पिता है। अतः तुझमें सम्पूर्ण जगत्का पितृत्व सिद्ध होता है॥ ११॥

किं बहुना—

अधिक क्या—

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥१२॥

तेरा जो स्वरूप वाणीमें स्थित है तथा जो श्रोत्र, नेत्र और मनमें व्याप्त है उसे तू शान्त कर। तू उत्क्रमण न कर॥ १२॥

या ते त्वदीया तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता वक्तृत्वेन वदनचेष्टां कुर्वती, या श्रोत्रे या च चक्षुषि या च मनसि सङ्कल्पादिव्यापारेण सन्तता समनुगता तनूस्तां शिवां शान्तां कुरु मोत्क्रमीरुत्क्रमणेन अशिवां मा कार्षीरित्यर्थः॥१२॥

तेरा जो स्वरूप वक्तारूपसे बोलनेकी चेष्टा करता हुआ वाणीमें स्थित है तथा जो श्रोत्र, नेत्र और सङ्कल्पादि व्यापारसे मनमें व्याप्त है उसे शिव—शान्त कर। उत्क्रमण न कर, अर्थात् उत्क्रमण करके उसे अशिव—अमङ्गलमय न कर॥ १२॥

अथवा प्राण ते तवेमाः प्रजाः स्वात्मभूतास्त्वदन्नसंवर्धितास्त्वदभिवर्षणदर्शनमात्रेण चानन्दरूपाः सुखं प्राप्ता इव सत्यः तिष्ठन्ति कामायेच्छातोऽन्नं भविष्यतीत्येवमभिप्रायः ॥ १० ॥

भावार्थ है। अथवा [यों समझो कि] हे प्राण! 'ते'—तेरा स्वात्मभूत यह प्रजावर्ग तेरे [दिये हुए] अन्नसे वृद्धिको प्राप्त होकर तेरी वृष्टिके दर्शनमात्रसे आनन्दरूप अर्थात् सुखको प्राप्त हुएके समान स्थित है। उसके आनन्दरूप होनेमें यह अभिप्राय है कि [उस वृष्टिसे उसे ऐसी आशा हो जाती है कि] 'अब यथेच्छ अन्न उत्पन्न होगा' ॥ १० ॥



किं च— | इसके सिवा—

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥ ११ ॥

हे प्राण! तू व्रात्य, [संस्कारहीन] एकर्षिनामक अग्नि, भोक्ता और विश्वका सत्पति है, हम तेरा भक्ष्य देनेवाले हैं। हे वायो! तू हमारा पिता है ॥ ११ ॥

प्रथमजत्वादन्यस्य संस्कर्तुः अभावादसंस्कृतो व्रात्यस्त्वं स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्रायः। हे प्राणैकर्षिस्त्वमाथर्वणानां प्रसिद्ध एकर्षिनामाग्निः सन्नत्ता सर्वहविषाम्। त्वमेव विश्वस्य सर्वस्य

हे प्राण! सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला होनेसे किसी अन्य संस्कारकर्ताका अभाव होनेके कारण तू व्रात्य (संस्कारहीन) है, तात्पर्य यह है कि तू स्वभावसे ही शुद्ध है। तू आथर्वणोंका एकर्षि यानी एकर्षिनामक प्रसिद्ध अग्नि होकर सम्पूर्ण हवियोंका भोक्ता है। तथा

तृतीय प्रश्न



कौसल्यका प्रश्न—प्राणके उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि किस प्रकार होते हैं ?

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ । भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥

तदनन्तर, उन (पिप्पलाद मुनि) से अश्वलके पुत्र कौसल्यने पूछा—'भगवन् ! यह प्राण कहाँसे उत्पन्न होता है ? किस प्रकार इस शरीरमें आता है ? तथा अपना विभाग करके किस प्रकार स्थित होता है ? फिर किस कारण शरीरसे उत्क्रमण करता है और किस तरह बाह्य एवं आभ्यन्तर शरीरको धारण करता है ?' ॥ १ ॥

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ । प्राणो ह्येवं प्राणैर्निर्धारिततत्त्वैरुपलब्धमहिमापि संहतत्वात्स्यादस्य कार्यत्वमतः पृच्छामि भगवन्कुतः कस्मात्कारणादेष यथावधृतः प्राणो जायते । जातश्च कथं केन वृत्तिविशेषेण

तदनन्तर, उन (पिप्पलाद मुनि) से अश्वलके पुत्र कौसल्यने पूछा—'पूर्वोक्त प्रकारसे चक्षु आदि प्राणों (इन्द्रियों) के द्वारा जिसका तत्त्व निश्चय हो गया है तथा जिसकी महिमाका भी अनुभव हो गया है वह प्राण संहत (सावयव) होनेके कारण कार्यरूप होना चाहिये । इसलिये हे भगवन् ! मैं पूछता हूँ कि जिस प्रकारका पहले निश्चय किया गया है वैसा यह प्राण किससे—किस कारणविशेषसे

किं बहुना— | बहुत क्या—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।

मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥

यह सब तथा स्वर्गलोकमें जो कुछ स्थित है वह प्राणके ही अधीन है । जिस प्रकार माता पुत्रकी रक्षा करती है उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर तथा हमें श्री और बुद्धि प्रदान कर ॥ १३ ॥

अस्मिँल्लोके प्राणस्यैव वशे सर्वमिदं यत्किञ्चिदुपभोगजातं त्रिदिवे तृतीयस्यां दिवि च यत्प्रतिष्ठितं देवाद्युपभोगजातं तस्यापि प्राण एवेशिता रक्षिता । अतो मातेव पुत्रानस्मान् रक्षस्व पालयस्व । त्वन्निमित्ता हि ब्राह्म्यः क्षात्रियाश्च श्रियस्तास्त्वं श्रीश्च श्रियश्च प्रज्ञां च त्वत्स्थितिनिमित्तां विधेहि नो विधत्स्व इत्यर्थः ।

इस लोकमें यह जो कुछ उपभोगकी सामग्री है वह सब प्राणके ही अधीन है तथा त्रिदिव अर्थात् तीसरे द्युलोक (स्वर्ग) में भी देवता आदिका उपभोगरूप जो कुछ वैभव है उसका भी ईश्वर—रक्षक प्राण ही है । अतः माता जिस प्रकार पुत्रोंकी रक्षा करती है उसी प्रकार तू हमारा पालन कर । ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी श्री—विभूतियाँ भी तेरे ही निमित्तसे है। वह श्री तथा अपनी स्थितिके निमित्तसे ही होनेवाली प्रज्ञा तू हमें प्रदान कर—ऐसा इसका भावार्थ है ।

इत्येवं सर्वात्मतया वागादिभिः प्राणैः स्तुत्या गमितमहिमा प्राणः प्रजापतिरत्तेत्यवधृतम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार वागादि प्राणोंके स्तुति करनेसे जिसकी महिमा सर्वात्मरूपसे बतलायी गयी है वह प्राण ही प्रजापति और भोक्ता है—यह निश्चय हुआ ॥ १३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये द्वितीयः प्रश्नः ॥ २ ॥

तस्मै स होवाचाचार्यः, प्राण एव तावद्दुर्विज्ञेयत्वाद्विषमप्रश्नार्हस्तस्यापि जन्मादि त्वं पृच्छस्यतोऽतिप्रश्नान्पृच्छसि । ब्रह्मिष्ठोऽसीत्यतिशयेन त्वं ब्रह्मविदतस्तुष्टोऽहं तस्मात्ते तुभ्यं ब्रवीमि यत्पृष्टं शृणु ॥ २ ॥

उससे उस आचार्यने कहा—'प्रथम तो प्राण ही दुर्विज्ञेय होनेके कारण विषम प्रश्नका विषय है; तिसपर भी तू तो उसके भी जन्मादि पूछता है । अतः तू बड़े ही कड़े प्रश्न पूछ रहा है । परन्तु तू ब्रह्मिष्ठ—अत्यन्त ब्रह्मवेत्ता है, अतः मैं तुझसे प्रसन्न हूँ; सो तूने जो कुछ पूछा है वह तुझसे कहता हूँ, सुन ॥ २ ॥

प्राणकी उत्पत्ति

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥

यह प्राण आत्मासे उत्पन्न होता है । जिस प्रकार मनुष्य-शरीरसे यह छाया उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस आत्मामें प्राण व्याप्त है तथा यह मनोकृत सङ्कल्पादिसे इस शरीरमें आ जाता है ॥ ३ ॥

आत्मनः परस्मात्पुरुषादक्षरात्सत्यादेष उक्तः प्राणो जायते । कथमित्यत्र दृष्टान्तः । यथा लोक एषा पुरुषे शिरःपाण्यादिलक्षणे निमित्ते छाया नैमित्तिकी जायते तद्वदेतस्मिन्ब्रह्मण्येतत् प्राणाख्यं छायास्थानीयमनृतरूपं तत्त्वं सत्ये पुरुष आततं समर्पितम्

यह उपर्युक्त प्राण आत्मा—परम पुरुष—अक्षर यानी सत्यसे उत्पन्न होता है । किस प्रकार उत्पन्न होता है ? इसमें यह दृष्टान्त देते हैं—जिस प्रकार लोकमें शिर तथा हाथ-पाँववाले पुरुषरूप निमित्तके रहते हुए ही उससे होनेवाली छाया उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस ब्रह्म यानी सत्य पुरुषमें यह छायास्थानीय मिथ्या तत्त्व

आयात्यस्मिञ्शरीरे। किंनिमित्तकमस्य शरीरग्रहणमित्यर्थः । प्रविष्टश्च शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य प्रविभागं कृत्वा कथं केन प्रकारेण प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति केन वा वृत्तिविशेषेणास्माच्छरीरादुत्क्रमत उत्क्रामति । कथं बाह्यमधिभूतमधिदैवतं चाभिधत्ते धारयति कथमध्यात्मम् इति, धारयतीति शेषः ॥ १ ॥

उत्पन्न होता है ? तथा उत्पन्न होनेपर किस वृत्तिविशेषसे इस शरीरमें आता है ? अर्थात् इसका शरीरग्रहण किस कारणसे होता है ? और शरीरमें प्रविष्ट होकर अपनेको विभक्त कर—अपने अनेकों विभाग कर किस प्रकार उसमें स्थित होता है ? फिर किस वृत्तिविशेषसे इस शरीरसे उत्क्रमण करता है ? और किस प्रकार बाह्य यानी अधिभूत और अधिदैव विषयोंको धारण करता है ? तथा किस प्रकार अध्यात्म (देहेन्द्रियादि) को [धारण करता है ?] 'धारण करता है' यह वाक्य शेष है ॥१॥

एवं पृष्टः—

[कौसल्यद्वारा] इस प्रकार पूछे जानेपर—

पिप्पलाद मुनिका उत्तर

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

उससे पिप्पलाद आचार्यने कहा—'तू बड़े कठिन प्रश्न पूछता है । परन्तु तू [बड़ा] ब्रह्मवेत्ता है; अतः मैं तेरे प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ ॥ २ ॥

चक्षुरादीनात्मभेदांश्च पृथक् पृथगेव यथास्थानं संनिधत्ते विनियुङ्क्ते ॥ ४ ॥

चक्षु आदि अन्य प्राणोंको अलग-अलग उनके स्थानोंके अनुसार स्थापित करता यानी नियुक्त करता है ॥ ४ ॥

पञ्च प्राणोंकी स्थिति

तत्र विभागः—

उनका विभाग इस प्रकार है—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः । एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥

वह [प्राण] पायु और उपस्थमें अपानको [नियुक्त करता है] और मुख तथा नासिकासे निकलता हुआ नेत्र एवं श्रोत्रमें स्वयं स्थित होता है तथा मध्यमें समान रहता है । यह [समानवायु] ही खाये हुए अन्नको समभावसे [शरीरमें सर्वत्र] ले जाता है । उस [प्राणाग्नि] से ही [दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासारन्ध्र और एक रसना] ये सात ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

पायूपस्थे पायुश्चोपस्थश्च पायूपस्थं तस्मिन्, अपानमात्मभेदं मूत्रपुरीषाद्यपनयनं कुर्वंस्तिष्ठति संनिधत्ते । तथा चक्षुःश्रोत्रे चक्षुश्च श्रोत्रं च चक्षुःश्रोत्रं तस्मिंश्चक्षुःश्रोत्रे, मुखनासिकाभ्यां च मुखं च नासिका च ताभ्यां मुखनासिकाभ्यां च निर्गच्छन्प्राणः स्वयं सम्राट्स्थानीयः प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति

यह प्राण अपने भेद अपानको पायूपस्थमें—पायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) में मूत्र और पुरीष (मल) आदिको निकालते हुए स्थित करता यानी नियुक्त करता है । तथा मुख और नासिका इन दोनोंसे निकलता हुआ सम्राट्स्थानीय प्राण चक्षुःश्रोत्रे—चक्षु और श्रोत्रमें स्थित रहता है । तथा

इत्येतत् । छायेव देहे मनोकृतेन मनःसङ्कल्पेच्छादिनिष्पन्नकर्मनिमित्तेनेत्येतत्—वक्ष्यति हि "पुण्येन पुण्यम्" (प्र० उ० ३।७) इत्यादि; तदेव "सक्तः सह कर्मणा" (बृ० उ० ४।४।६) इति च श्रुत्यन्तरात्—आयाति आगच्छत्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥

व्याप्त—समर्पित है । देहमें छायाके समान यह मनके कार्यसे यानी मनके सङ्कल्प और इच्छादिसे होनेवाले कर्मसे इस शरीरमें आता है; जैसा कि आगे "पुण्यसे पुण्यलोकको ले जाता है" आदि श्रुतिसे कहेंगे और यही बात "कर्मफलमें आसक्त हुआ पुरुष अपने कर्मके सहित [उसीको प्राप्त होता है]" इस अन्य श्रुतिसे भी कही गयी है ॥ ३ ॥

प्राणका इन्द्रियाधिष्ठातृत्व

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते । एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥

जिस प्रकार सम्राट् ही 'तुम इन-इन ग्रामोंमें रहो' इस प्रकार अधिकारियोंको नियुक्त करता है उसी प्रकार यह मुख्य प्राण ही अन्य प्राणों (इन्द्रियों) को अलग-अलग नियुक्त करता है ॥ ४ ॥

यथा येन प्रकारेण लोके राजा सम्राडेव ग्रामादिष्वधिकृतान्विनियुङ्क्ते । कथम् ? एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्व इति । एवमेव यथा दृष्टान्तः एष मुख्यः प्राण इतरान्प्राणान्

जिस प्रकार लोकमें राजा ही ग्रामादिमें अधिकारियोंको नियुक्त करता है; किस प्रकार [नियुक्त करता है ? कि] तुम इन-इन ग्रामोंमें अधिष्ठान (निवास) करो । इस प्रकार, जैसा यह दृष्टान्त है वैसे ही, यह मुख्य प्राण भी अपने भेदस्वरूप

हृदि ह्येष पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छिन्ने हृदयाकाश एष आत्मात्मना संयुक्तो लिङ्गात्मा। अत्रास्मिन्हृदय एतदेकशतम् एकोत्तरशतं संख्यया प्रधाननाडीनां भवतीति। तासां शतं शतमेकैकस्याः प्रधाननाड्या भेदाः। पुनरपि द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिर्द्वे द्वे सहस्रे अधिके सप्ततिश्च सहस्राणि सहस्राणां द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि। प्रतिप्रतिनाडीशतं संख्यया प्रधाननाडीनां सहस्राणि भवन्ति।

यह आत्मा—आत्मासहित लिङ्गदेह अर्थात् जीवात्मा हृदयमें यानी कमलके-से आकारवाले मांसपिण्डसे परिच्छिन्न हृदयाकाशमें रहता है। इस हृदयदेशमें ये एक शत यानी एक ऊपर सौ (एक सौ एक) प्रधान नाडियाँ हैं। उनमेंसे प्रत्येक प्रधान नाडीके सौ-सौ भेद हैं और प्रधान नाडीके उन सौ-सौ भेदोंमेंसे प्रत्येकमें बहत्तर-बहत्तर सहस्र अर्थात् दो ऊपर सत्तर सहस्र प्रतिशाखा नाडियाँ हैं।

आसु नाडीषु व्यानो वायुः चरति व्यानो व्यापनात्। आदित्यादिव रश्मयो हृदयात् सर्वतोगामिनीभिर्नाडीभिः सर्वदेहं संव्याप्य व्यानो वर्तते। सन्धिस्कन्धमर्मदेशेषु विशेषेण प्राणापानवृत्त्योश्च मध्य उद्भूतवृत्तिर्वीर्यवत्कर्मकर्ता भवति ॥६॥

इन सब नाडियोंमें व्यानवायु सञ्चार करता है। व्यापक होनेके कारण उसे 'व्यान' कहते हैं। जिस प्रकार सूर्यसे किरणें निकलती हैं उसी प्रकार हृदयसे निकलकर सब ओर फैली हुई नाडियोंद्वारा व्यान सम्पूर्ण देहको व्याप्त करके स्थित है। सन्धिस्थान, स्कन्धदेश और मर्मस्थलोंमें तथा विशेषतया प्राण और अपानवायुकी वृत्तियोंके मध्यमें इस (व्यानवायु) की अभिव्यक्ति होती है और यही पराक्रमयुक्त कर्मोंका करनेवाला है ॥ ६ ॥

मध्ये तु प्राणापानयोः स्थानयोर्नाभ्यां समानोऽशितं पीतं च समं नयतीति समानः ।

एष हि यस्माद्यदेतद्धुतं भुक्तं पीतं चात्माग्नौ प्रक्षिप्तमन्नं समं नयति तस्मादशितपीतेन्धनाद् अग्नेरौदर्याद्धृदयदेशं प्राप्तादेताः सप्तसंख्याका अर्चिषो दीप्तयो निर्गच्छन्त्यो भवन्ति शीर्षण्यः । प्राणद्वारा दर्शनश्रवणादिलक्षण-रूपादिविषयप्रकाशा इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

प्राण और अपानके स्थानोंके मध्य नाभिदेशमें समान रहता है, जो खाये और पीये हुए पदार्थको सम करनेके कारण समान कहलाता है ।

क्योंकि यह समानवायु ही खायी-पीयी वस्तुको अर्थात् देहान्तर्वर्ती जठरानलमें डाले हुए अन्नको समभावसे [समस्त शरीरमें] पहुँचाता है इसलिये खान-पानरूप इन्धनसे हृदयदेशमें प्राप्त हुए इस जठराग्निसे ये शिरोदेशवर्तिनी सात अर्चियाँ—दीप्तियाँ निकलती हैं । तात्पर्य यह है कि रूपादि विषयोंके दर्शन-श्रवण आदिरूप प्रकाश प्राणसे ही निष्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥

लिङ्गदेहकी स्थिति

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडी-सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ ॥

यह आत्मा हृदयमें है । इस हृदयदेशमें एक सौ एक नाडियाँ हैं । उनमेंसे एक-एककी सौ-सौ शाखाएँ हैं और उनमेंसे प्रत्येककी बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाडियाँ हैं । इन सबमें व्यान सञ्चार करता है ॥ ६ ॥

बाह्य प्राणादिका निरूपण

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापान-मवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

निश्चय आदित्य ही बाह्य प्राण है। यह इस चाक्षुष (नेत्रेन्द्रिय-स्थित) प्राणपर अनुग्रह करता हुआ उदित होता है। पृथिवीमें जो देवता है वह पुरुषके अपानवायुको आकर्षण किये हुए है। इन दोनोंके मध्यमें जो आकाश है वह समान है और वायु ही व्यान है ॥ ८ ॥

आदित्यो ह वै प्रसिद्धो ह्यधिदैवतं बाह्यः प्राणः स एष उदयत्युद्गच्छति । एष ह्येनम् आध्यात्मिकं चक्षुषि भवं चाक्षुषं प्राणं प्रकाशेनानुगृह्णानो रूपोप-लब्धौ चक्षुष आलोकं कुर्वन्नित्यर्थः। तथा पृथिव्यामभिमानिनी या देवता प्रसिद्धा सैषा पुरुषस्य अपानमपानवृत्तिमवष्टभ्याकृष्य वशीकृत्याध एवापकर्षणेनानुग्रहं कुर्वती वर्तत इत्यर्थः । अन्यथा हि शरीरं गुरुत्वात्पतेत्सावकाशे वोद्गच्छेत् ।

यह प्रसिद्ध आदित्य ही अधिदैवत बाह्यप्राण है, वही यह उदित होता है—ऊपरकी ओर जाता है और यही इस आध्यात्मिक चाक्षुष (नेत्रस्थित) प्राणको—चक्षुमें जो हो उसे चाक्षुष कहते हैं—प्रकाशसे अनुगृहीत करता हुआ अर्थात् रूपकी उपलब्धि-में नेत्रको प्रकाश देता हुआ [उदित होता है] । तथा पृथिवीमें जो उसका प्रसिद्ध अभिमानी देवता है वह पुरुषके अपान अर्थात् अपानवृत्तिका अवष्टम्भ—आकर्षण करके यानी उसे अपने अधीन कर [स्थित रहता है] । तात्पर्य यह है कि नीचेकी ओर आकर्षणद्वारा उसपर अनुग्रह करता हुआ स्थित रहता है । नहीं तो शरीर अपने भारीपनके कारण गिर जाता अथवा अवकाश मिलनेके कारण उड़ जाता ।

प्राणोत्क्रमणका प्रकार

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥

तथा [इन सब नाडियोंमेंसे सुषुम्ना नामकी] एक नाडीद्वारा ऊपरकी ओर गमन करनेवाला उदानवायु [जीवको] पुण्य-कर्मके द्वारा पुण्यलोकको और पापकर्मके द्वारा पापमय लोकको ले जाता है तथा पुण्य-पाप दोनों प्रकारके (मिश्रित) कर्मोंद्वारा उसे मनुष्यलोकको प्राप्त कराता है ॥ ७ ॥

अथ या तु तत्रैकशतानां नाडीनां मध्य ऊर्ध्वगा सुषुम्नाख्या नाडी तयैकयोर्ध्वः सन्नुदानो वायुरापादतलमस्तकवृत्तिः सञ्चरन्पुण्येन कर्मणा शास्त्रविहितेन पुण्यं लोकं देवादिस्थानलक्षणं नयति प्रापयति पापेन तद्विपरीतेन पापं नरकं तिर्यग्योन्यादिलक्षणम् । उभाभ्यां समप्रधानाभ्यां पुण्यपापाभ्यामेव मनुष्यलोकं नयतीत्यनुवर्तते ॥ ७ ॥

तथा उन एक सौ एक नाडियोंमेंसे जो सुषुम्नानाम्नी एक ऊर्ध्वगामिनी नाडी है उस एकके द्वारा ही ऊपरकी ओर जानेवाला तथा चरणसे मस्तकपर्यन्त सञ्चार करनेवाला उदानवायु [जीवात्माको] पुण्य कर्म यानी शास्त्रोक्त कर्मसे देवादि-स्थानरूप पुण्यलोकको प्राप्त करा देता है तथा उससे विपरीत पापकर्मद्वारा पापलोक यानी तिर्यग्योनि आदि नरकको ले जाता है और समानरूपसे प्रधान हुए पुण्य-पापरूप दोनों प्रकारके कर्मोंद्वारा वह उसे मनुष्यलोकको प्राप्त कराता है । यहाँ 'नयति' इस क्रियाकी सर्वत्र अनुवृत्ति होती है ॥ ७ ॥



यद्वाह्यं ह वै प्रसिद्धं सामान्यं तेजस्तच्छरीर उदान उदानं वायुमनुगृह्णाति स्वेन प्रकाशेनेत्यभिप्रायः। यस्मात्तेजःस्वभावो वाह्यतेजोऽनुगृहीत उत्क्रान्तिकर्ता तस्माद्यदा लौकिकः पुरुष उपशान्ततेजा भवति; उपशान्तं स्वाभाविकं तेजो यस्य सः, तदा तं क्षीणायुषं मुमूर्षुं विद्यात्। स पुनर्भवं शरीरान्तरं प्रतिपद्यते। कथम्? सहेन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः प्रविशद्भिर्वागादिभिः॥ ९॥

जो [आदित्यसंज्ञक] प्रसिद्ध बाह्य सामान्य तेज है वही शरीरमें उदान है; तात्पर्य यह है कि वही अपने प्रकाशसे उदानवायुको अनुगृहीत करता है। क्योंकि उत्क्रमण करनेवाला [उदानवायु] तेजःस्वरूप है—बाह्य तेजसे अनुगृहीत होनेवाला है इसलिये जिस समय लौकिक पुरुष उपशान्ततेजा होता है अर्थात् जिसका स्वाभाविक तेज शान्त हो गया है ऐसा होता है उस समय उसे क्षीणायु—मरणासन्न समझना चाहिये। वह पुनर्भव यानी देहान्तरको प्राप्त होता है। किस प्रकार प्राप्त होता है? [इसपर कहते हैं—] मनमें लीन—प्रविष्ट होती हुई वागादि इन्द्रियोंके सहित [वह देहान्तरको प्राप्त होता है]॥ ९॥

मरणकालिक संकल्पका फल

मरणकाले—

मरणकालमें—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति॥ १०॥

इसका जैसा चित्त [संकल्प] होता है उसके सहित यह प्राणको प्राप्त होता है। तथा प्राण तेजसे (उदानवृत्तिसे) संयुक्त हो [उस भोक्ताको] आत्माके सहित संकल्प किये हुए लोकको ले जाता है॥ १०॥

यदेतदन्तरा मध्ये द्यावापृथिव्योर्य आकाशस्तत्स्थो वायुः आकाश उच्यते; मञ्चस्थवत् । स समानः समानमनुगृह्णानो वर्तत इत्यर्थः । समानस्यान्तराकाशस्थत्वसामान्यात् । सामान्येन च यो बाह्यो वायुः स व्याप्तिसामान्याद् व्यानो व्यानमनुगृह्णानो वर्तत इत्यभिप्रायः ।८।

इन द्युलोक और पृथिवीके अन्तरा—मध्यमें जो आकाश है उसमें रहनेवाला वायु भी [लक्षणावृत्तिसे 'मञ्च' कहे जानेवाले] मञ्चस्थ व्यक्तियोंके समान आकाश कहलाता है । वही 'समान' है, अर्थात् समानवायुको अनुगृहीत करता हुआ स्थित है, क्योंकि मध्य-आकाशमें स्थित होना—यह समानवायुके लिये भी [बाह्य वायुकी तरह] साधारण है* । तथा साधारणतया जो बाह्य वायु है वह व्यापकत्वमें [शरीरके भीतर व्याप्त हुए व्यानवायुसे] समानता होनेके कारण व्यान है अर्थात् व्यानपर अनुग्रह करता हुआ वर्तमान है ॥ ८ ॥



तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ ९ ॥

लोकप्रसिद्ध [आदित्यरूप] तेज ही उदान है । अतः जिसका तेज (शारीरिक ऊष्मा) शान्त हो जाता है वह मनमें लीन हुई इन्द्रियोंके सहित पुनर्जन्मको [अथवा पुनर्जन्मके हेतुभूत मृत्युको] प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

---

* समानवायु शरीरान्तर्वर्ती आकाशके मध्यमें रहता है और बाह्य वायु द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यवर्ती आकाशके बीच रहता है; इस प्रकार मध्य आकाशमें स्थित होना—यह दोनोंके लिये एक-सी बात है ।

प्राणं वेद जानाति तस्येदं फलम् ऐहिकमामुष्मिकं चोच्यते । न हास्य नैवास्य विदुषः प्रजा पुत्र-पौत्रादिलक्षणा हीयते छिद्यते । पतिते च शरीरे प्राणसायुज्य-तयामृतोऽमरणधर्मा भवति तदे-तस्मिन्नर्थे संक्षेपाभिधायक एष श्लोको मन्त्रो भवति ॥ ११ ॥

प्राणको उसके उत्पत्ति आदिके सहित जानता है उसके लिये यह लौकिक और पारलौकिक फल बतलाया जाता है—इस विद्वान्‌की पुत्र-पौत्रादिरूप प्रजा हीन—उच्छिन्न अर्थात् नष्ट नहीं होती तथा शरीरके पतित होनेपर प्राण-सायुज्यको प्राप्त हो जानेके कारण वह अमृत—अमरणधर्मा हो जाता है । इस विषयमें संक्षेपसे बतलाने-वाला यह श्लोक यानी मन्त्र है—॥ ११ ॥



उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा ।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते
विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥१२॥

प्राणकी उत्पत्ति, आगमन, स्थान, व्यापकता एवं बाह्य और आध्यात्मिक भेदसे पाँच प्रकारकी स्थिति जानकर मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर लेता है—अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

उत्पत्तिं परमात्मनः प्राणस्या-यतिमागमनं मनोकृतेनास्मिन् शरीरे स्थानं स्थितिं च पायूप-स्थादिस्थानेषु विभुत्वं च स्वाम्यमेव सम्राडिव प्राणवृत्तिभेदानां पञ्चधा स्थापनं बाह्यमादित्यादिरूपेण

प्राणकी परमात्मासे उत्पत्ति, आयति—मनके सङ्कल्पसे इस शरीरमें आगमन, स्थान—पायु-उपस्थादिमें स्थित होना, विभुत्व—सम्राट्‌के समान प्रभुत्व यानी प्राण-के वृत्तिभेदको पाँच प्रकारसे स्थापित करना, तथा आदित्यादि-

यच्चित्तो भवति तेनैव चित्तेन संकल्पेनेन्द्रियैः सह प्राणं मुख्यप्राणवृत्तिमायाति । मरणकाले क्षीणेन्द्रियवृत्तिः सन्मुख्यया प्राणवृत्त्यैवावतिष्ठत इत्यर्थः । तदाभिवदन्ति ज्ञातय उच्छ्वसिति जीवतीति ।

इसका जैसा चित्त होता है उस चित्त—संकल्पके सहित ही यह जीव इन्द्रियोंके सहित प्राण अर्थात् मुख्य प्राणवृत्तिको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि मरणकालमें यह प्रक्षीण इन्द्रियवृत्तिवाला होकर मुख्य प्राणवृत्तिसे ही स्थित होता है। उसी समय जातिवाले कहा करते हैं कि 'अभी श्वास लेता है—अभी जीवित है' इत्यादि ।

स च प्राणस्तेजसोदानवृत्त्या युक्तः सन्सहात्मना स्वामिना भोक्त्रा स एवमुदानवृत्त्यैव युक्तः प्राणस्तं भोक्तारं पुण्यपापकर्मवशाद्यथासंकल्पितं यथाभिप्रेतं लोकं नयति प्रापयति ॥ १० ॥

वह प्राण ही तेज अर्थात् उदानवृत्तिसे सम्पन्न हो आत्मा—भोक्ता स्वामीके साथ [सम्मिलित होता है] । तथा उदानवृत्तिसे संयुक्त हुआ वह प्राण ही उस भोक्ता जीवको उसके पाप-पुण्यमय कर्मोंके अनुसार यथासङ्कल्पित अर्थात् उसके अभिप्रायानुसारी लोकोंको ले जाता—प्राप्त करा देता है ॥ १० ॥

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥

जो विद्वान् प्राणको इस प्रकार जानता है उसकी प्रजा नष्ट नहीं होती। वह अमर हो जाता है इस विषयमें यह श्लोक है ॥ ११ ॥

यः कश्चिदेवं विद्वान्यथोक्तविशेषणैर्विशिष्टमुत्पत्त्यादिभिः

जो कोई विद्वान् पुरुष इस प्रकार उपर्युक्त विशेषणोंसे विशिष्ट

चतुर्थ प्रश्न



गार्ग्यका प्रश्न—सुषुप्तिमें कौन सोता है और कौन जागता है ?

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥

तदनन्तर उन पिप्पलाद मुनिसे सूर्यके पौत्र गार्ग्यने पूछा—'भगवन् ! इस पुरुषमें कौन [इन्द्रियाँ] सोती हैं ? कौन इसमें जागती हैं ? कौन देव स्वप्नोंको देखता है ? किसे यह सुख अनुभव होता है ? तथा किसमें ये सब प्रतिष्ठित हैं ?' ॥ १ ॥

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । प्रश्नत्रयेणापरविद्यागोचरं सर्वं परिसमाप्य संसारं व्याकृतविषयं साध्यसाधनलक्षणमनित्यम्; अथेदानीमसाध्यसाधनलक्षणमप्राणममनोगोचरमतीन्द्रियविषयं शिवं शान्तमविकृतमक्षरं सत्यं परविद्यागम्यं पुरुषाख्यं सबाह्याभ्यन्तरमजं वक्तव्यमित्युत्तरं प्रश्नत्रयमारभ्यते ।

तदनन्तर उनसे सौर्यायणी गार्ग्यने पूछा । उपर्युक्त तीन प्रश्नोंमें अपरा विद्याके विषय व्याकृताश्रित साध्यसाधनरूप अनित्य संसारका निरूपण समाप्त कर अब साध्य-साधनसे अतीत तथा प्राण, मन और इन्द्रियोंके अविषय, परविद्यावेद्य, शिव, शान्त, अविकारी, अक्षर, सत्य और बाहर-भीतर विद्यमान अजन्मा पुरुषनामक तत्त्वका वर्णन करना है; इसीलिये आगेके तीन प्रश्नोंका आरम्भ किया जाता है ।

अध्यात्मं चैव चक्षुराद्याकारेण अवस्थानं विज्ञायैवं प्राणममृतम् अश्नुत इति विज्ञायामृतमश्नुत इति द्विर्वचनं प्रश्नार्थपरिसमाप्त्यर्थम् ॥१२॥

रूपसे बाह्य और चक्षु आदिरूपसे आन्तरिक स्थिति—इस प्रकार प्राणको जानकर मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर लेता है । यहाँ 'विज्ञायामृतमश्नुते' इस पदकी द्विरुक्ति प्रश्नार्थकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ १२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये
तृतीयः प्रश्नः ॥ ३ ॥



निर्वर्त्यते किं वा करणलक्षणेन केनचिदित्यभिप्रायः ।

उपरते च जाग्रत्स्वप्नव्यापारे यत्प्रसन्नं निरायासलक्षणमनाबाधं सुखं कस्यैतद्भवति । तस्मिन्काले जाग्रत्स्वप्नव्यापाराद् उपरताः सन्तः कस्मिन्नु सर्वे सम्यगेकीभूताः संप्रतिष्ठिताः। मधुनि रसवत्समुद्रप्रविष्टनद्यादिवच्च विवेकानर्हाः प्रतिष्ठिता भवन्ति संगताः संप्रतिष्ठिता भवन्तीत्यर्थः ।

ननु न्यस्तदात्रादिकरणवत् स्वव्यापारादुपरतानि पृथक्पृथगेव स्वात्मन्यवतिष्ठन्त इत्येतद्युक्तं कुतः प्राप्तिः सुषुप्तपुरुषाणां करणानां कस्मिंश्चिदेकीभावगमनाशङ्कायाः प्रष्टुः ।

है, अथवा करणरूप देव ? यह इसका अभिप्राय है ।

तथा जाग्रत् और स्वप्नका व्यापार समाप्त हो जानेपर जो प्रसन्न, अनायासरूप एवं निर्बाध सुख होता है वह भी किसे होता है ? उस समय जाग्रत् और स्वप्नके व्यापारसे उपरत होकर सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भली प्रकार एकीभूत होकर किसमें स्थित होती हैं ? अर्थात् मधुमें रसोंके समान तथा समुद्रमें प्रविष्ट हुई नदी आदिके समान विवेचनके (पृथक्-प्रतीतिके) अयोग्य होकर वे किसमें भली प्रकार प्रतिष्ठित अर्थात् सम्मिलित हो जाती हैं ?

शङ्का—[काम करनेके अनन्तर] छोड़े हुए दराँती आदि करणों (औजारों) के समान इन्द्रियाँ भी अपने-अपने व्यापारसे निवृत्त होकर अलग-अलग अपनेमें ही स्थित हो जाती हैं—ऐसा समझना ठीक ही है । फिर प्रश्नकर्ताको सोये हुए पुरुषोंकी इन्द्रियोंके किसीमें एकीभाव हो जानेकी आशङ्का कैसे प्राप्त हो सकती है ?

तत्र सुदीप्तादिवाग्नेर्यस्मात् परादक्षरात्सर्वे भावा विस्फुलिङ्गा इव जायन्ते तत्र चैवापियन्ति इत्युक्तं द्वितीये मुण्डके; के ते सर्वे भावा अक्षराद्विभज्यन्ते ? कथं वा विभक्ताः सन्तस्तत्रैव अपियन्ति ? किंलक्षणं वा तद-क्षरमिति ? एतद्विवक्षयाधुना प्रश्नान् उद्भावयति—

तहाँ, द्वितीय मुण्डकमें यह बात कही गयी है कि 'अच्छी तरह प्रज्वलित हुए अग्निसे स्फुलिङ्गों (चिनगारियों) के समान जिस पर अक्षरसे सम्पूर्ण भाव पदार्थ उत्पन्न होते और उसीमें लीन हो जाते हैं' इत्यादि; सो उस अक्षर परमात्मासे अभिव्यक्त होनेवाले वे सम्पूर्ण भाव कौन-से हैं ? उससे विभक्त होकर वे किस प्रकार उसीमें लीन होते हैं ? तथा वह अक्षर किन लक्षणोंवाला है ? यह सब बतलानेके लिये अब श्रुति आगेके प्रश्न उठाती है—

भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे शिरः-पाण्यादिमति कानि करणानि स्वपन्ति स्वापं कुर्वन्ति स्वव्या-पारादुपरमन्ते कानि चास्मिन् जाग्रति जागरणमनिद्रावस्थां स्व-व्यापारं कुर्वन्ति। कतरः कार्यकरण-लक्षणयोरेष देवः स्वप्नान्पश्यति ? स्वप्नो नाम जाग्रद्दर्शनान्निवृत्तस्य जाग्रद्वदन्तःशरीरे यद्दर्शनम् । तत्किं कार्यलक्षणेन देवेन

भगवन् ! शिर और हाथ-पैरोंवाले इस पुरुषमें कौन इन्द्रियाँ सोती—निद्रा लेती अर्थात् अपने व्यापारसे उपरत होती हैं ? तथा कौन इसमें जागती यानी जागरण—अनिद्रावस्था अर्थात् अपना व्यापार करती हैं ? कार्य-करणरूप [यानी देहेन्द्रियरूप] देवोंमेंसे कौन देव स्वप्नोंको देखता है ? जाग्रद्दर्शनसे निवृत्त हुए जीवका जो अन्तःकरणमें जाग्रत्के समान विषयोंको देखना है उसे स्वप्न कहते हैं । सो यह कार्य कोई कार्यरूप देव निष्पन्न करता

[सुषुप्तिकालमें] इस शरीररूप पुरमें प्राणाग्नि ही जागते हैं। यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है, व्यान अन्वाहार्यपचन है तथा जो गार्हपत्यसे ले जाया जाता है वह प्राण ही प्रणयन (ले जाये जाने) के कारण आहवनीय अग्नि है ॥ ३ ॥

सुप्तेषु श्रोत्रादिषु कारणेषु एतस्मिन्पुरे नवद्वारे देहे प्राणाग्नयः प्राणा एव पञ्च वायवोऽग्नय इवाग्नयो जाग्रति । अग्निसामान्यं हि आह—गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः । कथमित्याह—यस्माद्गार्हपत्यादग्नेरग्निहोत्रकाल इतरोऽग्निः आहवनीयः प्रणीयते प्रणयनात् प्रणीयतेऽस्मादिति प्रणयनो गार्हपत्योऽग्निः । तथा सुप्तस्यापानवृत्तेः प्रणीयत इव प्राणो मुखनासिकाभ्यां संचरत्यत आहवनीयस्थानीयः प्राणः । व्यानस्तु हृदयाद् दक्षिणसुषिरद्वारेण निर्गमाद्दक्षिणदिक्सम्बन्धादन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः ॥ ३ ॥

इस पुर यानी नौ द्वारवाले देहमें श्रोत्रादि इन्द्रियोंके सो जानेपर प्राणाग्नि—प्राणादि पाँच वायु ही अग्निके समान अग्नि हैं, वे ही जागते हैं। अब अग्निके साथ उनकी समानता बतलाते हैं—यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है। किस प्रकार है, सो बतलाते हैं—क्योंकि अग्निहोत्रके समय गार्हपत्य अग्निसे ही आहवनीयनामक दूसरा अग्नि [जिसमें कि हवन किया जाता है] सम्पन्न किया जाता है; अतः प्रणयन किये जानेके कारण 'प्रणीयतेऽस्मात्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह गार्हपत्याग्नि 'प्रणयन' है। इसी प्रकार प्राण भी सोये हुए पुरुषकी अपानवृत्तिसे प्रणीत हुआ-सा ही मुख और नासिकाद्वारा सञ्चार करता है; अतः वह आहवनीयस्थानीय है। तथा व्यान हृदयके दक्षिण छिद्रद्वारा निकलनेके कारण दक्षिण-दिशाके सम्बन्धसे अन्वाहार्यपचन यानी दक्षिणाग्नि है ॥ ३ ॥

मण्डले मरीचिवदविशेषतां गच्छति। जिजागरिषोश्च रश्मिवन्मण्डलान्मनस एव प्रचरन्ति स्वव्यापाराय प्रतिष्ठन्ते।

मण्डलमें किरणोंके समान उससे अभिन्नताको प्राप्त हो जाता है। तथा [उदित होते हुए] सूर्यमण्डलसे किरणोंके समान वे (इन्द्रियाँ) जागनेकी इच्छावाले पुरुषके मनसे ही फिर फैल जाती हैं; अर्थात् अपने व्यापारके लिये प्रवृत्त हो जाती हैं।

यस्मात्स्वप्नकाले श्रोत्रादीनि शब्दाद्युपलब्धिकरणानि मनसि एकीभूतानीव करणव्यापाराद् उपरतानि तेन तस्मात्तर्हि तस्मिन् स्वापकाल एष देवदत्तादिलक्षणः पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते लौकिकाः॥ २॥

क्योंकि निद्राकालमें शब्दादि विषयोंकी उपलब्धिके साधनरूप श्रोत्रादि मनमें एकीभावको प्राप्त हुएके समान इन्द्रिय-व्यापारसे उपरत हो जाते हैं इसलिये उस निद्राकालमें वह देवदत्तादिरूप पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चखता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न त्यागता है और न चेष्टा करता है। उस समय लौकिक पुरुष उसे 'सोता है' ऐसा कहते हैं॥ २॥

सुषुप्तिमें जागनेवाले प्राण-भेद गार्हपत्यादि अग्निरूप हैं

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः॥ ३॥

भूतानि विचिन्वन्त्यपि स्वपत इति हि वाजसनेयके ।

अत्र हि जाग्रत्सु प्राणाग्निषु उपसंहृत्य बाह्यकरणानि विषयांश्च अग्निहोत्रफलमिव स्वर्गं ब्रह्म जिगमिषुर्मनो ह वाव यजमानो जागर्ति यजमानवत्कार्यकरणेषु प्राधान्येन संव्यवहारात्स्वर्गमिव ब्रह्म प्रति प्रस्थितत्वाद्यजमानो मनः कल्प्यते ।

इष्टफलं यागफलमेवोदानो वायुः । उदाननिमित्तत्वादिष्ट-फलप्राप्तेः । कथम् ? स उदानो मनआख्यं यजमानं स्वप्नवृत्ति-रूपादपि प्रच्याव्याहरहः सुषुप्ति-काले स्वर्गमिव ब्रह्माक्षरं गमयति । अतो यागफल-स्थानीय उदानः ॥ ४ ॥

बृहदारण्यकोपनिषद्में भी कहा है कि उस विद्वान्के सोनेपर भी सब भूत सर्वदा चयन (यागानुष्ठान) किया करते हैं ।

इस अवस्थामें बाह्य इन्द्रियों और विषयोंको पञ्च प्राणरूप जागते हुए (प्रज्वलित) अग्निमें हवन कर मनरूप यजमान अग्निहोत्रके फल स्वर्गके समान ब्रह्मके प्रति जानेकी इच्छासे जागता रहता है । यजमानके समान भूत और इन्द्रियोंमें प्रधानतासे व्यवहार करने और स्वर्गके समान ब्रह्मके प्रति प्रस्थित होनेसे मन यजमानरूपसे कल्पना किया गया है ।

उदानवायु ही इष्टफल यानी यज्ञका फल है, क्योंकि इष्टफलकी प्राप्ति उदानवायुके निमित्तसे ही होती है । किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—] वह उदानवायु इस मन नामवाले यजमानको स्वप्नवृत्तिसे भी गिराकर नित्यप्रति सुषुप्तिकालमें स्वर्गके समान अक्षरब्रह्मको प्राप्त करा देता है । अतः उदान यागफल-स्थानीय है ॥ ४ ॥

एवं विदुषः श्रोत्राद्युपरम-कालादारभ्य यावत्सुप्तोत्थितो

इस प्रकार विद्वान्को श्रोत्रादि इन्द्रियोंके उपरत होनेके समयसे

प्राणाग्निके ऋत्विक्

अत्र च होताग्निहोत्रस्य—

यहाँ [अगले वाक्यसे] अग्निहोत्रके होता (ऋत्विक्) का वर्णन किया जाता है—

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः । मनो ह वाव यजमानः । इष्टफलमेवोदानः । स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥

क्योंकि उच्छ्वास और निःश्वास ये मानो अग्निहोत्रकी आहुतियाँ हैं, उन्हें जो [शरीरकी स्थितिके लिये] समभावसे विभक्त करता है वह समान [ऋत्विक् है]; मन ही निश्चय यजमान है, और इष्टफल ही उदान है; वह उदान इस मनरूप यजमानको नित्यप्रति ब्रह्मके पास पहुँचा देता है ॥ ४ ॥

यद्यस्मादुच्छ्वासनिःश्वासौ अग्निहोत्राहुती इव नित्यं द्वित्वसामान्यादेव त्वेतावाहुती समं साम्येन शरीरस्थितिभावाय नयति यो वायुरग्निस्थानीयोऽपि होता चाहुत्योर्नेतृत्वात् । कोऽसौ स समानः । अतश्च विदुषः स्वापोऽप्यग्निहोत्रहवनमेव । तस्माद्विद्वान्नाकर्मीत्येवं मन्तव्य इत्यभिप्रायः । सर्वदा सर्वाणि

क्योंकि उच्छ्वास और निःश्वास अग्निहोत्रकी आहुतियोंके समान हैं, अतः [इनमें और अग्निहोत्रकी आहुतियोंमें] समानरूपसे द्वित्व होनेके कारण जो वायु शरीरकी स्थितिके लिये इन दोनों आहुतियोंको साम्यभावसे सर्वदा चलाता है वह [पूर्वमन्त्रके अनुसार] अग्निस्थानीय होनेपर भी आहुतियोंका नेता होनेके कारण होता ही है । वह है कौन? समान । अतः विद्वान्की निद्रा भी अग्निहोत्रका हवन ही है । इसलिये अभिप्राय यह है कि विद्वान्को अकर्मा नहीं मानना चाहिये । इसीसे

इस स्वप्नावस्थामें यह देव अपनी विभूतिका अनुभव करता है। इसके द्वारा [जाग्रत्-अवस्थामें] जो देखा हुआ होता है उस देखे हुएको ही यह देखता है, सुनी-सुनी बातोंको ही सुनता है तथा दिशा-विदिशाओंमें अनुभव किये हुएको ही पुनः-पुनः अनुभव करता है। [अधिक क्या] यह देखे, बिना देखे, सुने, बिना सुने, अनुभव किये, बिना अनुभव किये तथा सत् और असत् सभी प्रकारके पदार्थोंको देखता है और स्वयं भी सर्वरूप होकर देखता है ॥ ५ ॥

अत्रोपरतेषु श्रोत्रादिषु देहरक्षायै जाग्रत्सु प्राणादिवायुषु प्राक्सुषुप्तिप्रतिपत्तेः एतस्मिन् अन्तराल एष देवोऽर्करश्मिवत् स्वात्मनि संहृतश्रोत्रादिकरणः स्वप्ने महिमानं विभूतिं विषयविषयिलक्षणमनेकात्मभावगमनम् अनुभवति प्रतिपद्यते।

इस अवस्थामें यानी श्रोत्रादि इन्द्रियोंके उपरत हो जानेपर और प्राणादि वायुओंके जागते रहनेपर सुषुप्तिकी प्राप्तिसे पूर्व इस [जाग्रत्-सुषुप्तिके] मध्यकी अवस्थामें यह देव, जिसने सूर्यकी किरणोंके समान श्रोत्रादि इन्द्रियोंको अपनेमें लीन कर लिया है, स्वप्नावस्थामें अपनी महिमा यानी विभूतिको अनुभव करता है अर्थात् विषय-विषयिरूप अनेकात्मत्वको प्राप्त हो जाता है।

मनःस्वातन्त्र्य-विचारः

ननु महिमानुभवने करणं मनोऽनुभवितुस्तत्कथं स्वातन्त्र्येणानुभवतीत्युच्यते स्वतन्त्रो हि क्षेत्रज्ञः।

*पूर्व*०—मन तो विभूतिका अनुभव करनेमें अनुभव करनेवाले पुरुषका करण है; फिर यह कैसे कहा जाता है, कि वह स्वतन्त्रतासे अनुभव करता है, क्योंकि स्वतन्त्र तो क्षेत्रज्ञ ही है।

नैष दोषः; क्षेत्रज्ञस्य स्वातन्त्र्यस्य मनउपाधिकृतत्वान्न हि

सिद्धान्ती—इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि क्षेत्रज्ञकी स्वतन्त्रता मनरूप उपाधिके कारण है,

भवति तावत्सर्वयागफलानुभव एव नाविदुषामिवानर्थायेति विद्वत्ता स्तूयते। न हि विदुष एव श्रोत्रादीनि स्वपन्ते प्राणाग्नयो वा जाग्रति जाग्रत्स्वप्नयोर्मनः। स्वातन्त्र्यमनुभवदहरहः सुषुप्तं वा प्रतिपद्यते। समानं हि सर्वप्राणिनां पर्यायेण जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिगमनमतो विद्वत्तास्तुतिरेव इयमुपपद्यते। यत्पृष्टं कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यतीति तदाह—

लेकर जबतक वह सोनेसे उठता है तबतक सम्पूर्ण यज्ञोंका फल ही अनुभव होता है, अज्ञानियोंके समान [उसकी निद्रा] अनर्थकी हेतु नहीं होती—ऐसा कहकर विद्वत्ताकी ही स्तुति की गयी है, क्योंकि केवल विद्वान्‌की ही श्रोत्रादि इन्द्रियाँ सोती और प्राणाग्नियाँ जागती हैं तथा उसीका मन जाग्रत् और सुषुप्तिमें स्वतन्त्रताका अनुभव करता हुआ रोज-रोज सुषुप्तिको प्राप्त होता है—ऐसी बात नहीं है। क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें जाना तो सभी प्राणियोंके लिये समान है। अतः यह विद्वत्ताकी स्तुति ही हो सकती है। अब, पहले जो यह पूछा था कि कौन देव स्वप्नोंको देखता है ? सो बतलाते हैं—

स्वप्नदर्शनका विवरण

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥

(बृ० उ० २ । ४ । १४) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अतो मन्दब्रह्मविदामेवेयमाशङ्का न तु एकात्मविदाम् ।

देखे ?" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है। अतः यह शङ्का मन्द ब्रह्मज्ञानियोंकी ही है, एकात्मवेत्ताओंकी नहीं ।

नन्वेवं सति "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" (बृ० उ० ४ । ३ । १४) इति विशेषणमनर्थकं भवति ।

पूर्व०—ऐसा माननेपर तो "इस स्वप्नावस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति है" इस वाक्यसे बतलाया हुआ आत्माका [स्वयंज्योति] विशेषण व्यर्थ हो जायगा ।

अत्रोच्यते; अत्यल्पमिदमुच्यते "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते" (बृ० उ० २ । १ । १७) इत्यन्तर्हृदयपरिच्छेदे सुतरां स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येत ।

सिद्धान्ती—इसपर हमें यह कहना है कि आपका यह कथन तो बहुत थोड़ा है। "यह जो हृदयके भीतरका आकाश है उसमें वह (आत्मा) शयन करता है" इस वाक्यसे आत्माका अन्तर्हृदयरूप परिच्छेद सिद्ध होनेसे तो उसका स्वयंप्रकाशत्व और भी बाधित हो जाता है ।

सत्यमेवमयं दोषो यद्यपि स्यात्स्वप्ने केवलतया स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्धं तावदपनीतं भारस्येति चेत् ।

पूर्व०—यद्यपि यह दोष तो ठीक ही है; तथापि स्वप्नमें केवलता (मनका अभाव हो जाने) के कारण आत्माके स्वयंप्रकाशत्वसे उसका आधा भार[1] तो हल्का हो ही जाता है ।

१. यहाँ भार हल्का होनेका अभिप्राय है स्वयंप्रकाशताके प्रतिबन्धकका दूर होना ।

क्षेत्रज्ञः परमार्थतः स्वतः स्वपिति जागर्ति वा । मनउपाधिकृतमेव तस्य जागरणं स्वप्नश्चेत्युक्तं वाजसनेयके "सधीः स्वप्नो भूत्वा ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७)* इत्यादि । तस्मान्मनसो विभूत्यनुभवे स्वातन्त्र्यवचनं न्याय्यमेव ।

वास्तवमें क्षेत्रज्ञ तो स्वयं न सोता है और न जागता ही है । उसका जागना और सोना तो मनरूप उपाधिके ही कारण है—ऐसा बृहदारण्यकश्रुतिमें कहा है—"वह बुद्धिसे तादात्म्य प्राप्त कर स्वप्नरूप होता है और मानो ध्यान करता तथा चेष्टा करता है" इत्यादि । अतः विभूतिके अनुभवमें मनकी स्वतन्त्रता बतलाना न्याययुक्त ही है ।

पुरुषस्य स्वयंज्योतिष्ट्व-स्थापनम्

मनउपाधिसहितत्वे स्वप्नकाले क्षेत्रज्ञस्य स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येतेति केचित् । तन्न, श्रुत्यर्थापरिज्ञानकृता भ्रान्तिः तेषाम् । यस्मात्स्वयंज्योतिष्ट्वादिव्यवहारोऽप्यामोक्षान्तः सर्वोऽविद्याविषय एव मनआद्युपाधिजनितः । "यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्" (बृ० उ० ४ । ३ । ३१) "मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति" "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्"

किन्हीं-किन्हींका कथन है कि स्वप्नकालमें मनरूप उपाधिके सहित माननेमें क्षेत्रज्ञकी स्वयंप्रकाशतामें बाधा आवेगी सो ऐसी बात नहीं है । उनकी यह भ्रान्ति श्रुत्यर्थको न जाननेके ही कारण है, क्योंकि मन आदि उपाधिसे प्राप्त हुआ स्वयंप्रकाशत्व आदि व्यवहार भी मोक्षपर्यन्त सब-का-सब अविद्याके कारण ही है । जैसा कि "जहाँ कोई अन्य-सा हो वहीं अन्यको अन्य देख सकता है" "इस आत्माको विषयका संसर्ग ही नहीं होता" "जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया वहाँ किसे किसके द्वारा

* बृहदारण्यकोपनिषद्में इस श्रुतिका पाठ इस प्रकार है—'ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वा' ।

वर्षशतेनापि श्रुत्यर्थो ज्ञातुं शक्यते सर्वैः पण्डितम्मन्यैः। यथा—हृदयाकाशे पुरीतति नाडीषु च स्वपतस्तत्संबन्धाभावात्ततो विविच्य दर्शयितुं शक्यत इत्यात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं न बाध्यते । एवं मनस्यविद्याकामकर्मनिमित्तोद्भूतवासनावति कर्मनिमित्ता वासनाविद्ययान्यद्वस्त्वन्तरमिव पश्यतः सर्वकार्यकरणेभ्यः प्रविविक्तस्य द्रष्टुर्वासनाभ्यो दृश्यरूपाभ्योऽन्यत्वेन स्वयंज्योतिष्ट्वं सुदर्पितेनापि तार्किकेण न वारयितुं शक्यते । तस्मात् साधूक्तं मनसि प्रलीनेषु करणेषु अप्रलीने च मनसि मनोमयः स्वप्नान्पश्यतीति ।

अर्थ श्रवण कर, क्योंकि अपनेको पण्डित माननेवाले सभी पुरुषोंको सौ वर्षमें भी श्रुतिका अर्थ समझमें नहीं आ सकता । जिस प्रकार [स्वप्नावस्थामें] हृदयाकाशमें और पुरीतत् नाडीमें शयन करनेवाले आत्माका स्वयंप्रकाशत्व बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि वह उससे सम्बन्ध न रहनेके कारण उससे पृथक् करके दिखलाया जा सकता है उसी प्रकार अविद्या, कामना और कर्म आदिके कारण उद्भूत हुई वासनाओंसे युक्त होनेपर भी मनमें अविद्यावश प्राप्त हुई कर्मनिमित्तक वासनाको अन्य वस्तुके समान देखनेवाले तथा सम्पूर्ण कार्य-करणोंसे पृथग्भूत द्रष्टा आत्माका स्वयंप्रकाशत्व बड़े गर्वीले तार्किकोंद्वारा भी निवृत्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह दृश्यरूप वासनाओंसे भिन्नरूपसे स्थित है । इसलिये यह कहना बहुत ठीक है कि 'इन्द्रियोंके मनमें लीन हो जानेपर तथा मनके लीन न होनेपर आत्मा मनरूप होकर स्वप्न देखा करता है ।'

न; तत्रापि "पुरीतति शेते" (बृ० उ० २ । १ । १९) इति श्रुतेः पुरीतन्नाडीसम्बन्धादत्रापि पुरुषस्य स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्धभारापनयाभिप्रायो मृषैव ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; उस अवस्थामें भी "पुरीतत् नाडीमें शयन करता है" इस श्रुतिके अनुसार जीवका पुरीतत् नाडीसे सम्बन्ध रहनेके कारण यह अभिप्राय मिथ्या ही है कि उसका आधा भार निवृत्त हो जाता है ।

कथं तर्हि "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" (बृ० उ० ४ । ३ । १४) इति ।

पूर्व०—तो फिर यह कैसे कहा गया है कि "इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंप्रकाश होता है ?"

अन्यशाखात्वादनपेक्षा सा श्रुतिरिति चेत् ।

मध्यस्थ—यदि ऐसा मानें कि अन्य शाखाकी श्रुति* होनेके कारण यहाँ उसकी कोई अपेक्षा नहीं है, तो ।

न; अर्थैकत्वस्येष्टत्वादेको ह्यात्मा सर्ववेदान्तानामर्थो विजिज्ञापयिषितो बुभुत्सितश्च । तस्माद्युक्ता स्वप्न आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वोपपत्तिर्वक्तुम् । श्रुतेर्यथार्थतत्त्वप्रकाशकत्वात् ।

पूर्व०—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि हमें सब श्रुतियोंके अर्थकी एकता ही इष्ट है । सम्पूर्ण वेदान्तोंका तात्पर्य एक आत्मा ही है; वही उन्हें बतलाना इष्ट है और वही जिज्ञासुओंको ज्ञातव्य है । इसलिये स्वप्नमें आत्माकी स्वयंप्रकाशताकी उपपत्ति बतलाना उचित है, क्योंकि श्रुति यथार्थ तत्त्वको ही प्रकाशित करनेवाली है ।

एवं तर्हि शृणु श्रुत्यर्थं हित्वा सर्वमभिमानं न त्वभिमानेन

सिद्धान्ती—अच्छा तो अब सब प्रकारका अभिमान त्यागकर श्रुतिका

* क्योंकि यह उपनिषद् अथर्ववेदीय है और 'अत्रायं पुरुषः' आदि श्रुति यजुर्वेदीय काण्व-शाखाकी है ।

सर्वः पश्यति सर्वमनोवासनोपाधिः सन्नेवं सर्वकरणात्मा मनोदेवः स्वप्नान्पश्यति ॥ ५ ॥

वह सर्वरूपसे मनोवासनारूप उपाधिवाला होकर देखता है। इस प्रकार यह सर्वेन्द्रियरूप मनोदेव स्वप्नोंको देखा करता है ॥ ५ ॥

सुषुप्तिनिरूपण

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥

जिस समय यह मन तेजसे आक्रान्त होता है उस समय यह आत्मदेव स्वप्न नहीं देखता। उस समय इस शरीरमें यह सुख होता है ॥ ६ ॥

स यदा मनोरूपो देवो यस्मिन्काले सौरेण पित्ताख्येन तेजसा नाडीशयेन सर्वतोऽभिभूतो भवति तिरस्कृतवासनाद्वारो भवति तदा सह करणैः मनसो रश्मयो हृद्युपसंहृता भवन्ति। यदा मनो दार्वग्निवदविशेषविज्ञानरूपेण कृत्स्नं शरीरं व्याप्यावतिष्ठते तदा सुषुप्तो भवति। अत्रैतस्मिन्काल एष मनआख्यो देवः स्वप्नान्न पश्यति दर्शनद्वारस्य निरुद्धत्वात्

जिस समय वह मनरूप देव नाडीमें रहनेवाले पित्तनामक सौर तेजसे सब ओरसे अभिभूत अर्थात् जिसकी वासनाओंकी अभिव्यक्तिका द्वार लुप्त हो गया है—ऐसा हो जाता है उस समय इन्द्रियोंके सहित मनकी किरणोंका हृदयमें उपसंहार हो जाता है। जिस समय मन काष्ठमें व्याप्त अग्निके समान निर्विशेष विज्ञानरूपसे सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त करके स्थित होता है उस समय वह सुषुप्ति-अवस्थामें पहुँच जाता है। यहाँ अर्थात् इस समय यह मन नामवाला देव स्वप्नोंको नहीं देखता, क्योंकि

विभूत्यनुभवप्रकारः

कथं महिमानमनुभवतीत्युच्यते; यन्मित्रं पुत्रादि वा पूर्वं दृष्टं तद्वासनावासितः पुत्रमित्रादिवासनासमुद्भूतं पुत्रं मित्रमिव वाविद्यया पश्यतीत्येवं मन्यते। तथा श्रुतमर्थं तद्वासनयानुशृणोतीव। देशदिगन्तरैश्च देशान्तरैर्दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनस्तत्प्रत्यनुभवतीवाविद्यया तथा दृष्टं चास्मिञ्जन्मन्यदृष्टं च जन्मान्तरदृष्टमित्यर्थः; अत्यन्तादृष्टे वासनानुपपत्तेः; एवं श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चास्मिञ्जन्मनि केवलेन मनसा अननुभूतं च मनसैव जन्मान्तरेऽनुभूतमित्यर्थः। सच्च परमार्थोदकादि, असच्च मरीच्युदकादि। किं बहुनोक्तानुक्तं सर्वं पश्यति

वह अपनी विभूतिका किस प्रकार अनुभव करता है ? सो अब बतलाते हैं—जो मित्र या पुत्रादि उसका पहले देखा हुआ होता है उसीकी वासनासे युक्त हो वह पुत्र-मित्रादिकी वासनासे प्रकट हुए पुत्र या मित्रको मानो अविद्यासे देखता है—ऐसा समझता है। इसी प्रकार सुने हुए विषयको मानो उसीकी वासनासे सुनता है तथा दिग्देशान्तरोंमें यानी भिन्न-भिन्न दिशा और देशोंमें अनुभव किये हुए पदार्थोंको अविद्यासे पुनः-पुनः अनुभव-सा करता है। इसी प्रकार दृष्ट—इसी जन्ममें देखे हुए एवं अदृष्ट अर्थात् जन्मान्तरमें देखे हुए, क्योंकि अत्यन्त अदृष्ट पदार्थोंमें वासनाका होना सम्भव नहीं है, तथा श्रुत-अश्रुत, अनुभूत—जिसका इसी जन्ममें केवल मनसे अनुभव किया हो, अननुभूत—जिसका मनसे ही जन्मान्तरमें अनुभव किया हो, सत्—जल आदि वास्तविक पदार्थ और असत्—मृगजल आदि, अधिक क्या कहा जाय—ऊपर कहे हुए अथवा नहीं कहे हुए सभी पदार्थोंको

पक्षिणो वासार्थं वृक्षं वासोवृक्षं प्रति संप्रतिष्ठन्ते गच्छन्ति । एवं यथा दृष्टान्तो ह वै तद्वक्ष्यमाणं सर्वं पर आत्मन्यक्षरे संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

प्रकार पक्षी अपने वासोवृक्ष—बसेरेके वृक्षकी ओर प्रस्थान करते यानी जाते हैं, यह जैसा दृष्टान्त है उसी प्रकार आगे कहा जानेवाला वह सब सर्वातीत आत्मा—अक्षरमें जाकर स्थित हो जाता है ॥ ७ ॥

किं तत्सर्वम्—

वह सब क्या है ?

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

पृथिवी और पृथिवीमात्रा (गन्धतन्मात्रा), जल और रसतन्मात्रा, तेज और रूपतन्मात्रा, वायु और स्पर्शतन्मात्रा, आकाश और शब्दतन्मात्रा, नेत्र और द्रष्टव्य (रूप), श्रोत्र और श्रोतव्य (शब्द), घ्राण और घ्रातव्य (गन्ध), रसना और रसयितव्य (रस), त्वचा और स्पर्शयोग्य पदार्थ, हाथ और ग्रहण करनेयोग्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य, पायु और विसर्जनीय, पाद और गन्तव्य स्थान, मन और मनन करनेयोग्य, बुद्धि और बोद्धव्य, अहङ्कार और अहङ्कारका

तेजसा । अथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति यद्विज्ञानं निराबाधमविशेषेण शरीरव्यापकं प्रसन्नं भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

उन्हें देखनेका द्वार तेजसे रुक जाता है । तदनन्तर इस शरीरमें यह सुख होता है; तात्पर्य यह कि जो निराबाध और सामान्यरूपसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त विज्ञान है वही स्फुट हो जाता है ॥ ६ ॥

एतस्मिन्कालेऽविद्याकामकर्मनिबन्धनानि कार्यकरणानि शान्तानि भवन्ति । तेषु शान्तेषु आत्मस्वरूपमुपाधिभिरन्यथा विभाव्यमानमद्वयमेकं शिवं शान्तं भवतीत्येतामेवावस्थां पृथिव्याद्यविद्याकृतमात्रानुप्रवेशेन दर्शयितुं दृष्टान्तमाह—

इस समय अविद्या, काम और कर्मजनित शरीर एवं इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं । उनके शान्त हो जानेपर, उपाधियोंके कारण अन्यरूपसे भासित होनेवाला आत्मस्वरूप अद्वितीय, एक, शिव और शान्त हो जाता है । अतः पृथिवी आदि अविद्याकृत मात्राओं (विषयों) के अनुप्रवेशद्वारा इसी अवस्थाको दिखलानेके लिये दृष्टान्त दिया जाता है—

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार पक्षी अपने बसेरेके वृक्षपर जाकर बैठ जाते हैं उसी प्रकार वह सब (कार्यकरणसंघात) सबसे उत्कृष्ट आत्मामें जाकर स्थित हो जाता है ॥ ७ ॥

स दृष्टान्तो यथा येन प्रकारेण सोम्य प्रियदर्शन वयांसि

वह दृष्टान्त इस प्रकार है—हे सोम्य—हे प्रियदर्शन ! जिस

तद्विषयः; तेजश्च त्वगिन्द्रिय-व्यतिरेकेण प्रकाशविशिष्टा या त्वक्तया निर्भास्यो विषयो विद्योतयितव्यम्, प्राणश्च सूत्रं यदाचक्षते तेन विधारयितव्यं संग्रथनीयं सर्वं हि कार्यकरण-जातं पारार्थ्येन संहतं नाम-रूपात्मकमेतावदेव ॥ ८ ॥

तेज यानी त्वगिन्द्रियसे भिन्न प्रकाश-विशिष्ट त्वचा और विद्योतयितव्य—उससे प्रकाशित होनेवाला विषय [चर्म] तथा प्राण जिसे सूत्रात्मक कहते हैं और उससे धारण किये जानेयोग्य अर्थात् ग्रथित होनेयोग्य [यह सब सुषुप्तिके समय आत्मामें जाकर स्थित हो जाता है, क्योंकि] पर—आत्माके लिये संहत हुआ नामरूपात्मक सम्पूर्ण कार्य करण-जात इतना ही है ॥ ८ ॥

अतः परं यदात्मरूपं जलसूर्यकादिवद्भोक्तृत्वकर्तृत्वेन इह अनुप्रविष्टम्—

इससे परे जो आत्मस्वरूप जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान इस शरीरमें कर्ता-भोक्तारूपसे अनुप्रविष्ट है—

सुषुप्तिमें जीवकी परमात्मप्राप्ति

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

यही द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता (मनन करनेवाला), बोद्धा और कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है । वह पर अक्षर आत्मामें सम्यक्प्रकारसे स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा

यही देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, मनन करनेवाला; जानने-

विषय, चित्त और चेतनीय, तेज और प्रकाश्य पदार्थ तथा प्राण और धारण करनेयोग्य वस्तु [ये सभी आत्मामें लीन हो जाते हैं] ॥ ८ ॥

पृथिवी च स्थूला पञ्चगुणा तत्कारणा च पृथिवीमात्रा च गन्धतन्मात्रा, तथापश्चापोमात्रा च, तेजश्च तेजोमात्रा च, वायुश्च वायुमात्रा च, आकाशश्चाकाशमात्रा च, स्थूलानि च सूक्ष्माणि च भूतानीत्यर्थः, तथा चक्षुश्चेन्द्रियं रूपं च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च, घ्राणं च घ्रातव्यं च, रसश्च रसयितव्यं च, त्वक्च स्पर्शयितव्यं च, वाक्च वक्तव्यं च, हस्तौ चादातव्यं च, उपस्थश्चानन्दयितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च, बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि तथा चोक्तानि, मनश्च पूर्वोक्तम्, मन्तव्यं च तद्विषयः, बुद्धिश्च निश्चयात्मिका, बोद्धव्यं च तद्विषयः, अहङ्कारश्चाभिमानलक्षणमन्तःकरणमहङ्कर्तव्यं च तद्विषयः, चित्तं च चेतनावदन्तःकरणम्, चेतयितव्यं च

शब्दादि पाँच गुणोंसे युक्त स्थूल पृथिवी और उसकी कारणभूत पृथिवीतन्मात्रा यानी गन्धतन्मात्रा, तथा जल और रसतन्मात्रा, तेज और रूपतन्मात्रा, वायु और स्पर्शतन्मात्रा एवं आकाश और शब्दतन्मात्रा; अर्थात् सम्पूर्ण स्थूल और सूक्ष्मभूत; इसी प्रकार चक्षु-इन्द्रिय और उससे द्रष्टव्य रूप, श्रोत्र और श्रवणीय (शब्द), घ्राण और घ्रातव्य (गन्ध), रस और रसयितव्य, त्वक् और स्पर्शयितव्य, वाक्-इन्द्रिय और वक्तव्य (वचन), हाथ और उनसे ग्रहण करनेयोग्य पदार्थ, उपस्थ और आनन्दयितव्य, पायु और विसर्जनीय (मल), पाद और गन्तव्य स्थान; इस प्रकार वर्णन की हुई ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तथा पूर्वोक्त मन और उसका मन्तव्य विषय, निश्चयात्मिका बुद्धि और उसका बोद्धव्य विषय, अहङ्कार—अभिमानात्मक अन्तःकरण और उसका विषय अहङ्कर्तव्य, चित्त—चेतनायुक्त अन्तःकरण और उसका चेतयितव्य विषय,

परमेवाक्षरं वक्ष्यमाणविशेषणं प्रतिपद्यत इत्येतदुच्यते । स यो ह वै तत्सर्वैषणाविनिर्मुक्तोऽच्छायं तमोवर्जितम् , अशरीरं नामरूपसर्वोपाधिशरीरवर्जितम् , अलोहितं लोहितादिसर्वगुणवर्जितम् , यत एवमतः शुभ्रं शुद्धम् , सर्वविशेषणरहितत्वादक्षरम् , सत्यं पुरुषाख्यम् , अप्राणम् अमनोगोचरम् , शिवं शान्तं सबाह्याभ्यन्तरमजं वेदयते विजानाति यस्तु सर्वत्यागी सोम्य स सर्वज्ञो न तेनाविदितं किंचित् सम्भवति । पूर्वमविद्ययासर्वज्ञ आसीत्पुनर्विद्ययाविद्यापनये सर्वो भवति तदा । तत्तस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रो भवति उक्तार्थसंग्राहकः ॥ १० ॥

उसके विषयमें ऐसा कहते हैं कि वह आगे बतलाये जानेवाले विशेषणोंसे युक्त पर अक्षरको ही प्राप्त हो जाता है । सम्पूर्ण एषणाओंसे छूटा हुआ जो अधिकारी उस अच्छाय—तमोहीन, अशरीर—नामरूपमय सम्पूर्ण औपाधिक शरीरोंसे रहित, अलोहित—लोहितादि सब प्रकारके गुणोंसे हीन, और ऐसा होनेके कारण ही जो शुभ्र—शुद्ध, सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित होनेके कारण अक्षर, पुरुषसंज्ञक सत्य, अप्राण, मनका अविषय, शिव, शान्त और सबाह्याभ्यन्तर अज परब्रह्मको जानता है, तथा जो सबका त्याग करनेवाला है, हे सोम्य ! वह सर्वज्ञ हो जाता है—उससे कुछ भी अज्ञात नहीं रह सकता । वह अविद्यावश पहले असर्वज्ञ था, फिर विद्याद्वारा अविद्याके नष्ट हो जानेपर वही सर्वरूप हो जाता है । इस विषयमें उपर्युक्त अर्थका संग्रह करनेवाला यह श्लोक यानी मन्त्र है ॥ १० ॥

अक्षरब्रह्मके ज्ञानका फल

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः
प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।

कर्ता विज्ञानात्मा विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेति करणभूतं बुद्ध्यादीदं तु विजानातीति विज्ञानं कर्तृकारकरूपं तदात्मा तत्स्वभावो विज्ञातृस्वभाव इत्यर्थः । पुरुषः कार्यकरणसंघातोक्तोपाधिपूर्णत्वात्पुरुषः । स च जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बस्य सूर्यादिप्रवेशवज्जगदाधारशेषे परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

वाला, कर्ता, विज्ञानात्मा–जिनसे जाना जाता है वह बुद्धि आदि ज्ञानके साधनस्वरूप हैं, किन्तु यह आत्मा तो उन्हें जानता है इसलिये यह कर्ता कारकरूप विज्ञान है, यह तद्रूप—वैसे स्वभाववाला अर्थात् विज्ञातृस्वभाव है । तथा कार्य-करणसंघातरूप उपाधिमें पूर्ण होनेके कारण यह पुरुष है । जलमें दिखायी देनेवाला सूर्यका प्रतिबिम्ब जिस प्रकार जलरूप उपाधिके नष्ट हो जानेपर सूर्यमें प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार यह द्रष्टा, श्रोता आदिरूपसे बतलाया गया पुरुष जगत्के आधारभूत पर अक्षर आत्मामें सम्यक्रूपसे स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

तदेकत्वविदः फलमाह—

[अक्षरब्रह्मके साथ] उस विज्ञानात्माका एकत्व जाननेवालेको जो फल मिलता है, वह बतलाते हैं—

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वो भवति । तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

हे सोम्य ! इस छायाहीन, अशरीरी, अलोहित, शुभ्र अक्षरको जो पुरुष जानता है वह पर अक्षरको ही प्राप्त हो जाता है । वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है । इस सम्बन्धमें यह श्लोक (मन्त्र) है ॥ १० ॥

पञ्चम प्रश्न

सत्यकामका प्रश्न—ओङ्कारोपासकको किस लोककी प्राप्ति होती है ?

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

तदनन्तर उन पिप्पलाद मुनिसे शिबिपुत्र सत्यकामने पूछा—'भगवन् ! मनुष्योंमें जो पुरुष प्राणप्रयाणपर्यन्त इस ओङ्कारका चिन्तन करे, वह उस (ओङ्कारोपासना) से किस लोकको जीत लेता है ?' ॥ १ ॥

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ; अथेदानीं परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वेनोङ्कारस्योपासनविधित्सया प्रश्न आरभ्यते—

स यः कश्चिद्ध वै भगवन् मनुष्येषु मनुष्याणां मध्ये तद्द् अद्भुतमिव प्रायणान्तं मरणान्तम्, यावज्जीवमित्येतत्, ओङ्कारमभिध्यायीताभिमुख्येन चिन्तयेत्,

तदनन्तर उन आचार्य पिप्पलादसे शिबिके पुत्र सत्यकामने पूछा; अब इससे आगे पर और अपर ब्रह्मकी प्राप्तिके साधनस्वरूप ओङ्कारोपासनाका विधान करनेकी इच्छासे आगेका प्रश्न प्रारम्भ किया जाता है ।

हे भगवन् ! मनुष्योंमें—मनुष्यजातिके बीच जो कोई आश्चर्यसदृश विरल पुरुष मरणपर्यन्त—यावज्जीवन ओङ्कारका अभिध्यान अर्थात् मुख्यरूपसे चिन्तन करे [वह किस लोकको जीत

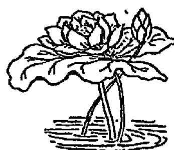
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य
स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥११॥

हे सोम्य ! जिस अक्षरमें समस्त देवोंके सहित विज्ञानात्मा प्राण और भूत सम्यक् प्रकारसे स्थित होते हैं उसे जो जानता है वह सर्वज्ञ सभीमें प्रवेश कर जाता है ॥ ११ ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्चाग्न्यादिभिः प्राणाश्चक्षुरादयो भूतानि पृथिव्यादीनि संप्रतिष्ठन्ति प्रविशन्ति यत्र यस्मिन्नक्षरे तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य प्रियदर्शन स सर्वज्ञः सर्वमेव आविवेशाविशतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

जिस अक्षरमें अग्नि आदि देवोंके सहित विज्ञानात्मा तथा चक्षु आदि प्राण और पृथिवी आदि भूत प्रतिष्ठित होते अर्थात् प्रवेश करते हैं। हे सोम्य—हे प्रियदर्शन ! उस अक्षरको जो जानता है वह सर्वज्ञ सभीमें आविष्ट अर्थात् प्रविष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये
चतुर्थः प्रश्नः ॥ ४ ॥



इति पृष्टवते तस्मै स होवाच पिप्पलादः—एतद्वै सत्यकाम ! एतद्ब्रह्म वै परं चापरं च ब्रह्म परं सत्यमक्षरं पुरुषाख्यमपरं च प्राणाख्यं प्रथमजं यत्तदोङ्कार एवोङ्कारात्मकमोङ्कारप्रतीकत्वात्। परं हि ब्रह्म शब्दाद्युपलक्षणानर्हं सर्वधर्मविशेषवर्जितमतो न शक्यमतीन्द्रियगोचरत्वात्केवलेन मनसावगाहितुम्। ओङ्कारे तु विष्ण्वादिप्रतिमास्थानीये भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ध्यायिनां तत्प्रसीदति इत्येतदवगम्यते शास्त्रप्रामाण्यात् तथापरं च ब्रह्म। तस्मात्परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार इत्युपचर्यते। तस्मादेवं विद्वानेतेनैवात्मप्राप्तिसाधनेनैवोङ्काराभिध्यानेन एकतरं परमपरं वान्वेति ब्रह्मानुगच्छति नेदिष्ठं ह्यालम्बनमोङ्कारो ब्रह्मणः ॥ २ ॥

इस प्रकार पूछनेवाले सत्यकामसे पिप्पलादने कहा—हे सत्यकाम ! यह पर और अपर ब्रह्म; पर अर्थात् सत्य अक्षर अथवा पुरुषसंज्ञक ब्रह्म तथा जो प्रथम विकाररूप प्राण-नामक अपर ब्रह्म है वह ओङ्कार ही है; अर्थात् ओङ्काररूप प्रतीकवाला होनेसे ओङ्कारस्वरूप ही है। परब्रह्म शब्दादिसे उपलक्षित होनेके अयोग्य और सब प्रकारके विशेष धर्मोंसे रहित है; अतः इन्द्रिय-गोचरतासे अतीत होनेके कारण केवल मनसे उसका अवगाहन नहीं किया जा सकता। किन्तु विष्णु आदिकी प्रतिमास्थानीय ओङ्कारमें जिसमें कि भक्तिके द्वारा ब्रह्म-भावकी स्थापना की गयी है, ध्यान करनेवालोंके प्रति प्रसन्न होता है—यह बात शास्त्र-प्रमाणसे जानी जाती है। इसी प्रकार अपर ब्रह्म भी [ओङ्कारमें ध्यान करनेवालोंके प्रति प्रसन्न होता है]। अतः पर और अपर ब्रह्म ओङ्कार ही है—ऐसा उपचारसे कहा जाता है। सुतरां, विद्वान् आत्मप्राप्तिके इस ओङ्कार-चिन्तनरूप साधनसे ही पर या अपर किसी एक ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि ओङ्कार ही ब्रह्मका सबसे अधिक समीपवर्ती आलम्बन है ॥ २ ॥

बाह्यविषयेभ्य उपसंहृतकरणः समाहितचित्तो भक्त्यावेशितब्रह्मभाव ओङ्कारे, आत्मप्रत्ययसन्तानाविच्छेदो भिन्नजातीयप्रत्ययान्तराखिलीकृतो निर्वातस्थदीपशिखासमोऽभिध्यानशब्दार्थः । सत्यब्रह्मचर्याहिंसापरिग्रहत्यागसंन्यासशौचसन्तोषामायावित्वाद्यनेकयमनियमानुगृहीतः स एवं यावज्जीवव्रतधारणः कतमं वाव, अनेके हि ज्ञानकर्मभिर्जेतव्या लोकास्तिष्ठन्ति तेषु तेनोङ्काराभिध्यानेन कतमं स लोकं जयति ॥ १ ॥

लेता है ?] इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर और चित्तको एकाग्र कर उसे भक्तिके द्वारा जिसमें ब्रह्मभावकी प्रतिष्ठा की गयी है उस ओङ्कारमें इस प्रकार लगा देना कि आत्मप्रत्ययसन्ततिका विच्छेद न हो—भिन्न जातीय प्रतीतियोंसे उसमें बाधा न आने तथा वह वायुहीन स्थानमें रक्खे हुए दीपककी शिखाके समान स्थित हो जाय——ऐसा ध्यान ही 'अभिध्यान' शब्दका अर्थ है । सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह, त्याग, संन्यास, शौच, सन्तोष, निष्कपटता आदि अनेक यम-नियमोंसे सम्पन्न होकर यावज्जीवन ऐसा व्रत धारण करनेवालेको भला कौन-सा लोक प्राप्त होगा ? क्योंकि ज्ञान और कर्मसे प्राप्त होनेयोग्य तो बहुत-से लोक हैं, उनमें उस ओङ्कारचिन्तनद्वारा वह किस लोकको जीत लेता है ? ॥ १ ॥

ओङ्कारोपासनासे प्राप्तव्य पर अथवा अपर ब्रह्म

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

उससे उस पिप्पलादने कहा—हे सत्यकाम ! यह जो ओङ्कार है वही निश्चय पर और अपर ब्रह्म है । अतः विद्वान् इसीके आश्रयसे उनमेंसे किसी एक [ब्रह्म] को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥

किम्? मनुष्यलोकम्। अनेकानि हि जन्मानि जगत्यां सम्भवन्ति। तत्र तं साधकं जगत्यां मनुष्यलोकमेवर्च उपनयन्त उपनिगमयन्ति। ऋच ऋग्वेदरूपा ह्योङ्कारस्य प्रथमैकमात्राभिध्याता। तेन स तत्र मनुष्यजन्मनि द्विजाग्र्यः संस्तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया च संपन्नो महिमानं विभूतिमनुभवति न वीतश्रद्धो यथेष्टचेष्टो भवति योगभ्रष्टः कदाचिदपि न दुर्गतिं गच्छति ॥ ३ ॥

[पृथिवीलोकमें] किसे प्राप्त होता है? मनुष्यलोकको; क्योंकि संसारमें तो अनेक प्रकारके जन्म हो सकते हैं। उनमेंसे संसारमें उस साधकको ऋचाएँ मनुष्यलोकको ही ले जाती हैं, क्योंकि ओङ्कारकी ध्यान की हुई पहली एक मात्रा (अ) ऋग्वेदरूपा है। इससे उस मनुष्य-जन्ममें वह द्विजश्रेष्ठ होकर तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न हो महिमा यानी विभूतिका अनुभव करता है—श्रद्धाहीन होकर स्वेच्छाचारी नहीं होता। ऐसा योग-भ्रष्ट कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ॥ ३ ॥

द्विमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥ ४ ॥

और यदि वह द्विमात्राविशिष्ट ओङ्कारके चिन्तनद्वारा मनसे एकत्वको प्राप्त हो जाता है तो उसे यजुःश्रुतियाँ अन्तरिक्षस्थित सोमलोकमें ले जाती हैं। तदनन्तर सोमलोकमें विभूतिका अनुभव कर वह फिर लौट आता है ॥ ४ ॥

एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥

वह यदि एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारका ध्यान करता है तो उसीसे बोधको प्राप्त कर तुरंत ही संसारको प्राप्त हो जाता है । उसे ऋचाएँ मनुष्यलोकमें ले जाती हैं । वहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न होकर महिमाका अनुभव करता है ॥ ३ ॥

स यद्यप्योङ्कारस्य सकलमात्राविभागज्ञो न भवति तथापि ओङ्काराभिध्यानप्रभावाद्विशिष्टामेव गतिं गच्छति; एतदेकदेशज्ञानवैगुण्यतयोङ्कारशरणः कर्मज्ञानोभयभ्रष्टो न दुर्गतिं गच्छति । किं तर्हि ? यद्यप्येवम् ओङ्कारमेवैकमात्राविभागज्ञ एव केवलोऽभिध्यायीतैकमात्रं सदा ध्यायीत स तेनैवैकमात्राविशिष्टोङ्काराभिध्यानेनैव संवेदितः सम्बोधितस्तूर्णं क्षिप्रमेव जगत्यां पृथिव्यामभिसम्पद्यते ।

यद्यपि वह ओङ्कारकी समस्त मात्राओंका ज्ञाता नहीं होता; तो भी ओङ्कारके चिन्तनके प्रभावसे वह विशिष्ट गतिको ही प्राप्त होता है । अर्थात् ओङ्कारकी शरणमें प्राप्त हुआ पुरुष इसके एकांश ज्ञानरूप दोषसे कर्म और ज्ञान दोनोंसे भ्रष्ट होकर दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता । तो फिर क्या होता है ? वह इस प्रकार यदि ओङ्कारकी केवल एकमात्राका ज्ञाता होकर केवल एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारका ही अभिध्यान यानी सर्वदा चिन्तन करता है तो वह उस एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारके ध्यानसे ही संवेदित अर्थात् बोध प्राप्त कर तत्काल जगती यानी पृथिवीलोकमें प्राप्त हो जाता है ।

किन्तु जो उपासक त्रिमात्राविशिष्ट 'ॐ' इस अक्षरद्वारा इस परम-पुरुषकी उपासना करता है वह तेजोमय सूर्यलोकको प्राप्त होता है। सर्प जिस प्रकार केंचुलीसे निकल आता है उसी प्रकार वह पापोंसे मुक्त हो जाता है। वह सामश्रुतियोंद्वारा ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है और इस जीवनघनसे भी उत्कृष्ट हृदयस्थित परम पुरुषका साक्षात्कार करता है। इस सम्बन्धमें ये दो श्लोक हैं ॥ ५ ॥

यः पुनरेतमोङ्कारं त्रिमात्रेण त्रिमात्राविषयविज्ञानविशिष्टेन ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं सूर्यान्तर्गतं पुरुषं प्रतीकेनाभिध्यायीत तेनाभिध्यानेन, प्रतीकत्वेन ह्यालम्बनत्वं प्रकृतम् ओङ्कारस्य परं चापरं च ब्रह्मेत्यभेदश्रुतेरोङ्कारमिति च द्वितीयानेकशः श्रुता बाध्येतान्यथा यद्यपि तृतीयाभिध्यानत्वेन करणत्वमुपपद्यते तथापि प्रकृतानुरोधात्त्रिमात्रं परं पुरुषमिति द्वितीयैव परिणेया "त्यजेदेकं

परन्तु जो पुरुष इस तीन मात्राओंवाले—तीन मात्राविषयक विज्ञानसे युक्त 'ॐ' इस अक्षरात्मक प्रतीकरूपसे पर अर्थात् सूर्य-मण्डलान्तर्गत पुरुषका चिन्तन करता है वह उस चिन्तनके द्वारा ही ध्यान करता हुआ तृतीय मात्रारूप होकर तेजोमय सूर्यलोकमें स्थित हो जाता है। वह मृत्युके पश्चात् भी चन्द्रलोकादिके समान सूर्यलोकसे लौटकर नहीं आता, बल्कि सूर्यमें लीन हुआ ही स्थित रहता है। 'परं चापरं च ब्रह्म' इस अभेदश्रुतिद्वारा ओङ्कारका प्रतीकरूपसे आलम्बनत्व बतलाया गया है [ब्रह्मप्राप्तिमें उसका साधनत्व नहीं बतलाया गया]। अन्यथा बहुत-सी श्रुतियोंमें जो 'ओङ्कारम्' ऐसी द्वितीया विभक्ति आयी है वह बाधित हो जायगी।

अथ पुनर्यदि द्विमात्राविभागज्ञो द्विमात्रेण विशिष्टमोङ्कारम् अभिध्यायीत स्वप्नात्मके मनसि मननीये यजुर्मये सोमदैवत्ये संपद्यत एकाग्रतयात्मभावं गच्छति स एवं सम्पन्नो मृतोऽन्तरिक्षम् अन्तरिक्षाधारं द्वितीयमात्रारूपं द्वितीयमात्रारूपैरेवयजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं सौम्यं जन्म प्रापयन्ति तं यजूंषीत्यर्थः । स तत्र विभूतिमनुभूय सोमलोके मनुष्यलोकं प्रति पुनरावर्तते ॥ ४ ॥

और यदि वह दो मात्राओं (अ उ) के विभागका ज्ञाता होकर द्विमात्राविशिष्ट ओङ्कारका चिन्तन करता है तो वह सोम ही जिसका देवता है उस स्वप्नात्मक यजुर्वेदस्वरूप मननीय मनको प्राप्त होता है अर्थात् एकाग्रताद्वारा उसके आत्मभावको प्राप्त हो जाता है [यानी उसे ही अपना-आप मानने लगता है] । इस अवस्थामें मृत्युको प्राप्त होनेपर वह अन्तरिक्षाधार द्वितीयमात्रास्वरूप सोमलोकमें द्वितीयमात्रारूप यजुःश्रुतियोंद्वारा सोमलोकको ले जाया जाता है । अर्थात् यजुःश्रुतियाँ उसे सोमलोकसम्बन्धी जन्म प्राप्त कराती हैं । उस सोमलोकमें विभूतिका अनुभव कर वह फिर मनुष्यलोकमें लौट आता है ॥ ४ ॥

त्रिमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥

गर्भात्परात्परं परमात्माख्यं पुरुषमीक्षते पुरिशयं सर्वशरीरानुप्रविष्टं पश्यति ध्यायमानः। तदेतस्मिन्यथोक्तार्थप्रकाशकौ मन्त्रौ भवतः ॥ ५ ॥

हिरण्यगर्भसे भी श्रेष्ठ तथा पुरिशय-सम्पूर्ण शरीरोंमें अनुप्रविष्ट परमात्मा-संज्ञक पुरुषको देखता है। इस उपर्युक्त अर्थको ही प्रकाशित करने-वाले ये दो श्लोक यानी मन्त्र हैं ॥५॥

ओङ्कारकी तीन मात्राओंकी विशेषता

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता
अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु
सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥

ओङ्कारकी तीनों मात्राएँ [पृथक्-पृथक्] रहनेपर मृत्युसे युक्त हैं। वे [ध्यान-क्रियामें] प्रयुक्त होती हैं और परस्पर सम्बद्ध तथा अनविप्रयुक्ता (जिनका विपरीत प्रयोग न किया गया हो—ऐसी) हैं। इस प्रकार बाह्य (जाग्रत्), आभ्यन्तर (सुषुप्ति) और मध्यम (स्वम-स्थानीय) क्रियाओंमें उनका सम्यक् प्रयोग किया जानेपर ज्ञाता पुरुष विचलित नहीं होता ॥ ६ ॥

तिस्रस्त्रिसंख्याका अकारोकारमकाराख्या ओङ्कारस्य मात्रा मृत्युमत्यो मृत्युर्यासां विद्यते ता मृत्युमत्यो मृत्युगोचरादनतिक्रान्ता मृत्युगोचरा एवेत्यर्थः। ता आत्मनो

ओङ्कारकी अकार, उकार और मकार—ये तीन मात्राएँ मृत्युमती हैं। जिनकी मृत्यु विद्यमान है—जो मृत्युकी पहुँचसे परे नहीं हैं अर्थात् मृत्युकी विषयभूता ही हैं उन्हें मृत्युमती कहते हैं। वे आत्मा-

कुलस्यार्थे" (महा० उ० ३७ । १७) इति न्यायेन । स तृतीयमात्रारूपस्तेजसि सूर्ये संपन्नो भवति ध्यायमानो मृतोऽपि सूर्यात्सोमलोकादिव न पुनरावर्तते किन्तु सूर्ये संपन्नमात्र एव ।

यथा पादोदरः सर्पस्त्वचा विनिर्मुच्यते जीर्णत्वग्विनिर्मुक्तः स पुनर्नवो भवति । एवं ह वा एष यथा दृष्टान्तः स पाप्मना सर्पत्वक्स्थानीयेनाशुद्धिरूपेण विनिर्मुक्तः सामभिस्तृतीयमात्रारूपैरूर्ध्वमुन्नीयते ब्रह्मलोकं हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणो लोकं सत्याख्यम् । स हिरण्यगर्भः सर्वेषां संसारिणां जीवानामात्मभूतः । स ह्यन्तरात्मा लिङ्गरूपेण सर्वभूतानाम्, तस्मिन्हि लिङ्गात्मनि संहताः सर्वे जीवाः । तस्मात्स जीवघनः । स विद्वांस्त्रिमात्रोङ्काराभिज्ञ एतस्माज्जीवघनाद्धिरण्य-

यद्यपि 'ओमित्येतेन' इस पदमें तृतीया विभक्ति होनेके कारण इसका करणत्व (साधनत्व) मानना भी ठीक है तथापि "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे" (कुलके हितके लिये एक व्यक्तिका त्याग कर देना चाहिये) इस न्यायसे प्रकरणके अनुसार इसे 'त्रिमात्रं परं पुरुषम्' इस प्रकार द्वितीया विभक्तिमें ही परिणत कर लेना चाहिये ।

जिस प्रकार पादोदर—सर्प केंचुलीसे छूट जाता है, और वह जीर्ण त्वचासे छूटकर पुनः नवीन हो जाता है, उसी प्रकार जैसा कि यह दृष्टान्त है, वह साधक सर्पकी केंचुलीरूप अशुद्धिमय पापसे मुक्त हो तृतीय मात्रारूप सामश्रुतियोंद्वारा ऊपरकी ओर ब्रह्मलोकको यानी हिरण्यगर्भ—ब्रह्माके सत्यनामक लोकको ले जाया जाता है । वह हिरण्यगर्भ सम्पूर्ण संसारी जीवोंका आत्मस्वरूप है । वही लिङ्गदेहरूपसे समस्त जीवोंका अन्तरात्मा है । उस लिङ्गात्मा हिरण्यगर्भमें ही समस्त जीव संहत हैं । अतः वह जीवघन है । वह त्रिमात्र ओङ्कारका ज्ञाता एवं ध्यान करनेवाला विद्वान् इस उत्तम जीवघनस्वरूप

ओङ्कारात्मरूपेण दृष्टाः । स ह्येवं विद्वान्सर्वात्मभूत ओङ्कारमयः कुतो वा चलेत्कस्मिन्वा ॥ ६ ॥

स्वरूपसे देखे जा चुके हैं । इस प्रकार सर्वात्मभूत और ओङ्कार-स्वरूपताको प्राप्त हुआ वह विद्वान् कहाँसे और किसके प्रति विचलित होगा ? ॥ ६ ॥

ऋगादि वेद और ओङ्कारसे प्राप्त होनेवाले लोक

सर्वार्थसंग्रहार्थो द्वितीयो मन्त्रः—

दूसरा मन्त्र उपर्युक्त सम्पूर्ण अर्थका संग्रह करनेके लिये है—

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं
सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते ।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥७॥

साधक ऋग्वेदद्वारा इस लोकको, यजुर्वेदद्वारा अन्तरिक्षको और सामवेदद्वारा उस लोकको प्राप्त होता है जिसे विज्ञजन जानते हैं । तथा उस ओङ्काररूप आलम्बनके द्वारा ही विद्वान् उस लोकको प्राप्त होता है जो शान्त, अजर, अमर, अभय एवं सबसे पर (श्रेष्ठ) है ॥७॥

ऋग्भिरेतं लोकं मनुष्योपलक्षितम् । यजुर्भिरन्तरिक्षं सोमाधिष्ठितम् । सामभिर्यत्तद् ब्रह्मलोकमिति तृतीयं कवयो मेधाविनो विद्यावन्त एव नाविद्वांसो वेदयन्ते ।

ऋग्वेदद्वारा इस मनुष्योपलक्षित लोकको, यजुर्वेदद्वारा सोमाधिष्ठित अन्तरिक्षको और सामवेदद्वारा उस तृतीय ब्रह्मलोकको, जिसे कि कवि, मेधावी अर्थात् विद्वान्लोग ही जानते हैं—अविद्वान् नहीं;

ध्यानक्रियासु प्रयुक्ताः, किं चान्योन्यसक्ता इतरेतरसंबद्धाः, अनविप्रयुक्ता विशेषेणैकैकविषय एव प्रयुक्ता विप्रयुक्ताः, न तथा विप्रयुक्ता अविप्रयुक्ता नाविप्रयुक्ता अनविप्रयुक्ताः ।

किं तर्हि, विशेषेणैकस्मिन्ध्यानकाले तिसृषु क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानपुरुषाभिध्यानलक्षणासु योगक्रियासु सम्यक्प्रयुक्तासु सम्यग्ध्यानकाले प्रयोजितासु न कम्पते न चलति ज्ञो योगी यथोक्तविभागज्ञ ओङ्कारस्येत्यर्थः, न तस्यैवंविदश्चलनमुपपद्यते । यस्माज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तपुरुषाः सह स्थानैर्मात्रात्रयरूपेण

की ध्यानक्रियाओंमें प्रयुक्त होती हैं; और अन्योन्यसक्त यानी एक-दूसरीसे सम्बद्ध हैं [तथा] वे 'अनविप्रयुक्ता' हैं—जो विशेषरूपसे एक विषयमें ही प्रयुक्त हों वे 'विप्रयुक्ता' कहलाती हैं, तथा जो विप्रयुक्ता न हों उन्हें 'अविप्रयुक्ता' कहते हैं और जो अविप्रयुक्ता नहीं हैं वे ही 'अनविप्रयुक्ता' कहलाती हैं ।

तो इससे क्या सिद्ध हुआ ? इस प्रकार विशेषरूपसे एक ही बाह्य, आभ्यन्तर और मध्यम तीन क्रियाओंमें यानी ध्यानकालमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके अभिमानी [विश्व, तैजस और प्राज्ञ अथवा समष्टिरूपसे विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर—इन तीनों] पुरुषोंके अभिध्यानरूप योगक्रियाओंके सम्यक् प्रयोग किये जानेपर—सम्यग् ध्यानकालमें प्रयोजित होनेपर ज्ञानी—योगी अर्थात् ओङ्कारकी मात्राओंके पूर्वोक्त विभागको जाननेवाला साधक विचलित नहीं होता । इस प्रकार जाननेवाले उस योगीका विचलित होना सिद्ध नहीं होता; क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके अभिमानी पुरुष अपने स्थानोंके सहित मात्रात्रयरूप ओङ्कार

षष्ठ प्रश्न



सुकेशाका प्रश्न—सोलह कलाओंवाला पुरुष कौन है ?

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥

तदनन्तर उन पिप्पलादाचार्यसे भरद्वाजके पुत्र सुकेशाने पूछा—"भगवन् ! कोसलदेशके राजकुमार हिरण्यनाभने मेरे पास आकर यह प्रश्न पूछा था—'भारद्वाज ! क्या तू सोलह कलाओंवाले पुरुषको जानता है ?' तब मैंने उस कुमारसे कहा—'मैं इसे नहीं जानता; यदि मैं इसे जानता होता तो तुझे क्यों न बतलाता ? जो पुरुष मिथ्या भाषण करता है वह सब ओरसे मूलसहित सूख जाता है; अतः मैं मिथ्या भाषण नहीं कर सकता ।' तब वह चुपचाप रथपर चढ़कर चला गया । सो अब मैं आपसे उसके विषयमें पूछता हूँ कि वह पुरुष कहाँ है ?" ॥ १ ॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । समस्तं जगत्कार्यकारणलक्षणं सह विज्ञानात्मना परस्मिन्नक्षरे सुषुप्तिकाले सम्प्र-	तदनन्तर उन पिप्पलादाचार्यसे भरद्वाजके पुत्र सुकेशाने पूछा । पहले यह कहा जा चुका है कि सुषुप्तिकालमें विज्ञानात्माके सहित सम्पूर्ण कार्यकारणरूप जगत् अक्षर (अविनाशी) परम पुरुषमें लीन

तं त्रिविधं लोकमोङ्कारेण साधनेनापरब्रह्मलक्षणमन्वेत्यनुगच्छति विद्वान् ।

तेनैवोङ्कारेण यत्तत्परं ब्रह्माक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं शान्तं विमुक्तं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिविशेषसर्वप्रपञ्चविवर्जितमत एव अजरं जरावर्जितममृतं मृत्युवर्जितमत एव यस्माज्जराविक्रियारहितमतोऽभयम्, यस्मादेव अभयं तस्मात्परं निरतिशयम्; तदप्योङ्कारेणायतनेन गमनसाधनेनान्वेतीत्यर्थः । इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ७ ॥

इस क्रमसे ओङ्काररूप साधनके द्वारा ही विद्वान् अपरब्रह्मस्वरूप इस त्रिविध लोकको प्राप्त हो जाता है अर्थात् इन तीनोंका अनुगमन करता है ।

उस ओङ्कारसे ही वह उस अक्षर सत्य और पुरुषसंज्ञक परब्रह्मको प्राप्त होता है जो शान्त अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि विशेषभावसे मुक्त तथा सब प्रकारके प्रपञ्चसे रहित है, इसीलिये जो अजर—जराशून्य अतः अमृत—मृत्युरहित है । क्योंकि वह जरा आदि विकारोंसे रहित है इसलिये अभयरूप है । और अभय होनेके कारण ही पर—निरतिशय है । तात्पर्य यह कि उसे भी वह ओङ्काररूप आलम्बन यानी गमनसाधनके द्वारा ही प्राप्त होता है । मन्त्रके अन्तमें 'इति' शब्द वाक्यकी परिसमाप्तिके लिये है ॥ ७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये
पञ्चमः प्रश्नः ॥ ५ ॥



हे भगवन् हिरण्यनाभो नामतः कोसलायां भवः कौसल्यो राजपुत्रो जातितः क्षत्रियो माम् उपेत्योपगम्यैतमुच्यमानं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं षोडशसंख्याकाः कला अवयवा इव आत्मन्यविद्याध्यारोपितरूपा यस्मिन् पुरुषे सोऽयं षोडशकलस्तं षोडशकलं हे भारद्वाज पुरुषं वेत्थ विजानासि । तमहं राजपुत्रं कुमारं पृष्टवन्तमब्रुवमुक्तवानस्मि नाहमिमं वेद यं त्वं पृच्छसीति ।

[अब सुकेशाका प्रश्न आरम्भ होता है–] हे भगवन् ! कोसलपुरीमें उत्पन्न हुए हिरण्यनाभनामक एक राजपुत्रने–जो जातिका क्षत्रिय था मेरे समीप आकर यह आगे कहा जानेवाला प्रश्न किया–'हे भारद्वाज ! क्या तू षोडशकल पुरुषको—जिस पुरुषमें, शरीरमें अवयवोंके समान, अविद्यावश सोलह कलाएँ आरोपित की गयी हों उसे षोडशकल पुरुष कहते हैं ऐसे उस सोलह कलाओंवाले पुरुषको क्या तू जानता है ?' इस प्रकार पूछते हुए उस राजकुमारसे मैंने कहा—'तुम जिसके विषयमें पूछते हो मैं उसे नहीं जानता ।'

एवमुक्तवत्यपि मय्यज्ञानमसंभावयन्तं तमज्ञाने कारणमवादिषम् । यदि कथञ्चिदहमिमं त्वया पृष्टं पुरुषमवेदिषं विदितवानस्मि कथमत्यन्तशिष्यगुणवतेऽर्थिने ते तुभ्यं नावक्ष्यं नोक्तवानस्मि न ब्रूयामित्यर्थः । भूयोऽप्यप्रत्ययमिवालक्ष्य प्रत्याययितुमब्रवम् । समूलः सह मूलेन वा एषोऽन्यथा

ऐसा कहनेपर भी मुझमें अज्ञानकी सम्भावना न करनेवाले उस राजकुमारको मैंने अपने अज्ञानका कारण बतलाया—'यदि कहीं तेरे पूछे हुए इस पुरुषको मैं जानता तो तुझ अत्यन्त शिष्यगुणसम्पन्न प्रार्थीसे क्यों न कहता ? अर्थात् तुझे क्यों न बतलाता ?' फिर भी उसे अविश्वस्त-सा देख उसको विश्वास दिलानेके लिये मैंने कहा—'जो पुरुष अपने आत्माको अन्यथा करता हुआ अनृत—अयथार्थ

तिष्ठत इत्युक्तम् । सामर्थ्यात्प्रलयेऽपि तस्मिन्नेवाक्षरे सम्प्रतिष्ठते जगत्तत एवोत्पद्यत इति सिद्धं भवति । न ह्यकारणे कार्यस्य सम्प्रतिष्ठानमुपपद्यते ।

उक्तं च 'आत्मन एष प्राणो जायते' इति । जगतश्च यन्मूलं तत्परिज्ञानात्परं श्रेय इति सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः । अनन्तरं चोक्तं 'स सर्वज्ञः सर्वो भवति' इति वक्तव्यं च क्व तर्हि तदक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं विज्ञेयमिति तदर्थोऽयं प्रश्न आरभ्यते । वृत्तान्वाख्यानं च विज्ञानस्य दुर्लभत्वख्यापनेन तल्लब्ध्यर्थं मुमुक्षूणां यत्नविशेषोपादानार्थम् ।

हो जाता है । इसी नियमके अनुसार यह भी सिद्ध होता है कि प्रलयकालमें भी यह जगत् उस अक्षरमें ही स्थित होता है और फिर उसीसे उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि जो कारण नहीं है उसमें कार्यका लीन होना सम्भव नहीं है ।

इसके सिवा [प्रश्न ३ । ३ में] यह कहा भी है कि 'यह प्राण आत्मासे उत्पन्न होता है' तथा सम्पूर्ण उपनिषदोंका यह निश्चित अभिप्राय है कि 'जो जगत्का आदि कारण है उसके ज्ञानसे ही आत्यन्तिक कल्याण हो सकता है ।' अभी [प्रश्न ४ । १० में] यह कहा जा चुका है कि 'वह सर्वज्ञ और सर्वात्मक हो जाता है ।' अतः अब यह बतलाना चाहिये कि 'उस पुरुषसंज्ञक सत्य और अक्षरको कहाँ जानना चाहिये ?' इसीके लिये यह [छठा] प्रश्न आरम्भ किया जाता है । आख्यायिकाका उल्लेख इसलिये किया गया है कि जिससे विज्ञानकी दुर्लभता प्रदर्शित होनेसे मुमुक्षुलोग उसकी प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न करें ।

उससे आचार्य पिप्पलादने कहा—'हे सोम्य ! जिसमें इन सोलह कलाओंका प्रादुर्भाव होता है वह पुरुष इस शरीरके भीतर ही वर्तमान है ॥ २ ॥

तस्मै स होवाच । इहैवान्तःशरीरे हृदयपुण्डरीकाकाशमध्ये हे सोम्य स पुरुषो न देशान्तरे विज्ञेयो यस्मिन्नेता उच्यमानाः षोडश कलाः प्राणाद्याः प्रभवन्ति उत्पद्यन्त इति षोडशकलाभिः उपाधिभूताभिः सकल इव निष्कलः पुरुषो लक्ष्यतेऽविद्ययेति तदुपाधिकलाध्यारोपापनयेन विद्यया स पुरुषः केवलो दर्शयितव्य इति कलानां तत्प्रभवत्वमुच्यते।प्राणादीनामत्यन्तनिर्विशेषे ह्यद्वये शुद्धे तत्त्वे न शक्योऽध्यारोपमन्तरेण प्रतिपाद्यप्रतिपादनादिव्यवहारः कर्तुमिति कलानां प्रभवस्थित्यप्यया आरोप्यन्ते अविद्याविषयाः । चैतन्या-

उससे उस (पिप्पलादाचार्य) ने कहा—हे सोम्य ! उस पुरुषको यहीं—इस शरीरके भीतर हृदय-पुण्डरीकाकाशमें ही जानना चाहिये—किसी अन्य देश (स्थान) में नहीं, जिस (पुरुष) में कि इन आगे कही जानेवाली प्राण आदि सोलह कलाओंका प्रादुर्भाव होता है अर्थात् जिससे ये उत्पन्न होती हैं। इन उपाधिभूत सोलह कलाओंके कारण वह पुरुष कला-हीन होकर भी अविद्यावश कला-वान्-सा दिखलायी देता है। उन औपाधिक कलाओंके अध्यारोपकी विद्यासे निवृत्ति करके उस पुरुषको शुद्ध दिखलाना है इसलिये प्राणादि कलाओंको उसीसे उत्पन्न होनेवाली कहा है, क्योंकि अत्यन्त निर्विशेष, अद्वय और विशुद्ध तत्त्वमें अध्या-रोपके बिना प्रतिपाद्य-प्रतिपादन आदि कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता। इसलिये उसमें कलाओंके अविद्याविषयक उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका आरोप किया जाता है, क्योंकि ये कलाएँ चैतन्यसे

सन्तमात्मानमन्यथा कुर्वन्ननृतमयथाभूतार्थमभिवदति यः स परिशुष्यति शोषमुपैतीहलोकपरलोकाभ्यां विच्छिद्यते विनश्यति। यत एवं जाने तस्मान्नार्हाम्यहमनृतं वक्तुं मूढवत्।

स राजपुत्र एवं प्रत्यायितः तूष्णीं व्रीडितो रथमारुह्य प्रवव्राज प्रगतवान् यथागतमेव। अतो न्यायत उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या वक्तव्यैवानृतं च न वक्तव्यं सर्वास्वप्यवस्थासु इत्येतत्सिद्धं भवति। तं पुरुषं त्वा त्वां पृच्छामि मम हृदि विज्ञेयत्वेन शल्यमिव मे हृदि स्थितं क्वासौ वर्तते विज्ञेयः पुरुष इति ॥ १ ॥

भाषण करता है वह समूल अर्थात् मूलके सहित सूख जाता है अर्थात् इस लोक और परलोक दोनोंसे ही विलग होकर नष्ट हो जाता है। मैं इस बातको जानता हूँ, इसलिये अज्ञानी पुरुषके समान मिथ्या भाषण नहीं कर सकता।'

इस प्रकार विश्वास दिलाये जानेपर वह राजकुमार चुपचाप—संकुचित हो रथपर चढ़कर जहाँसे आया था वहीं चला गया। इससे यह सिद्ध होता है कि अपने समीप नियमपूर्वक आये हुए योग्य जिज्ञासुके प्रति विज्ञ पुरुषको विद्याका उपदेश करना ही चाहिये तथा सभी अवस्थाओंमें मिथ्या भाषण कभी न करना चाहिये। [सुकेशा कहता है—हे भगवन्!] मेरे हृदयमें ज्ञातव्यरूपसे काँटेके समान खटकते हुए उस पुरुषके विषयमें मैं आपसे पूछता हूँ कि वह ज्ञातव्य पुरुष कहाँ रहता है?॥१॥



पिप्पलादका उत्तर—वह पुरुष शरीरमें स्थित है

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ २ ॥

पदार्थेषु चैतन्यस्याव्यभिचाराद्यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वम्।

ज्ञेयवस्तुनि ज्ञानस्य अव्यभिचारो भवति

वस्तुतत्त्वं भवति किञ्चित्; न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्, रूपं च दृश्यते न चास्ति चक्षुरिति यथा। व्यभिचरति तु ज्ञेयम्; न ज्ञानं व्यभिचरति कदाचिदपि ज्ञेयम्, ज्ञेयाभावेऽपि ज्ञेयान्तरे भावाज्ज्ञानस्य। न हि ज्ञानेऽसति ज्ञेयं नाम भवति कस्यचित्; सुषुप्तेऽदर्शनात्।

ज्ञानस्यापि सुषुप्तेऽभावाज्ज्ञेयवज्ज्ञानस्वरूपस्य व्यभिचार इति चेत्।

पदार्थोंमें चैतन्यका व्यभिचार (परिवर्तन) न होनेके कारण जो पदार्थ जिस-जिस प्रकार जाना जाता है उसके उस-उस प्रकार जाने-जानेके कारण ही उस-उस पदार्थके चैतन्यका अव्यभिचार सिद्ध होता है। *

'कोई वस्तुतत्त्व है तो सही किन्तु जाना नहीं जाता' ऐसा कहना तो 'रूप तो दिखलायी देता है परन्तु नेत्र नहीं है' इस कथनके समान अयुक्त ही है। ज्ञेयका तो ज्ञानमें व्यभिचार होता है किन्तु ज्ञानका ज्ञेयमें कभी व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि एक ज्ञेयका अभाव होनेपर भी ज्ञेयान्तरमें ज्ञानका सद्भाव रहता ही है; ज्ञानके अभावमें तो ज्ञेय किसीके लिये रहता ही नहीं, जैसा कि सुषुप्तिमें उनका अभाव देखा जाता है।

मध्यस्थ—सुषुप्तिमें तो ज्ञानका भी अभाव है; अतः उस समय ज्ञेयके समान ज्ञानके स्वरूपका भी व्यभिचार होता है?

* जो पदार्थ जिस प्रकार जाना जाता है उसके ज्ञानके प्रकारभेदका कारण तो उपाधि है परन्तु उसमें ज्ञानत्व उस अव्यभिचारी चैतन्यका ही है जो सारी उपाधियोंकी ओटमें उनके अधिष्ठानरूपसे सर्वत्र अनुस्यूत है। इसीलिये यह कहा गया है कि जो पदार्थ जिस प्रकार भासता है उसके उसी प्रकार भासित होनेसे ही उस पदार्थके चैतन्यका अव्यभिचार सिद्ध होता है, क्योंकि यदि उसमें चैतन्यका व्यभिचार होता तो उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता था।

व्यतिरेकेणैव हि कला जायमानाः तिष्ठन्त्यः प्रलीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते ।

अत एव भ्रान्ताः केचिद् अग्निसंयोगाद् घृतमिव घटाद्याकारेण चैतन्यम् एव प्रतिक्षणं जायते नश्यतीति। तन्निरोधे शून्यमिव सर्वमित्यपरे । घटादिविषयं चैतन्यं चेतयितुर्नित्यस्यात्मनोऽनित्यं जायते विनश्यतीत्यपरे । चैतन्यं भूतधर्म इति लौकायतिकाः । अनपायोपजनधर्मकचैतन्यमात्मा एव नामरूपाद्युपाधिधर्मैः प्रत्यवभासते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २ । १ । १) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ०उ० ५ । ३) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३ । ९ । २८) "विज्ञानघन एव" (बृ० उ० २ । ४ । १२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । स्वरूपव्यभिचारिषु

आत्मचैतन्ये विकल्पाः

अभिन्न रहकर ही सर्वदा उत्पन्न, स्थित तथा लीन होती देखी जाती हैं ।

इसीसे कुछ भ्रान्त पुरुषोंका मत है कि 'अग्निके संयोगसे घृतके समान चैतन्य ही प्रत्येक क्षणमें घट आदि आकारोंमें उत्पन्न और नष्ट हो रहा है ।' इनसे भिन्न दूसरों (शून्यवादियों) का मत है कि 'इनका निरोध हो जानेपर सब कुछ शून्यमय हो जाता है ।' तथा अन्य (नैयायिक) कहते हैं कि चेतयिता नित्य आत्माकी घटादिको विषय करनेवाली अनित्य चेतनता उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, तथा लौकायतिकों (देहात्मवादियों) का कथन है कि 'चेतनता भूतोंका धर्म है ।' परन्तु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "प्रज्ञानं ब्रह्म" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "विज्ञानघन एव" इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति-नाशरूप धर्मसे रहित चेतन ही आत्मा है; वही नाम-रूप आदि औपाधिक धर्मोंसे युक्त भास रहा है । अपने स्वरूपसे व्यभिचारी (बदलनेवाले)

गम्यते वैनाशिकैर्नित्यश्च तदव्यतिरिक्तं चेज्ज्ञानं नित्यं कल्पितं स्यात्तदभावस्य च ज्ञानात्मकत्वादभावत्वं वाङ्मात्रमेव न परमार्थतोऽभावत्वमनित्यत्वं च ज्ञानस्य । न च नित्यस्य ज्ञानस्याभावनाममात्राध्यारोपे किञ्चिन्नश्छिन्नम् ।

गया है । वैनाशिकोंने अभावको भी ज्ञेय और नित्य स्वीकार किया है । यदि ज्ञान उससे [ज्ञेयसे] अभिन्न है तो वह [उनके मतमें भी] नित्य मान लिया जाता है । तथा उसका अभाव भी ज्ञानस्वरूप होनेके कारण उसका अभावत्व नाममात्रको ही रहता है, वास्तवमें ज्ञानका अभावत्व एवं अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता । नित्यज्ञानका केवल 'अभाव' नाम रख देनेसे ही हमारा कुछ बिगड़ नहीं जाता ।

अथाभावो ज्ञेयोऽपि सन् ज्ञानव्यतिरिक्त इति चेत् ।

मध्यस्थ—किन्तु यदि अभाव ज्ञेय होनेपर भी ज्ञानसे भिन्न माना जाय तो ?

न तर्हि ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावः ।

सिद्धान्ती—तब तो ज्ञेयका अभाव होनेपर ज्ञानका अभाव हो ही नहीं सकता ।

ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं न तु ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तमिति चेत् ।

मध्यस्थ—परन्तु ज्ञेय ही ज्ञानसे भिन्न माना जाय, ज्ञान ज्ञेयसे भिन्न न माना जाय तो ?

न; शब्दमात्रत्वाद्विशेषानुपपत्तेः । ज्ञेयज्ञानयोरेकत्वं चेदभ्युपगम्यते ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तं नेति तु शब्दमात्रमेतद्वह्निरग्निव्यतिरिक्तः

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि यह कथन केवल शब्दमात्र होनेसे इसमें कोई विशेषता नहीं है । यदि तुम ज्ञान और ज्ञेयकी अभिन्नता मानते हो तो 'ज्ञेय ज्ञानसे भिन्न है किन्तु ज्ञान ज्ञेयसे भिन्न नहीं है' यह कथन इसी प्रकार केवल शब्दमात्र है जैसे यह मानना

सुषुप्तौ ज्ञानसद्भाव-स्थापनम्

न, ज्ञेयावभासकस्य ज्ञानस्यालोकवज्ज्ञेयाभिव्यञ्जकत्वात्स्वव्यङ्ग्याभाव आलोकाभावानुपपत्तिवत्सुषुप्ते विज्ञानाभावानुपपत्तेः। न ह्यन्धकारे चक्षुषा रूपानुपलब्धौ चक्षुषोऽभावः शक्यः कल्पयितुं वैनाशिकेन।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं। ज्ञेयका अवभासक ज्ञान प्रकाशके समान ज्ञेयकी अभिव्यक्तिका कारण है; अतः प्रकाश्य वस्तुओंके अभावमें जिस प्रकार प्रकाशका अभाव नहीं माना जाता उसी प्रकार सुषुप्तिमें वस्तुओंकी प्रतीति न होनेसे विज्ञानका अभाव मानना ठीक नहीं। अन्धकारमें रूपकी उपलब्धि न होनेपर वैनाशिक [क्षणिक विज्ञानवादी] भी नेत्रके अभावकी कल्पना नहीं कर सकता।

वैनाशिको ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावं कल्पयत्येवेति चेत्।

मध्यस्थ—परन्तु वैनाशिक तो ज्ञेयके अभावमें ज्ञानके अभावकी कल्पना करता ही है।

वैनाशिकमत-समीक्षा

येन तदभावं कल्पयेत्तस्याभावः केन कल्प्यत इति वक्तव्यं वैनाशिकेन, तदभावस्यापि ज्ञेयत्वाज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः।

सिद्धान्ती—उस वैनाशिकको यह बतलाना चाहिये कि जिस [ज्ञान] से ज्ञेयके अभावकी कल्पना की जाती है उसका अभाव किससे कल्पना किया जाता है? क्योंकि उस [ज्ञान] का अभाव भी ज्ञेयरूप होनेके कारण बिना ज्ञानके सिद्ध नहीं हो सकता।

ज्ञानस्य ज्ञेयाव्यतिरिक्तत्वाज्ज्ञेयाभावे ज्ञानाभाव इति चेत्।

मध्यस्थ—ज्ञान ज्ञेयसे अभिन्न है, इसलिये ज्ञेयके अभावमें ज्ञानका भी अभाव हो जाता है—ऐसा मानें तो?

न; अभावस्यापि ज्ञेयत्वाभ्युपगमादभावोऽपि ज्ञेयोऽभ्युप-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अभाव भी ज्ञेयरूप माना

ज्ञानस्य ज्ञेयत्वमेवेति तदप्यन्येन तदप्यन्येनेति त्वत्पक्षेऽतिप्रसङ्ग इति चेत् ।

पूर्व०—ज्ञानको किसी अन्य ज्ञेयकी अपेक्षा है—यदि ऐसा मानें तो तेरे पक्षमें 'वह ज्ञान किसी अन्यका ज्ञेय है और वह किसी अन्यका' ऐसा माननेसे अनवस्था-दोष होगा ।

न, तद्विभागोपपत्तेः सर्वस्य । यदा हि सर्वं ज्ञेयं कस्यचित्तदा तद्व्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञानमेवेति द्वितीयो विभाग एवाभ्युपगम्यतेऽवैनाशिकैर्न तृतीयस्तद्विषय इत्यनवस्थानुपपत्तिः ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुओंका [ज्ञान और ज्ञेयरूपसे] विभाग किया जा सकता है । जब कि सब वस्तुएँ किसी एकहीकी ज्ञेय हैं तो उनसे भिन्न [उनका प्रकाशक] ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है । यह वैनाशिकोंसे इतर मतावलम्बियोंने दूसरा ही विभाग माना है । इस विषयमें कोई तीसरा विभाग नहीं माना गया । अतः उनके मतमें अनवस्था नहीं आ सकती ।

ज्ञानस्य स्वेनैवाविज्ञेयत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति चेत् ।

पूर्व०—यदि ज्ञानको अपनेसे ही ज्ञेय न माना जायगा तो उसके सर्वज्ञत्वकी हानि होगी ।

सोऽपि दोषस्तस्यैवास्तु किं तन्निबर्हणेनास्माकम् । अनवस्थादोषश्च ज्ञानस्य ज्ञेयत्वाभ्युपगमात् । अवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम् । स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थानिवार्या ।

सिद्धान्ती—यह दोष भी उस [वैनाशिक] का ही हो सकता है; हमें उसे रोकनेकी क्या आवश्यकता है ? अनवस्थादोष भी ज्ञानका ज्ञेयत्व माननेसे ही है । वैनाशिकोंके मतमें ज्ञान ज्ञेय तो अवश्य ही है; अतः अपना ही ज्ञेय न हो सकनेके कारण उसकी अनवस्था भी अनिवार्य ही है ।

अग्निर्न वह्निव्यतिरिक्त इति यद्वदभ्युपगम्यते । ज्ञेयव्यतिरेके तु ज्ञानस्य ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावानुपपत्तिः सिद्धा ।

कि 'वह्नि अग्निसे भिन्न है, परन्तु अग्नि वह्निसे भिन्न नहीं है ।' अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ज्ञेयसे व्यतिरिक्त होनेके कारण ज्ञेयका अभाव होनेपर ज्ञानका अभाव नहीं माना जा सकता ।

ज्ञेयाभावेऽदर्शनादभावो ज्ञानस्येति चेत् ?

मध्यस्थ—परन्तु ज्ञेयका अभाव हो जानेपर तो प्रतीत न होनेके कारण ज्ञानका भी अभाव हो जाता है ?

न, सुषुप्ते ज्ञप्त्यभ्युपगमात् । वैनाशिकैरभ्युपगम्यते हि सुषुप्तेऽपि ज्ञानास्तित्वम् ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सुषुप्तिमें ज्ञप्तिका अस्तित्व माना गया है—वैनाशिकोंने सुषुप्तिमें भी विज्ञानका अस्तित्व स्वीकार किया ही है ।

तत्रापि ज्ञेयत्वमभ्युपगम्यते ज्ञानस्य स्वेनैवेति चेत् ।

मध्यस्थ—परन्तु उस अवस्थामें भी ज्ञानका ज्ञेयत्व स्वयं अपनेसे [ज्ञानसे] ही माना जाता है ।*

न, भेदस्य सिद्धत्वात् । सिद्धं ह्यभावविज्ञेयविषयस्य ज्ञानस्य अभावज्ञेयव्यतिरेकाज्ज्ञेयज्ञानयोः अन्यत्वम् । न हि तत्सिद्धं मृतमिवोज्जीवयितुं पुनरन्यथा कर्तुं शक्यते वैनाशिकशतैरपि ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उन [ज्ञान और ज्ञेय] का भेद सिद्ध हो ही चुका है । अभावरूप विज्ञेयविषयक ज्ञान अभावरूप ज्ञेयसे भिन्न होनेके कारण ज्ञेय और ज्ञानकी भिन्नता पहले सिद्ध हो ही चुकी है । उस सिद्ध हुई बातको, मृतकको पुनः जीवित करनेके समान, सैकड़ों वैनाशिक भी अन्यथा नहीं कर सकते ।

* अर्थात् ज्ञान ज्ञानका ही ज्ञेय माना गया है ।

सच्छरीरं कारणकारणं स्वस्य पुरुषं कुण्डवदरमिवाभ्यन्तरीकुर्यात् ।

अपने कारणके कारण पुरुषको, कूँडेमें बेरके समान, अपने भीतर नहीं कर सकता ।

बीजवृक्षादिवत्स्यादिति चेत् । यथा बीजकार्यं वृक्षस्तत्कार्यं च फलं स्वकारणकारणं बीजमभ्यन्तरीकरोत्याम्रादि तद्वत् पुरुषमभ्यन्तरीकुर्याच्छरीरं स्वकारणकारणमपीति चेत् ।

पूर्व०—यदि बीज और वृक्षादिके समान ऐसा हो सकता हो तो ? जिस प्रकार बीजका कार्य वृक्ष है और उसका कार्य आम्रादि फल अपने कारणके कारण बीजको अपने भीतर कर लेता है उसी प्रकार अपने कारणका कारण होनेपर भी शरीर पुरुषको अपने भीतर कर लेगा--ऐसा मानें तो ?

न; अन्यत्वात्सावयवत्वाच्च । दृष्टान्ते कारणबीजाद् वृक्षफलसंवृतान्यन्यान्येव बीजानि दार्ष्टान्तिके तु स्वकारणकारणभूतः स एव पुरुषः शरीरेऽभ्यन्तरीकृतः श्रूयते । बीजवृक्षादीनां सावयवत्वाच्च स्यादाधाराधेयत्वं निरवयवश्च पुरुषः सावयवाश्च कलाः शरीरं च । एतेनाकाशस्यापि शरीराधारत्वमनुपपन्नं

सिद्धान्ती—[पूर्वबीजसे] अन्य और सावयव होनेके कारण यह दृष्टान्त ठीक नहीं है । दृष्टान्तमें कारणरूप बीजसे वृक्षके फलसे ढँके हुए बीज भिन्न ही हैं, किन्तु दार्ष्टान्तमें तो अपने कारणका कारणरूप वही पुरुष शरीरके भीतर हुआ सुना जाता है । इसके सिवा सावयव होनेके कारण भी बीज और वृक्षादिमें परस्पर आधार-आधेयभाव हो सकता है । किन्तु इधर पुरुष तो निरवयव है तथा कलाएँ और शरीर सावयव हैं । इससे तो शरीर आकाशका भी आधार नहीं बन सकता, फिर

समान एवायं दोष इति चेत्।

पूर्व०—यह दोष तो तुम्हारे पक्षमें भी ऐसा ही है।*

न, ज्ञानस्यैकत्वोपपत्तेः।

ज्ञानावभासस्य औपाधिकमनेकत्वम् सर्वदेशकालपुरुषाद्यवस्थमेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात् सवित्रादिजलादिप्रतिबिम्बवद् अनेकधावभासत इति। नासौ दोषः। तथा चेहेदमुच्यते।

सिद्धान्ती—नहीं, ज्ञानका एकत्व सिद्ध हो जानेके कारण [हमारे मतमें ऐसा कोई दोष नहीं आ सकता; हम तो मानते हैं कि] सम्पूर्ण देश, काल और पुरुष आदि अवस्थाओंमें, जलादिमें प्रतिबिम्बित हुए सूर्य आदिके समान एक ही ज्ञान अनेक प्रकारसे भासित हो रहा है। अतः [हमारे मतमें] यह दोष नहीं है। इसीसे यहाँ यह [कलाओंके प्रादुर्भावकी] बात कही गयी है।

ननु श्रुतेरिहैवान्तःशरीरे परिच्छिन्नः कुण्डबदरवत्पुरुष इति।

पूर्व०—परन्तु इस श्रुतिके अनुसार तो पुरुष, कूँडेमें बेरके समान इस शरीरमें ही परिच्छिन्न है।

न, प्राणादिकलाकारणत्वात्। न हि शरीरमात्रपरिच्छिन्नस्य प्राणश्रद्धादीनां कलानां कारणत्वं प्रतिपत्तुं शक्नुयात्। कलाकार्यत्वाच्च शरीरस्य। न हि पुरुषकार्याणां कलानां कार्यं

आत्मनः अपरिच्छिन्नत्वनिरूपणम्

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि पुरुष प्राणादि कलाओंका कारण है; और जो शरीरमात्रसे परिच्छिन्न होगा उसे प्राण एवं श्रद्धादि कलाओंके कारणरूपसे कोई नहीं जान सकता, क्योंकि शरीर तो उन कलाओंका ही कार्य है। पुरुषकी कार्यरूप कलाओंका कार्य होकर शरीर

* क्योंकि ज्ञानको किसीका ज्ञेय न माननेसे उसका व्यवहार ही सिद्ध नहीं हो सकता।

इति मनसापीच्छति वक्तुं मूढोऽपि किमुत प्रमाणभूता श्रुतिः ॥ २ ॥

बात कहनेकी तो कोई मूढ पुरुष भी अपने मनसे भी इच्छा नहीं कर सकता, फिर प्रमाणभूता श्रुतिकी तो बात ही क्या है ? ॥ २ ॥

यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीत्युक्तं पुरुषविशेषणार्थं कलानां प्रभवः स चान्यार्थोऽपि श्रुतः केन क्रमेण स्यादित्यत इदमुच्यते—चेतनपूर्विका च सृष्टिरित्येवमर्थं च ।

ऊपर 'जिसमें ये सोलह कलाएँ उत्पन्न होती हैं' यह बात पुरुषकी विशेषता बतलानेके लिये कही है। इस प्रकार अन्य अर्थ [यानी पुरुषकी विशेषता बतलाने] के लिये श्रवण किया हुआ वह कलाओंका प्रादुर्भाव किस क्रमसे हुआ होगा यह बतलानेके लिये तथा सृष्टि चेतनपूर्विका है—इस बातको भी प्रकट करनेके लिये अब इस प्रकार कहा जाता है—

ईक्षणपूर्वक सृष्टि

स ईक्षांचक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥

उसने विचार किया कि किसके उत्क्रमण करनेपर मैं भी उत्क्रमण कर जाऊँगा और किसके स्थित रहनेपर मैं स्थित रहूँगा ? ॥ ३ ॥

स पुरुषः षोडशकलः पृष्टो यो भारद्वाजेन ईक्षांचक्र ईक्षणं दर्शनं चक्रे कृतवानित्यर्थः सृष्टिफलक्रमादिविषयम् । कथम् ?

उस सोलह कलाओंवाले पुरुषने, जिसके विषयमें भारद्वाजने प्रश्न किया था, [प्राणादिकी] उत्पत्ति, [उसके उत्क्रमण आदि] फल और [प्राणसे श्रद्धा आदि] क्रमके विषयमें ईक्षण-दर्शन यानी विचार किया । किस प्रकार विचार

किमुताकाशकारणस्य पुरुषस्य तस्मादसमानो दृष्टान्तः ।

किं दृष्टान्तेन वचनात्स्यादिति चेत् ।

न; वचनस्याकारकत्वात् । न हि वचनं वस्तुनोऽन्यथाकरणे व्याप्रियते । किं तर्हि ? यथाभूतार्थद्योतने । तस्मादन्तःशरीर इत्येतद्वचनमण्डस्यान्तर्व्योमेतिवच्च द्रष्टव्यम् ।

उपलब्धिनिमित्तत्वाच्च, दर्शनश्रवणमननविज्ञानादिलिङ्गैः अन्तःशरीरे परिच्छिन्न इव ह्युपलभ्यते पुरुष उपलभ्यते चात उच्यतेऽन्तःशरीरे सोम्य स पुरुष इति । न पुनराकाशकारणः सन्कुण्डबदरवच्छरीरपरिच्छिन्न

आकाशके भी कारणस्वरूप पुरुषकी तो बात ही क्या है । इसलिये यह दृष्टान्त विषम है ।

मध्यस्थ–दृष्टान्तसे क्या है ? श्रुतिके वचनसे तो ऐसा ही होना चाहिये ।

सिद्धान्ती–ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वचन कुछ करनेवाला नहीं है । किसी वस्तुको कुछ-का-कुछ कर देनेके लिये वचन प्रवृत्त नहीं हुआ करता । तो फिर वह क्या करता है ? वह तो ज्यों-की-त्यों वस्तु दिखलानेमें ही प्रवृत्त होता है । अतः 'अन्तःशरीरे' इस वचनको 'अण्डेके भीतर आकाश' इस कथनके समान ही समझना चाहिये ।

इसके सिवा उपलब्धिका कारण होनेसे भी [ऐसा कहा गया है] । दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान [जानना] आदि लिङ्गोंसे पुरुष शरीरके भीतर परिच्छिन्न-सा दिखलायी देता है, तथा इस [शरीर] में ही उसकी उपलब्धि भी होती है । इसीलिये यह कहा गया है कि 'हे सोम्य ! वह पुरुष इस शरीरके भीतर है ।' नहीं तो, आकाशका भी कारण होकर वह कूँडेमें बेरके समान शरीरमें परिच्छिन्न है—ऐसी

मानेऽचेतने प्रधाने चेतनवदुपचारोऽयं 'स ईक्षांचक्रे' इत्यादिः। यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये राजेति तद्वत्।

अचेतन प्रधानमें चेतनकी भाँति 'उसने विचार किया' इत्यादि प्रयोग औपचारिक है; जैसे राजाका सारा कार्य करनेवाले सेवकको भी 'राजा' कहा जाता है, उसीके समान इसे समझना चाहिये।

सांख्यमत-निरसनम्

न; आत्मनो भोक्तृत्ववत्कर्तृत्वोपपत्तेः। यथा सांख्यस्य चिन्मात्रस्यापरिणामिनोऽप्यात्मनो भोक्तृत्वं तद्वद्वेदवादिनामीक्षादिपूर्वकं जगत्कर्तृत्वमुपपन्नं श्रुतिप्रामाण्यात्।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि आत्माके भोक्तृत्वके समान उसका कर्तृत्व भी बन सकता है। जिस प्रकार सांख्यमतमें चिन्मात्र और अपरिणामी आत्माका भोक्तृत्व सम्भव है उसी प्रकार श्रुति-प्रमाणसे वेदवादियोंके मतमें उसका ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व भी बन सकता है।

तत्त्वान्तरपरिणाम आत्मनोऽनित्यत्वाशुद्धत्वानेकत्वनिमित्तो न चिन्मात्रस्वरूपविक्रिया। अतः पुरुषस्य स्वात्मन्येव भोक्तृत्वे चिन्मात्रस्वरूपविक्रिया न दोषाय। भवतां पुनर्वेदवादिनां सृष्टिकर्तृत्वे तत्त्वान्तरपरिणाम एवेत्यात्मनोऽनित्यत्वादिसर्वदोषप्रसङ्ग इति चेत्।

पूर्व०—आत्माका तत्त्वान्तरपरिणाम ही उसके अनित्यत्व, अशुद्धत्व और अनेकत्वका कारण है, चिन्मात्रस्वरूपका विकार नहीं। अतः पुरुषका अपनेमें ही भोक्तृत्व रहनेके कारण उसका चिन्मात्रस्वरूप विकार किसी प्रकारके दोषका कारण नहीं है। किन्तु आप वेदवादियोंके मतानुसार सृष्टिका कर्तृत्व माननेमें तो उसका तत्त्वान्तरपरिणाम ही मानना होगा और इससे आत्माके अनित्यत्व आदि सब प्रकारके दोषोंका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा।

इत्युच्यते कस्मिन्कर्तृविशेषे देहादुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि अहमेवं कस्मिन्वा शरीरे प्रतिष्ठिते अहं प्रतिष्ठास्यामि प्रतिष्ठितः स्यामित्यर्थः ।

नन्वात्माकर्ता प्रधानं कर्तृ, अतः पुरुषार्थं प्रयोजन- मुररीकृत्य प्रधानं प्रवर्तते महदाद्याकारेण । तत्रेद- मनुपपन्नं पुरुषस्य स्वातन्त्र्येण ईक्षापूर्वकं कर्तृत्ववचनम्; सत्त्वादिगुणसाम्ये प्रधाने प्र- माणोपपन्ने सृष्टिकर्तरि सतीश्व- रेच्छानुवर्तिषु वा परमाणुषु सत्स्वात्मनोऽप्येकत्वेन कर्तृत्वे साधनाभावादात्मन आत्मन्य- नर्थकर्तृत्वानुपपत्तेश्च । न हि चेतनावान्बुद्धिपूर्वकार्यात्मनोऽनर्थं कुर्यात् । तस्मात्पुरुषार्थेन प्रयोजनेन ईक्षापूर्वकमिव नियतक्रमेण प्रवर्त-

सृष्टौ सांख्यानां प्रधानकर्तृत्वम्

किया? सो बतलाते हैं—'किस विशेष कर्ताके शरीरसे उत्क्रमण करनेपर मैं भी उत्क्रमण कर जाऊँगा तथा इसी प्रकार शरीरमें किसके स्थित रहनेपर मैं भी स्थित रहूँगा' [—यह निश्चय करनेके लिये उसने विचार किया]।

पूर्व०—[सांख्यमतानुसार] आत्मा अकर्ता है और प्रधान सब कुछ करनेवाला है। अतः पुरुषके लिये उसके [भोग और अपवर्गरूप] प्रयोजनको सामने रख प्रधान ही महदादिरूपसे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सत्त्वादि गुणोंके साम्यावस्था-रूप एवं सृष्टिकर्ता प्रधानके प्रमाणतः सिद्ध होते हुए तथा [नैयायिकके मतानुसार] ईश्वरकी इच्छाका अनुवर्तन करनेवाले परमाणुओंके रहते हुए एकमात्र होनेके कारण आत्माके कर्तृत्वमें कोई साधन न होनेसे तथा उसका अपने ही लिये अनर्थकारित्व भी सिद्ध न हो सकनेके कारण पुरुषका जो स्वतन्त्रतासे ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व बतलाया गया है वह अयुक्त है; क्योंकि बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाला कोई भी चेतनायुक्त व्यक्ति अपना अनर्थ नहीं करेगा। अतः पुरुषके प्रयोजनसे मानो ईक्षा-पूर्वक नियमित क्रमसे प्रवृत्त हुए

तथेतरे तार्किकाः सांख्यैः । इत्येवं परस्परविरुद्धार्थकल्पनात आमिषार्थिन इव प्राणिनोऽन्योन्यविरुद्धमानार्थदर्शित्वात् परमार्थतत्त्वाद्दूरम् एवापकृष्यन्ते । अतस्तन्मतमनादृत्य वेदान्तार्थतत्त्वमेकत्वदर्शनं प्रति आदरवन्तो मुमुक्षवः स्युरिति तार्किकमतदोषप्रदर्शनं किञ्चिदुच्यते अस्माभिर्न तु तार्किकवत्तात्पर्येण ।

तथैतदत्रोक्तम्—

"विवदत्स्वेव निक्षिप्य
विरोधोद्भवकारणम् ।
तैः संरक्षितसद्बुद्धिः
सुखं निर्वाति वेदवित् ॥"

इति ।

किं च भोक्तृत्वकर्तृत्वयोर्विक्रिययोर्विशेषानुपपत्तिः । का नामासौ कर्तृत्वाज्जात्यन्तरभूता भोक्तृत्वविशिष्टा विक्रिया यतो भोक्तैव पुरुषः कल्प्यते न कर्ता

इसी प्रकार दूसरे तार्किक सांख्यवादियोंसे परास्त हो जाते हैं । इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अर्थकी कल्पना कर मांसलोलुप प्राणियोंके समान एक-दूसरेके विरोधी अर्थको ही देखनेवाले होनेसे परमार्थतत्त्वसे दूर ही हटा दिये जाते हैं । अतः मुमुक्षुलोग उनके मतका अनादर कर वेदान्तके तात्पर्यार्थ एकत्वदर्शनके प्रति आदरयुक्त हों—इसलिये ही हम तार्किकोंके मतका किञ्चित् दोष प्रदर्शित करते हैं, तार्किकोंके समान कुछ तत्परतासे नहीं ।

तथा इस विषयमें ऐसा कहा गया है—

"[भेद सत्य है—इस विरोधकी उत्पत्तिके कारणको विवाद करनेवालोंके ऊपर ही छोड़कर जिसने अपनी सद्बुद्धिको उनसे सुरक्षित रक्खा है वह वेदवेत्ता सुखपूर्वक शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।"

इसके सिवा, भोक्तृत्व और कर्तृत्व इन दोनों विकारोंमें कोई अन्तर मानना भी उचित नहीं है । कर्तृत्वसे विजातीय यह भोक्तृत्वविशिष्ट विकार है क्या ? जिससे कि पुरुष भोक्ता ही माना जाता

आत्मनः कर्तृत्वादिव्यवहारस्य औपाधिकत्वम्

न; एकस्याप्यात्मनोऽविद्यायां विषयनामरूपोपाध्यनुपाधिकृतविशेषाभ्युपगमादविद्याकृतनामरूपोपाधिकृतो हि विशेषोऽभ्युपगम्यत आत्मनो बन्धमोक्षादिशास्त्रकृतसंव्यवहाराय परमार्थतोऽनुपाधिकृतं च तत्त्वमेकमेवाद्वितीयमुपादेयं सर्वतार्किकबुद्ध्यनवगाह्यमभयं शिवम् इष्यते न तत्र कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा क्रियाकारकफलं च स्याद् अद्वैतत्वात्सर्वभावानाम् ।

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है, क्योंकि हम अविद्याविषयक नाम-रूपमय उपाधि तथा उसके अभावके कारण ही एकमात्र [निरुपाधिक] आत्माकी [औपाधिक] विशेषता मानते हैं । बन्ध-मोक्षादि शास्त्रके व्यवहारके लिये ही आत्माका अविद्याकृत नाम-रूप-उपाधिमूलक विशेष माना गया है; परमार्थतः तो अनुपाधिकृत एक अद्वितीय तत्त्व ही मानना चाहिये, जो सम्पूर्ण तार्किकोंकी बुद्धिका अविषय, अभय और शिवस्वरूप है । उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व अथवा क्रिया-कारक या फल कुछ भी नहीं है, क्योंकि सभी भाव अद्वैतरूप हैं।

सांख्यास्त्वविद्याध्यारोपितम् एव पुरुषे कर्तृत्वं क्रियाकारकं फलं चेति कल्पयित्वागमबाह्यत्वात्पुनस्ततस्त्रस्यन्तः परमार्थत एव भोक्तृत्वं पुरुषस्येच्छन्ति तत्त्वान्तरं च प्रधानं पुरुषात्परमार्थवस्तुभूतमेव कल्पयन्तोऽन्यतार्किककृतबुद्धिविषयाः सन्तो विहन्यन्ते ।

परन्तु सांख्यवादी तो पुरुषमें पहले अविद्यारोपित क्रिया, कारक, कर्तृत्व और फलकी कल्पना कर फिर वेदबाह्य होनेके कारण उससे घबड़ाकर पुरुषका वास्तविक भोक्तृत्व मान बैठे हैं । तथा प्रधानको पुरुषसे भिन्न तत्त्वान्तरभूत परमार्थवस्तु मान लेनेके कारण अन्य तार्किकोंकी बुद्धिके विषय होकर अपने सिद्धान्तसे गिरा दिये जाते हैं ।

पुरुषयोर्विशिष्टविक्रिया कल्प्यते।

विशिष्ट विकारकी कल्पना केवल शब्दमात्रसे ही की गयी है।

अथ भोगकालेऽपि चिन्मात्र एव प्राग्वत्पुरुष इति चेत्।

पूर्व०—ठीक है, परन्तु भोगकालमें भी तो पुरुष पूर्ववत् चिन्मात्र ही है।

न तर्हि परमार्थतो भोगः पुरुषस्य।

सिद्धान्ती—तब तो परमार्थतः पुरुषका भोग ही सिद्ध नहीं होता।

भोगकाले चिन्मात्रस्य विक्रिया परमार्थैव तेन भोगः पुरुषस्येति चेत्।

*पूर्व*०—परन्तु भोगकालमें जो चिन्मात्र पुरुषका विकार होता है वह वास्तविक ही होता है; इससे पुरुषका भोग सिद्ध होता है।

न; प्रधानस्यापि भोगकाले विक्रियावत्त्वाद्भोक्तृत्वप्रसङ्गः। चिन्मात्रस्यैव विक्रिया भोक्तृत्वम् इति चेदौष्ण्याद्यसाधारणधर्मवतामग्न्यादीनामभोक्तृत्वे हेत्वनुपपत्तिः।

सिद्धान्ती—नहीं, भोगकालमें तो प्रधान भी विकारयुक्त होता है, इससे उसके भी भोक्तृत्वका प्रसङ्ग आ जायगा। यदि कहो कि भोक्तृत्व चिन्मात्रके ही विकारका नाम है तो उष्णता आदि असाधारण धर्मवाले अग्नि आदिके अभोक्तृत्वमें भी कोई कारण नहीं दिखलायी देता [क्योंकि जिस प्रकार चेतनता पुरुषका असाधारण धर्म है उसी प्रकार उष्णता आदि उनके असाधारण धर्म हैं]।

प्रधानपुरुषयोर्द्वयोर्युगपद्भोक्तृत्वमिति चेत्।

मध्यस्थ—यदि प्रधान और पुरुष दोनोंका साथ-साथ भोक्तृत्व मांना जाय तो ?

प्रधानं तु कर्त्रेव न भोक्त्रिति ।

सांख्यानां कर्तृत्वभोक्तृत्व-स्वरूपविवेचनम्

ननूक्तं पुरुषश्चिन्मात्र एव स च स्वात्मस्थो विक्रियते भुञ्जानो न तत्त्वान्तरपरिणामेन । प्रधानं तु तत्त्वान्तरपरिणामेन विक्रियतेऽतोऽनेकमशुद्धमचेतनं चेत्यादिधर्मवत्तद्विपरीतः पुरुषः ।

अस्य परिहारः

नासौ विशेषो वाङ्मात्रत्वात् । प्राग्भोगोत्पत्तेः केवलचिन्मात्रस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वं नाम विशेषो भोगोत्पत्तिकाले चेज्जायते निवृत्ते च भोगे पुनस्तद्विशेषादपेतश्चिन्मात्र एव भवतीति चेन्महदाद्याकारेण च परिणम्य प्रधानं ततोऽपेत्य पुनः प्रधानं स्वरूपेणावतिष्ठत इत्यस्यां कल्पनायां न कश्चिद्विशेष इति वाङ्मात्रेण प्रधान-

है, कर्ता नहीं तथा प्रधान कर्ता ही है, भोक्ता नहीं ?

पूर्व०—यह पहले ही कहा जा चुका है कि पुरुष चिन्मात्र ही है और वह भोग करते समय अपने स्वरूपमें स्थित हुआ ही विकारको प्राप्त होता है—उसका विकार तत्त्वान्तरपरिणामके द्वारा नहीं होता। किन्तु प्रधान तत्त्वान्तर-परिणामके द्वारा विकृत होता है; अतः वह [महत्तत्त्वादि-भेदसे] अनेक, अशुद्ध और अचेतन आदि धर्मोंसे युक्त है, तथा पुरुष उससे विपरीत स्वभाववाला है।

सिद्धान्ती—यह कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि यह तो केवल शब्दमात्र है। यदि भोगोत्पत्तिके पूर्व केवल चिन्मात्ररूपसे स्थित पुरुषमें भोगकी उत्पत्तिके समय ही भोक्तृत्वरूप कोई विशेषता उत्पन्न होती है और भोगके निवृत्त होनेपर उस विशेषताके दूर हो जानेपर वह फिर चिन्मात्र ही रह जाता है तो प्रधान भी महत् आदिरूपसे परिणत होकर उनसे निवृत्त होनेपर फिर प्रधानरूपसे ही स्थित हो जाता है। अतः इस कल्पनामें कोई विशेषता नहीं है; इसलिये तुम्हारे द्वारा प्रधान और पुरुषके

कल्पनागमबाह्या व्यर्था निर्हेतुका चेति नादर्तव्या मुमुक्षुभिः ।

ऐसी कल्पना शास्त्रबाह्य, व्यर्थ और निर्हेतुका है; यह मुमुक्षुओंसे आदर की जानेयोग्य नहीं है ।

एकत्वेऽपि शास्त्रप्रणयनाद्यानर्थक्यमिति चेत् ।

मध्यस्थ—परन्तु शास्त्ररचना आदिकी व्यर्थता तो एकत्व माननेमें भी है ।

आत्मैक्यबोधे शास्त्राभावात् शास्त्राभावः

न, अभावात् । सत्सु हि शास्त्रप्रणेत्रादिषु तत्फलार्थिषु च शास्त्रस्य प्रणयनमनर्थकं सार्थकं वेति विकल्पना स्यात् । न ह्यात्मैकत्वे शास्त्रप्रणेत्रादयस्ततो भिन्नाः सन्ति तदभाव एवं विकल्पनैवानुपपन्ना ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उस समय तो उन (शास्त्रादि) का भी अभाव हो जाता है । शास्त्रप्रणेता आदि तथा उनके फलेच्छुकोंके रहते हुए ही 'शास्त्ररचना सार्थक है अथवा निरर्थक'—ऐसा विकल्प हो सकता है । आत्माका एकत्व सिद्ध होनेपर तो शास्त्रप्रणेता आदि भी उस (आत्मतत्त्व) से भिन्न नहीं रहते; तथा उनका अभाव हो जानेपर तो इस प्रकारका विकल्प ही नहीं बन सकता ।

अभ्युपगत आत्मैकत्वे प्रमाणार्थश्चाभ्युपगतो भवता यदात्मैकत्वमभ्युपगच्छता, तदभ्युपगमे च विकल्पानुपपत्तिमाह शास्त्रम् "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इत्यादि ।

इसके सिवा आत्मैकत्वका निश्चय हो जानेपर जिस एकत्वका निश्चय करनेवाले तुमने उसके प्रतिपादक शास्त्रकी अर्थवत्ता भी स्वीकार की है, उस (एकत्व) का निश्चय हो जानेपर भी शास्त्र "जहाँ इसे सब कुछ आत्मरूप ही हो जाता है वहाँ किसके द्वारा किसे देखे ?" इत्यादिरूपसे विकल्पकी असम्भावना ही बतलाता है । तथा

न; प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तेः। न हि भोक्त्रोर्द्वयोरितरेतरगुणप्रधानभाव उपपद्यते प्रकाशयोरिवेतरेतरप्रकाशने।

भोगधर्मवति सत्त्वाङ्गिनि चेतसि पुरुषस्य चैतन्यप्रतिबिम्बोदयोऽविक्रियस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वमिति चेत्।

न; पुरुषस्य विशेषाभावे भोक्तृत्वकल्पनानर्थक्यात्। भोगरूपश्चेदनर्थः पुरुषस्य नास्ति सदा निर्विशेषत्वात्पुरुषस्य कस्य अपनयनार्थं मोक्षसाधनं शास्त्रं प्रणीयते। अविद्याध्यारोपितानर्थापनयनाय शास्त्रप्रणयनमिति चेत्परमार्थतः पुरुषो भोक्तैव न कर्ता प्रधानं कर्त्रेव न भोक्तृ परमार्थसद्वस्त्वन्तरं पुरुषाच्चेतीयं

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इससे प्रधानका पारार्थ्य (अन्यके लिये होना) सिद्ध नहीं होगा। जिस प्रकार एक-दूसरेको प्रकाशित करनेमें दो प्रकाशोंका गौण-मुख्य भाव नहीं बन सकता उसी प्रकार दो भोक्ताओंका भी परस्पर गौण-मुख्य भाव नहीं हो सकता।

पूर्व०—यदि ऐसा मानें कि 'भोगधर्मवान् सत्त्वगुणप्रधान चित्तमें जो चैतन्यके प्रतिबिम्बका उदय होना है वही अविकारी पुरुषका भोक्तृत्व है' तो ?

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि इससे तो पुरुषकी कोई विशेषता न होनेके कारण उसके भोक्तृत्वकी कल्पना ही व्यर्थ सिद्ध होती है। यदि सर्वदा निर्विशेष होनेके कारण पुरुषमें भोगरूप अनर्थ है ही नहीं तो मोक्षका साधनरूप शास्त्र किस [दोष] की निवृत्तिके लिये रचा गया है ? यदि कहो कि शास्त्ररचना तो अविद्यासे आरोपित अनर्थकी निवृत्तिके लिये है तो 'पुरुष परमार्थतः भोक्ता ही है, कर्ता नहीं तथा प्रधान कर्ता ही है, भोक्ता नहीं और वह परमार्थतः पुरुषसे भिन्न कोई सद्वस्तु है'

नात्प्रमाणभूतायाः । तत्र हि गौणी कल्पना शब्दस्य यत्र मुख्यार्थो न सम्भवति । इह त्वचेतनस्य मुक्तबद्धपुरुषविशेषापेक्षया कर्तृकर्मदेशकालनिमित्तापेक्षया च बन्धमोक्षादिफलार्था नियता पुरुषं प्रति प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । यथोक्तसर्वज्ञेश्वरकर्तृत्वपक्षे तूपपन्ना ॥ ३ ॥

श्रुतिका मुख्य अर्थ बाधित हो जाता है । जहाँ मुख्य अर्थ लेना सम्भव नहीं होता वहीं शब्दकी गौणी कल्पना की जाती है । इस प्रसङ्गमें तो मुक्त-बद्ध पुरुषविशेषकी अपेक्षासे तथा कर्ता, कर्म, देश, काल और निमित्तकी अपेक्षासे पुरुषके प्रति अचेतन प्रधानकी नियत प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, पूर्वोक्त सर्वज्ञ ईश्वरको कर्ता माननेके पक्षमें तो वह उचित ही है ॥ ३ ॥

सृष्टिक्रम

ईश्वरेणेव सर्वाधिकारी प्राणः पुरुषेण सृज्यते । कथम् ?

राजाके समान पुरुषने ही सर्वाधिकारी प्राणकी रचना की है; किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—]

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥ ४ ॥

उस पुरुषने प्राणको रचा; फिर प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्नको तथा अन्नसे वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोकोंको एवं लोकोंमें नामको उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

स पुरुष उक्तप्रकारेणेक्षित्वा प्राणं हिरण्यगर्भाख्यं सर्वप्राणि-

उस पुरुषने उपर्युक्त प्रकारसे ईक्षण कर हिरण्यगर्भसंज्ञक समष्टि प्राणको अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंकी

शास्त्रप्रणयनाद्युपपत्तिं चाहान्यत्र परमार्थवस्तुस्वरूपादविद्याविषये। "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इत्यादि विस्तरतो वाजसनेयके ।

अत्र च विभक्ते विद्याविद्ये परापरे इत्यादावेव शास्त्रस्य । अतो न तार्किकवादभटप्रवेशो वेदान्तराजप्रमाणबाहुगुप्त इहात्मैकत्वविषय इति ।

एतेनाविद्याकृतनामरूपाद्युपाधिकृतानेकशक्तिसाधनकृतभेदवत्त्वाद्ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकर्तृत्वे साधनाद्यभावो दोषः प्रत्युक्तो वेदितव्यः परैरुक्त आत्मानर्थकर्तृत्वादिदोषश्च ।

सृष्टेः चेतनपूर्वकत्व-स्थापनम्

यस्तु दृष्टान्तो राज्ञः सर्वार्थकारिणि कर्तर्युपचाराद्राजा करोतीति सोऽत्रानुपपन्नः "स ईक्षांचक्रे" इति श्रुतेर्मुख्यार्थबाध-

परमार्थवस्तुके स्वरूपसे अन्यत्र अविद्यासम्बन्धी विषयोंमें "जहाँ द्वैत-सा होता है" आदि बृहदारण्यक-श्रुतिमें शास्त्ररचना आदिकी उपपत्ति भी विस्तारसे बतलायी है ।

यहाँ [अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद्में] तो शास्त्रके आरम्भमें ही परा और अपरारूप विद्या तथा अविद्याका विभाग किया है । अतः वेदान्त-रूपी राजाकी प्रमाणरूपिणी भुजाओंसे सुरक्षित इस आत्मैकत्व-राज्यमें तार्किक-वादरूप योद्धाओं-का प्रवेश नहीं हो सकता ।

इस प्रतिपादनसे ब्रह्मका सृष्टि आदिके कर्तृत्वमें साधनादिका अभावरूप दोष भी निरस्त हुआ समझना चाहिये, क्योंकि अविद्याकृत नाम-रूप आदि उपाधिके कारण ब्रह्म अनेक शक्ति और साधनजनित भेदोंसे युक्त है; तथा इसीसे हमारे विपक्षियोंका बतलाया हुआ आत्मा-का अपना ही अनर्थ-कर्तृत्वरूप दोष भी निवृत्त हो जाता है ।

और तुमने जो यह दृष्टान्त दिया कि राजाका सारा कार्य करनेवाले सेवकमें ही 'राजा कर्ता है' ऐसा उपचार किया जाता है, सो यहाँ ठीक नहीं है, क्योंकि इससे "स ईक्षांचक्रे" इस प्रमाणभूता

एवं प्राणिनां कार्यं करणं च सृष्ट्वा तत्स्थित्यर्थं व्रीहियवादिलक्षणमन्नम् । ततश्चान्नादद्यमानाद्वीर्यं सामर्थ्यं बलं सर्वकर्मप्रवृत्तिसाधनम् । तद्वीर्यवतां च प्राणिनां तपो विशुद्धिसाधनं सङ्कीर्यमाणानाम् । मन्त्रास्तपोविशुद्धान्तर्बहिःकरणेभ्यः कर्मसाधनभूता ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः । ततः कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम् । ततो लोकाः कर्मणां फलम् । तेषु च सृष्टानां प्राणिनां नाम च देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादि ।

इस प्रकार प्राणियोंके कार्य [विषय] और करणों [इन्द्रियों] की रचना कर उनकी स्थितिके लिये उसने व्रीहियवादिरूप अन्न उत्पन्न किया । फिर उस खाये हुए अन्नसे सब प्रकारके कर्मोंकी प्रवृत्तिका साधनभूत वीर्य-सामर्थ्य यानी बल उत्पन्न किया । तदनन्तर वर्णसंकरताको प्राप्त होते हुए उन वीर्यवान् प्राणियोंकी शुद्धिके साधनभूत तपकी रचना की । फिर जिनके बाह्य और अन्तःकरणोंकी तपसे शुद्धि हो गयी है उन प्राणियोंके लिये कर्मके साधनभूत ऋक्, यजुः, साम और अथर्वाङ्गिरस मन्त्रोंकी रचना की और तत्पश्चात् अग्निहोत्रादि कर्म तथा कर्मोंके फलस्वरूप लोक निर्माण किये । फिर इस प्रकार रचे हुए उन लोकोंमें प्राणियोंके देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम बनाये ।

एवमेताः कलाः प्राणिनामविद्यादिदोषबीजापेक्षया सृष्टाः तैमिरिकदृष्टिसृष्टा इव द्विचन्द्रमशकमक्षिकाद्याः स्वप्नदृक्सृष्टा इव च सर्वपदार्थाः पुनस्तस्मिन्नेव पुरुषे प्रलीयन्ते हित्वा नामरूपादिविभागम् ॥ ४ ॥

इस प्रकार तिमिर-रोगीकी दृष्टिसे रचे हुए द्विचन्द्र, मशक (मच्छर) और मक्षिका आदि तथा स्वप्नद्रष्टाके बनाये हुए सब पदार्थोंके समान प्राणियोंके अविद्या आदि दोषरूप बीजकी अपेक्षासे रची हुई ये कलाएँ अपने नाम-रूप आदि विभागको त्यागकर उस पुरुषमें ही लीन हो जाती हैं ॥४॥

करणाधारमन्तरात्मानमसृजत सृष्टवान् । अतः प्राणाच्छ्रद्धां सर्वप्राणिनां शुभकर्मप्रवृत्तिहेतुभूताम् । ततः कर्मफलोपभोगसाधनाधिष्ठानानि कारणभूतानि महाभूतान्यसृजत ।

इन्द्रियोंके आधारस्वरूप अन्तरात्माको रचा । उस प्राणसे समस्त प्राणियोंकी शुभ कर्मोंमें प्रवृत्तिकी हेतुभूता श्रद्धाकी रचना की । और उससे कर्मफलोपभोगके साधन [शरीर] के अधिष्ठान अर्थात् कारणस्वरूप महाभूतोंकी सृष्टि की ।

खं शब्दगुणम्, वायुं स्वेन स्पर्शेन कारणगुणेन च विशिष्टं द्विगुणम् । तथा ज्योतिः स्वेन रूपेण पूर्वाभ्यां च विशिष्टं त्रिगुणं शब्दस्पर्शाभ्याम् । तथापो रसेन गुणेनासाधारणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च चतुर्गुणाः । तथा गन्धगुणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च पञ्चगुणा पृथिवी । तथा तैरेव भूतैरारब्धमिन्द्रियं द्विप्रकारं बुद्ध्यर्थं कर्मार्थं च दशसंख्याकं तस्य चेश्वरमन्तःस्थं संशयसङ्कल्पलक्षणं मनः ।

सबसे पहले शब्दगुणविशिष्ट आकाशको रचा, फिर निजगुण स्पर्श और शब्दगुणसे युक्त होनेके कारण दो गुणवाले वायुको, तदनन्तर स्वकीय गुण रूप और पहले दो गुण शब्द-स्पर्शसे युक्त तीन गुणवाले तेजको, तथा अपने असाधारण गुण रसके सहित पूर्वगुणोंके अनुप्रवेशसे चार गुणवाले जलको और गन्धगुणके सहित पूर्वगुणोंके अनुप्रवेशसे पाँच गुणोंवाली पृथिवीको रचा । इसी प्रकार विषयोंके ज्ञान और कर्मके लिये उन भूतोंसे ही आरब्ध दश संख्यावाले दो प्रकारके इन्द्रियग्रामकी तथा उसके स्वामी सङ्कल्पविकल्पादिरूप अन्तःस्थित मनकी रचना की ।

चास्तं गतानां भिद्येते विनश्यतो नामरूपे गङ्गायमुनेत्यादिलक्षणे। तदभेदे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते तद्वस्तूदकलक्षणम् ।

एवं यथायं दृष्टान्तः; उक्तलक्षणस्य प्रकृतस्यास्य पुरुषस्य परिद्रष्टुः परि समन्ताद् द्रष्टुर्दर्शनस्य कर्तुः स्वरूपभूतस्य यथार्कः स्वात्मप्रकाशस्य कर्ता सर्वतः तद्वदिमाः षोडश कलाः प्राणाद्या उक्ताः कलाः पुरुषायणा नदीनामिव समुद्रः पुरुषोऽयनमात्मभावगमनं यासां कलानां ताः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य पुरुषात्मभावमुपगम्य तथैवास्तं गच्छन्ति। भिद्येते चासां नामरूपे कलानां प्राणाद्याख्या रूपं च यथास्वम् । भेदे च नामरूपयोर्यदनष्टं तत्त्वं पुरुष इत्येवं प्रोच्यते ब्रह्मविद्भिः ।

हुई उन नदियोंके वे गङ्गा-यमुना आदि नाम और रूप नष्ट हो जाते हैं और उससे अभेद हो जानेके कारण वह जलमय पदार्थ भी 'समुद्र' ऐसा कहकर ही पुकारा जाता है ।

इसी प्रकार, जैसा कि यह दृष्टान्त है, उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त परिद्रष्टा अर्थात् जिस प्रकार सूर्य सब ओर अपने स्वरूपभूत प्रकाशका कर्ता है उसी प्रकार परि—सब ओर द्रष्टा—दर्शनके कर्ता स्वरूपभूत इस प्रकृत [जिसका प्रकरण चल रहा है] पुरुषकी ये प्राण आदि उपर्युक्त सोलह कलाएँ, जिनका अयन—आत्मभावकी प्राप्तिका स्थान वह पुरुष ही है जैसा कि नदियोंका समुद्र, अतः जो पुरुषायण कहलाती हैं, उस पुरुषको प्राप्त होकर—पुरुषरूपसे स्थित होकर उसी प्रकार [जैसे कि समुद्रमें नदियाँ] लीन हो जाती हैं । तथा इन कलाओंके प्राणादिसंज्ञक नाम और अपने-अपने विभिन्न रूप नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार नाम-रूपका नाश हो जानेपर भी जिसका नाश नहीं होता उस तत्त्वको ब्रह्मवेत्ता 'पुरुष' ऐसा कहकर पुकारते हैं ।

नदीके दृष्टान्तसे सम्पूर्ण जगत्का पुरुषाश्रयत्वप्रतिपादन

कथम्— | किस प्रकार ?

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ५ ॥

वह [दृष्टान्त] इस प्रकार है—जिस प्रकार समुद्रकी ओर बहती हुई ये नदियाँ समुद्रमें पहुँचकर अस्त हो जाती हैं, उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं, और वे 'समुद्र' ऐसा कहकर ही पुकारी जाती हैं । इसी प्रकार इस सर्वद्रष्टाकी ये सोलह कलाएँ, जिनका अधिष्ठान पुरुष ही है, उस पुरुषको प्राप्त होकर लीन हो जाती हैं । उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं और वे 'पुरुष' ऐसा कहकर ही पुकारी जाती हैं । वह विद्वान् कलाहीन और अमर हो जाता है । इस सम्बन्धमें यह श्लोक प्रसिद्ध है ॥ ५ ॥

स दृष्टान्तो यथा लोक इमा नद्यः स्यन्दमानाः स्रवन्त्यः समुद्रायणाः समुद्रोऽयनं गतिः आत्मभावो यासां ताः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्योपगम्यास्तं नामरूपतिरस्कारं गच्छन्ति । तासां

वह दृष्टान्त इस प्रकार है—जिस प्रकार लोकमें निरन्तर प्रवाहरूपसे बहनेवाली तथा समुद्र ही जिनका अयन—गति अर्थात् आत्मभाव है ऐसी ये समुद्रायण नदियाँ समुद्रको प्राप्त होकर अस्त—अदर्शन अर्थात् नाम-रूपके तिरस्कार [अभाव] को प्राप्त हो जाती हैं, तथा इस प्रकार अस्त

तं पुरुषं कलानामात्मभूतं वेद्यं वेदनीयं पूर्णत्वात् पुरुषं पुरि शयनाद्वा वेद जानीयात्; यथा हे शिष्या मा वो युष्मान्मृत्युः परिव्यथा मा परिव्यथयतु । न चेद्विज्ञायेत पुरुषो मृत्युनिमित्तां व्यथामापन्ना दुःखिन एव यूयं स्थ । अतस्तन्मा भूद्युष्माकमित्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

आत्मभूत उस ज्ञातव्य पुरुषको, जो सर्वत्र पूर्ण अथवा शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण पुरुष कहलाता है, जानो; जिससे कि हे शिष्यो ! तुम्हें मृत्यु सब ओरसे व्यथित न करे । यदि तुमने उस पुरुषको न जाना तो तुम मृत्युनिमित्तक व्यथाको प्राप्त होकर दुःखी ही होगे । अतः तुम्हें वह दुःख प्राप्त न हो, यही इसका अभिप्राय है ॥६॥

उपदेशका उपसंहार

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद । नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥

तब उनसे उस (पिप्पलाद मुनि) ने कहा—इस परब्रह्मको मैं इतना ही जानता हूँ । इससे अन्य और कुछ [ज्ञातव्य] नहीं है ॥ ७ ॥

तानेवमनुशिष्य शिष्यांस्तान् होवाच पिप्पलादः किलैतावदेव वेद्यं परं ब्रह्म वेद विजानाम्यहमेतत् । नातोऽस्मात्परमस्ति प्रकृष्टतरं वेदितव्यमित्येवमुक्तवाञ्शिष्याणामविदितशेषास्तित्वाशङ्कानिवृत्तये कृतार्थबुद्धिजननार्थं च ॥ ७ ॥

उन शिष्योंको इस प्रकार शिक्षा दे पिप्पलाद मुनिने उनसे कहा—'उस वेद्य (ज्ञातव्य) परब्रह्मको मैं इतना ही जानता हूँ । इससे पर—उत्कृष्टतर और कोई वेद्य नहीं है ।' इस प्रकार 'अभी कुछ बिना जाना रह गया' ऐसी शिष्योंकी आशङ्काकी निवृत्तिके लिये तथा उनमें कृतार्थबुद्धि उत्पन्न करनेके लिये पिप्पलादने उनसे कहा ॥ ७ ॥

य एवं विद्वान्गुरुणा प्रदर्शित-कलाप्रलयमार्गः स एष विद्यया प्रविलापितास्वविद्याकामकर्म-जनितासु प्राणादिकलास्वकलः, अविद्याकृतकलानिमित्तो हि मृत्युः तदपगमेऽकलत्वादेवामृतो भवति तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोकः ॥ ५ ॥

इस प्रकार जिसे गुरुने कलाओंके प्रलयका मार्ग दिखलाया है ऐसा जो पुरुष इस तत्त्वको जाननेवाला है, वह उस विद्याके द्वारा अविद्या, काम और कर्मजनित प्राणादि कलाओंके लोप कर दिये जानेपर निष्कल हो जाता है; और क्योंकि मृत्यु भी अविद्याकृत कलाओंके कारण ही होती है इसलिये उनकी निवृत्ति हो जानेपर वह निष्कल हो जानेके कारण ही अमर हो जाता है। इसी सम्बन्धमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—॥ ५ ॥



मरण-दुःखकी निवृत्तिमें परमात्मज्ञानका उपयोग

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति॥६॥

जिसमें रथकी नाभिमें अरोंके समान सब कलाएँ आश्रित हैं उस ज्ञातव्य पुरुषको तुम जानो; जिससे कि मृत्यु तुम्हें कष्ट न पहुँचा सके ॥ ६॥

अरा रथचक्रपरिवारा इव रथनाभौ रथचक्रस्य नाभौ यथा प्रवेशितास्तदाश्रया भवन्ति यथा तथेत्यर्थः; कलाः प्राणाद्या यस्मिन्पुरुषे प्रति-ष्ठिता उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु

रथके पहियेके परिवाररूप अरोंके समान—अर्थात् जिस प्रकार वे रथके पहियेकी नाभिमें प्रविष्ट यानी उसके आश्रित रहते हैं उसी प्रकार जिस पुरुषमें प्राणादि कलाएँ अपनी उत्पत्ति, स्थिति और लयके समय स्थित रहती हैं, कलाओंके

मोक्षाख्यं महोदधेरिव पारं तारयस्यस्मानित्यतः पितृत्वं तवास्मान् प्रत्युपपन्नमितरस्मात्। इतरोऽपि हि पिता शरीरमात्रं जनयति। तथापि स प्रपूज्यतमो लोके किमु वक्तव्यमात्यन्तिकाभयदातुरित्यभिप्रायः। नमः परमऋषिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो नमः परमऋषिभ्य इति द्विर्वचनमादरार्थम् ॥ ८ ॥

पर पारके समान अपुनरावृत्तिरूप मोक्षसंज्ञक दूसरे पारपर पहुँचा दिया है; अतः आपका पितृत्व तो अन्य (जन्मदाता) पिताकी अपेक्षा भी युक्ततर है; क्योंकि दूसरा पिता भी केवल शरीरको ही उत्पन्न करता है, तो भी वह लोकमें सबसे अधिक पूजनीय होता है; फिर आत्यन्तिक अभयप्रदान करनेवाले आपके पूजनीयत्वके विषयमें तो कहना ही क्या है ? अतः ब्रह्मविद्या-सम्प्रदायके प्रवर्तक परमर्षिको नमस्कार हो। यहाँ 'नमः परमऋषिभ्यः' इसकी द्विरुक्ति आदर-प्रदर्शनके लिये है ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपाद-शिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये

षष्ठः प्रश्नः ॥ ६ ॥

इत्यथर्ववेदीया प्रश्नोपनिषत्समाप्ता ॥

हरिः ॐ तत्सत्



स्तुतिपूर्वक आचार्यकी वन्दना

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥

तब उन्होंने उनकी पूजा करते हुए कहा—आप तो हमारे पिता हैं जिन्होंने कि हमें अविद्याके दूसरे पारपर पहुँचा दिया है; आप परमर्षिको हमारा नमस्कार हो, नमस्कार हो ॥ ८ ॥

ततस्ते शिष्या गुरुणानुशिष्टास्तं गुरुं कृतार्थाः सन्तो विद्यानिष्क्रयमपश्यन्तः किं कृतवन्त इत्युच्यते—अर्चयन्तः पूजयन्तः पादयोः पुष्पाञ्जलिप्रकिरणेन प्रणिपातेन च शिरसा। किमूचुरित्याह—त्वं हि नोऽस्माकं पिता ब्रह्मशरीरस्य विद्यया जनयितृत्वान्नित्यस्याजरामरस्याभयस्य। यस्त्वमेव अस्माकमविद्याया विपरीतज्ञानात् जन्मजरामरणरोगदुःखादिग्राहादपारादविद्यामहोदधेर्विद्याप्लवेन परमपुनरावृत्तिलक्षणं

तब गुरुसे उपदेश पाये हुए उन शिष्योंने कृतार्थ हो, उस विद्यादानका कोई अन्य प्रतिकार न देखकर क्या किया सो बतलाते हैं—उन्होंने गुरुजीका अर्चन अर्थात् चरणोंमें पुष्पाञ्जलि प्रदान एवं शिर झुकाकर प्रणाम करके उनका पूजन करते हुए [कहा]। क्या कहा, सो बतलाते हैं—'विद्याके द्वारा हमारे नित्य, अजर, अमर एवं अभयरूप ब्रह्मशरीरके जनयिता होनेके कारण आप तो हमारे पिता हैं; जिन आपने विद्यारूप नौकाके द्वारा हमें विपरीत ज्ञानरूप अविद्यासे अर्थात् जन्म, जरा, मरण, रोग और दुःख आदि ग्राहोंके कारण जो अपार है उस अविद्यारूप समुद्रसे उस ओर महासागरके

मोक्षाख्यं महोदधेरिव पारं तारयस्यस्मानित्यतः पितृत्वं तवास्मान् प्रत्युपपन्नमितरस्मात् । इतरोऽपि हि पिता शरीरमात्रं जनयति । तथापि स प्रपूज्यतमो लोके किमु वक्तव्यमात्यन्तिकाभयदातुरित्यभिप्रायः । नमः परमऋषिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो नमः परमऋषिभ्य इति द्विर्वचनमादरार्थम् ॥ ८ ॥

पर पारके समान अपुनरावृत्तिरूप मोक्षसंज्ञक दूसरे पारपर पहुँचा दिया है; अतः आपका पितृत्व तो अन्य (जन्मदाता) पिताकी अपेक्षा भी युक्ततर है; क्योंकि दूसरा पिता भी केवल शरीरको ही उत्पन्न करता है, तो भी वह लोकमें सबसे अधिक पूजनीय होता है; फिर आत्यन्तिक अभयप्रदान करनेवाले आपके पूजनीयत्वके विषयमें तो कहना ही क्या है ? अतः ब्रह्मविद्यासम्प्रदायके प्रवर्तक परमर्षिको नमस्कार हो । यहाँ 'नमः परमऋषिभ्यः' इसकी द्विरुक्ति आदरप्रदर्शनके लिये है ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये

षष्ठः प्रश्नः ॥ ६ ॥

इत्यथर्ववेदीया प्रश्नोपनिषत्समाप्ता ॥

हरिः ॐ तत्सत्



शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा

भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-

र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः

स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति नस्ताक्ष्यों ऽरिष्टनेमिः

स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका